प्रास्ताविक

कविपरिचय—कालिदास संस्कृत के मूर्धन्य कवि हैं और कवि समाज में 'कविकुल-गुरु' के नाम से विख्यात है। उनकी काव्यप्रतिभा पर मुग्ध होकर अनेक कवियों ने उन पर अपने श्रद्धा-सुमन चढ़ाये हैं। उनके विषय में यह सूक्ति तो प्रसिद्ध ही है :—

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदास.।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

हाथ की पांच उँगलियो के नाम हैं, कनिष्ठिका, अनामिका, मध्यमा, तर्जनी और अङ्गुष्ठ। इनमे और नाम तो सार्थक है किन्तु अनामिका नाम कैसे पड गया यह पता नही चलता। इसका उत्तर ऊपर के श्लोक मे किसी कवि ने दिया है। वह कहता है कि बहुत पहले लोगो ने कवियो की गणना प्रारम्भ की। कनिष्ठिका (छोटी उँगली) से गिनना शुरू करने पर पहला नाम आया कालिदास। उसके बाद उनकी टक्कर का दूसरा नाम किसी को सूझा ही नही। दूसरी उँगली बिना नाम की ही रह गयी। इसलिये वह अनामिका कहलायी। आज तक उनके समान दूसरा कवि न होने से यह नाम सार्थक है।

कादम्बरी और हर्षचरित के रचयिता महाकवि बाण ने उनके विषय मे कहा है —

निर्गतासु न वा कस्य कलिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुर सान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते ॥

मधुरस से रसीली अगूर की मंजरियो (गुच्छो) जैसी कालिदास की सूक्तियो के निर्गत होने पर कौन प्रसन्न नही हो जाता?

मयुर काव्य के बाद पुत्र जयदेव ने तो कालिदास को कविता-कामिनी का विलास ही बतला दिया है। उन्होने कहा है —

यस्याश्चोरश्चिकुरनिकर कर्णपूरो मयूरो,
भासो हास, कविकुलगुरु कालिदासो विलास.।

हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः,
केषां नैषां भवति कविता कामिनीकौतुकाय ।।

यदि कविता को कामिनी मान लें तो चोर नामक कवि उसके केशों जैसे, मयूर कवि कर्णफूल सदृश और भास उसके हास के समान लगते हैं। कवि-कुलगुरु कालिदास उसके विलास हैं। श्रीहर्ष प्रफुल्लतातुल्य और बाण उसके हृदय मे निवास करने वाले काम जैसे हैं। भला ऐसी कविता-कामिनी किसे अच्छी नही लगेगी ?

जयदेव की इस प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट है कि ग्यारहवी सदी ईसवी के अन्त मे कालिदास के लिये 'कविकुल-गुरु' यह विशेषण प्रयुक्त होता था। जयदेव से बहुत पूर्व ही कालिदास की प्रसिद्धि इतनी बढ़ गयी थी कि अन्य कवियो ने भी प्रतिष्ठा के लिये अपने के नाम आगे कालिदास, नव कालिदास या अभिनव कालिदास यह विशेषण लगाना प्रारम्भ कर दिया था। उनमे मातृगुप्त (कालिदास) तथा नवसाहसाङ्क चरित के प्रणेता पद्मगुप्त परिमल (कालिदास) से तो सब परिचित ही हैं। राजशेखर (ई० ९००) के समय तक ही कम से कम तीन श्रेष्ठ कवि कालिदास के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे। इसीलिये राजशेखर ने कहा :—

एकोऽपिजीयते हन्त कालिदासो न केनचित्,
शृङ्गारे ललितोद्गारे कलिदासत्रयी किमु।

शृङ्गार की ललित अभिव्यक्ति मे जब कोई एक ही कालिदास को नही जीत पाता तो भला तीन-तीन कालिदासो को कैसे जीत सकेगा ?

कालिदास का समय—ऐसे श्रेष्ठ कवि और नाटककार का जन्म कब और कहाँ हुआ, इस विषय मे अभी तक निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। गत कुछ वर्षों में विद्वानो ने इस विषय मे बहुत कुछ ऊहापोह किया है किन्तु समस्या के समाधान से अभी तक हम उतनी ही दूर हैं जितने पहले थे। फिर भी उनके काल की ऊपरी और निचली सीमायें निर्धारण करना कठिन नही है। कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्रम्' नामक नाटक मे शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र के चरित्र का वर्णन किया है। यह अग्निमित्र मौर्यवंशीय राजा

बृहद्रथ से उनका साम्राज्य छीनकर अपना साम्राज्य स्थापित करने वाले महाराज पुष्यमित्र शुङ्ग का पुत्र था जिसका समय ई० पू० १५० वर्ष माना जाता है। अत. कालिदास इससे पहले के नहीं हो सकते। कालिदास के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन के आश्रित महाकवि बाणभट्ट के ग्रन्थ हर्षचरित की प्रस्तावना मे पाया जाता है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। दक्षिण भारत के एहोले (Aihole) ग्राम के शिलालेख मे भी उनका नाम आया है—"स विजयतां रविकीर्तिः **कविताश्रित कालिदास-** भारवि कीर्ति. ।" बाणभट्ट का समय लगभग ६२० ई० तथा शिलालेख का ५५६ शक सवत् (६३४ ई०) निश्चित है। कालिदास इसके बाद के नही हो सकते। अतः हमे इनका समय ई० पू० १५० से लेकर ६२० ई० के मध्य मानना होगा।

यो तो इस विषय मे विद्वानो के अनेक मत रहे हैं किन्तु अब मोटे तौर पर दो विचार ही प्रमुख हैं। प्राचीन शैली के विद्वान् उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का तथा डा० मिराशी आदि अधिकांश भारतीय और योरोपीय विद्वान चौथी-पाँचवी शताब्दी का मानते हैं। इनके तर्क इस प्रकार हैं.—

मन्दसोर मे ई० सन् ४७३ के प्राप्त वत्सभक्ति के शिलालेख पर कालिदास का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। वत्सभक्ति अपेक्षाकृत निम्नकोटि का कवि था और उसने कई श्लोको मे कालिदास की नकल की है। अत. कालिदास ४७३ ई० से पहले के होगे। फिर कालिदास के वर्णनो पर तो वात्स्यायन का प्रभाव है ही, उनकी सर्वोत्कृष्ट मानी जाने वाली श्लोक चतुष्टयी के एक श्लोक की शब्दावली तक वात्स्यायन से ली हुयी है। यथा—

शुश्रूषस्व गुरून्, कुरुप्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मास्म प्रतीपं गम ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधय. । शाकु० ४-१७।

वात्स्यायन ने भी विवाहित स्त्रियों के कर्तव्य इसी प्रकार गिनाये हैं—

श्वश्रू-श्वसुर-परिचर्या, तत्पारतन्त्र्यमनुत्तरवादिता ।
'भोगेष्वनुत्सेकः परिजने, दाक्षिण्यम ।
' नायकापचारेषु किञ्चित्कलुषता । नात्यर्थं वदेत् । कामसूत्र ।

इससे स्पष्ट ही है कि कालिदास ने कामसूत्र पढा था। कामसूत्र का रचना काल विद्वानो ने २५० ई० के लगभग माना है। अत कालिदास २५० ई० से पूर्व का नही माना जा सकता।

इतना स्पष्ट है कि कालिदास उज्जयिनी मे रहते थे। शकारि विक्रमादित्य के आश्रित थे, यह भी लोकविश्वास है। ग्यारहवी शताब्दी के कवि अभिनन्द ने भी अपने रामचरित मे कहा है—'ख्याति कामपि कालिदासकृतयोनीता: शकारारिणा।' यदि इन सब बातो को मिलाकर देखें तो प्रतीत होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज-दरबार मे रहे होगे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य की पदवी धारण की थी, यह उसके सिक्को से स्पष्ट है। इसने ३६५ ई० के पास काठियावाड के शकवशीय क्षपत्रो को पूरी तरह नष्ट कर उनका प्रान्त अपने राज्य मे मिला लिया था। इसलिए इसे शकारि भी कह सक्ते हैं। यह बडा दानशूर था और लक्ष-लक्ष मुद्राये दान करता था। यह बात पहले कह ही चुके हैं। इसके पदाधिकारी बडे-बडे विद्वान व्यक्ति थे। इसके कोत्सशाव नामक मत्री ने उदयगिरि मे खुदवाये लेख मे स्वय को 'शब्दार्थन्यायलोकज्ञ' और 'कवि' कहा है। यह स्वय कवि था। राजशेखर की काव्यमीमासा (अ० १०) के 'श्रूयते चोज्जयिन्या काव्यकारपरीक्षा। इह कालिदासमेण्ठावत्रामर रूप सूर-भार-वय. हरिचन्द चन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम।' इस कथन के अनुसार कालिदास भारवि के समान उसने भी विद्वत्सभा के सम्मुख काव्यपरीक्षा दी थी। सम्भव है कवीन्द्र वचन समुच्चय आदि प्राचीन श्लोक सग्रह-ग्रन्थो मे विक्रमादित्य के नाम से सकलित श्लोक चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही हो। कालिदास के काव्यो को यदि सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोणों से परखा जाय तो उनमे गुप्तकालीन परिस्थिति ही प्रतिबिंबित दिखाई देती है। कालिदास ने जानबूझ कर स्थान-स्थान पर गुप्त, गोप्ता आदि गुप् धातु से निष्पन्न शब्दो का प्रयोग किया है। 'सगुप्त मूल प्रत्यन्त', 'आसमुद्र क्षितीशा नाम्' 'कुमार कल्प सुषुवे कुमारम्' आदि अनेक श्लोकों मे गुप्तवशीय राजाओ के सकेत निहित है। यदि यह मान लिया जाय तो उनके ग्रन्थों का क्रम निश्चित करने में सरलता हो जाती है। मालविकाग्निमित्रम् नाटक चन्द्रगुप्त की पुत्री

प्रभावती गुप्ता का वाकाटक नृपति रुद्रसेन द्वितीय के साथ विवाह के अवसर पर, मेघदूत कालिदास के वाकाटक दरबार में रहते हुये रामटेकपर, कुमारसम्भव चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्मावसर पर, विक्रमोर्वशीय स्वयं चन्द्रगुप्त के जीवन पर लिखा गया होगा। यह माना जा सकता है। रघुवंश में रघु की दिग्विजय पर चन्द्रगुप्त की विजय-यात्रा की छाया हो सकती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८० से ४१३ ई० तक राज्य किया। अतः कालिदास का समय चौथी शती का अन्त और पाँचवी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

निष्कर्ष—यहाँ जो अन्तिम मत उद्धृत किया गया है वह अधिकांश आधुनिक विद्वानों का है। इसे अन्तिम और निर्णायक नहीं मानना चाहिये। जब तक संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का समय निश्चित न हो जाय तब तक कालिदास का काल विवादास्पद ही बना रहेगा। कालिदास की कृतियों में वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान की अदम्य भावना स्पष्ट देखी जा सकती है। यज्ञ-याग पर उनकी असीम श्रद्धा थी और उसकी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रत्यक्ष जानकारी उनके ग्रन्थों में उपलब्ध है। मुनियों के आश्रमों में तो ऐसा लगता है, जैसे वे स्वयं रहे हों। आश्रमों का ऐसा चिन्मय यथार्थ वर्णन पुस्तकों में पढ़कर ही नहीं किया जा सकता। उन्होंने तीन ही आश्रमों का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, चतुर्थ का नहीं। चतुर्थ आश्रम वैदिक है भी नहीं, बौद्धों ने उसका प्रचलन किया है। उपनिषद्, गीता, सांख्य-योग दर्शन, मनुस्मृति, कामसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र, भारतीय नाट्यशास्त्र, प्रमुख पुराण रामायण, महाभारत, अश्वघोष, भास ये सब कालिदास से पूर्व के हैं इसमें सन्देह नहीं। पुराणों में सुरक्षित प्रायः समस्त प्राचीन आख्यान, विश्वास और धारणायें कालिदास के काव्यों में देखी जा सकती हैं। भाषा भी उनके समय तक काफी समृद्ध हो चुकी थी। उसमें अभिव्यक्ति-क्षमता पूरी तरह आ गयी थी। चित्र, आलेख्य, संगीत, नृत्य, मूर्ति-निर्माण आदि कलायें पूर्णतया समृद्ध हो चुकी थी और सम्भवतः इन पर शास्त्रग्रन्थ विद्यमान थे। ऋतुसंहार से लेकर रघुवंश तक उनके समस्त ग्रन्थों में शान्ति, समृद्धि और सुख-

जन्य कलाविलास मुख्य है। ये सारी बातें उनके गुप्तकालीन होने की धारणा को पुष्ट करती हैं।

यह सब होने पर भी प्राचीन विचारों के विद्वान ई० पूर्व प्रथम शती के विश्वास को छोड़ने से हिचकते है। उनका विचार है कि ई० पू० ५७ से विक्रम संवत् का प्रारम्भ करने वाले शकों के उच्छेत्ता सम्राट विक्रमादित्य मालव-गणाधिपति थे। उन्होंने 'गण' के नाम से सिक्के ढलवाये अपने नाम से नहीं। इसीलिये उनके निजी नाम के सिक्के उपलब्ध नहीं हैं। मालव लोग मुख्यतः वर्तमान मालवा के निवासी थे और वहाँ से वे राजपूताना आदि पश्चिमी प्रदेश में गये। राजपूताना से मालवा में नहीं आये जैसा कि पाश्चात्य इतिहासकारों का मत है। गुप्त राजाओं का वंश बहुत प्रतिष्ठित नहीं था। प्राचीन साहित्य में उसका सम्मानपूर्वक उल्लेख नहीं मिलता। विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने पर भी चन्द्रगुप्त की प्रसिद्धि इस रूप में नहीं रही। उसका उल्लेख सर्वत्र चन्द्रगुप्त के नाम से ही मिलता है शकारि के रूप में नहीं। विशाख दत्त के नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार उसने अपने बड़े भाई रामगुप्त से राज्य छीनिया कर उसकी पत्नी ध्रुवस्वामिनी से विवाह भी कर लिया था। इस दृष्टि से चन्द्रगुप्त कुछ बहुत उदात्त चरित्र भी नहीं माना जा सकता। वैदिक संस्कृति का पुनरुत्थान तथा अन्य परिस्थितियाँ शकारि विक्रमादित्य (ई० पू० ५७) में भी वैसी ही थीं। अतः ५ ला चतुर्थ शती को स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है।

दास जन्म से ब्राह्मण थे, अतः उनकी शिक्षा-दीक्षा उसी वातावरण में हुई। उनके ग्रन्थों के अध्ययन से प्रकट है कि उनका अध्ययन-क्षेत्र बहुत विशाल था। उनकी कृतियों में निम्नलिखित ग्रन्थों या विषयों के उल्लेख मिलते हैं—ऋग्वेद, शतपथ तथा अन्य ब्राह्मण ग्रंथ, गृह्य, धर्म और श्रौतसूत्र, उपनिषद्, गीता, निरुक्त, व्याकरण, वैदिक छन्द-शास्त्र, ज्योतिष, सांख्य योग, वेदान्त महाभाष्य, पुराण, अर्थशास्त्र, कामसूत्र, मनुस्मृति शुक्रनीति, नाट्यशास्त्र, संगीत शास्त्र, चित्रकला रामायण, महाभारत अश्वघोष, भास, सौमिल्लकविपुत्रादि के ग्रन्थ। कालिदास के समय में तक्षशिला, नालन्दा वलभी और उज्जैन जैसे बड़े-बड़े विद्यापीठ वर्तमान थे जिनमें याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार निम्नलिखित विद्यायें पढ़ायी जाती थीं—

पुराण न्याय-मीमांसा-धर्मशास्त्राङ्ग मिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

चित्रकला, संगीत और नृत्य का उन्हें बहुत सूक्ष्म ज्ञान था। भारत के पर्वतों, नदियों प्रान्तों, नगरों, फसल वृक्ष, लता, पशु-पक्षी आदि का जितना शुद्ध और व्यापक वर्णन उन्होंने किया है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक अफगानिस्तान-वल्ख से लेकर ब्रह्मदेश तक के प्रदेश की बहुत सूक्ष्म और प्रत्यक्ष जानकारी उन्हें थी। वाल्हीक में वक्षु के किनारे केसर के पौधों का, बंगाल में शालिधान्य का और दक्षिण में ताम्रपर्णी नदी के किनारे मोतियों का वर्णन उन्हीं ने किया है। अपने देश के भूगोल की इतनी व्यापक जानकारी अन्य किसी कवि को नहीं थी। इससे मालूम होता है कि उन्होंने बहुत अधिक भ्रमण किया था।

कालिदास का जीवन—गृहस्थाश्रम की पवित्रता पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने उनकी प्रशंसा 'सर्वोपकार क्षम' कह कर की है। बौद्ध-विहारों में भ्रमण से सीधे भिक्षु भिक्षुणी बनने वाले युवकों की दुर्दशा वे देख चुके थे। वे मानते थे कि ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम आवश्यक है। उनकी शकुन्तला बचपन से आश्रम में पल कर यौवन के प्रथम झोंके में ही गार्हस्थ्य का वरण कर लेती है। कवि ने जान-बूझ कर यह स्थिति योजित की है। प्रेम की उदात्तता में उनका विश्वास था। निम्नकोटि के कायिक आकर्षण से ऊपर

उठ कर तप-तप कर आलोकित होने वाले प्रेम पर उनकी आस्था थी। इस सम्बन्ध मे बल्लल सेन के भोजन प्रबन्ध ने जनसाधारणमे बडी भ्रान्ति फैलायी और समाज मे इस तरह का विश्वास सा जमा दिया कि कालिदास चारित्रिक दृष्टि से ऊँचे न थे। इस प्रकार की सारी बातें—जिनमे किसी राजकुमारी से प्रताडित होकर उनके विद्याध्ययन और बाद मे उसके 'अस्ति-कश्चिद् वाग्विशेष' इस वाक्य के प्रत्येक शब्द पर एक एक काव्य रचने वाली बात भी शामिल है—कोरी गप्पे हैं। बल्लल सेन के समान जैनाचार्य मेरुतुग के प्रबन्धचिन्तामणि मे कालिदासविषयक दन्तकथाओ का समावेश है जो कालिदास के लगभग हजार वर्ष बाद गढ ली गयी हैं।

राज दरबार मे सम्मानित कवि के रूप मे रहने के कारण वे सरस्वती और लक्ष्मी दोनो के कृपापात्र थे। उनका जीवन निश्चिन्तता के साथ बीता। वे खान पान एव रहन सहन मे कलाप्रिय थे। सुन्दरता के प्रति उन्हे अनुरक्ति थी। उनका विश्वास था कि सुन्दरता मे सद्गुण निवास करते हैं। 'न ही दृशा आकृतिविशेषा गुणव्यभिचारिणो भवन्ति।' इस बात को उन्होने अनेक बार कहा है।

कालिदास आस्तिक थे। वे मुख्यत. शिवोपासक थे किन्तु थे स्मार्त। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो को वे एकरूप मानते थे और एक मानकर पूजते थे। उनकी रचनाओ से उनके दीर्घजीवी होने का अनुमान होता है। ऐसा लगता है कि सतुष्ट सुखी जीवन के बाद वृद्धावस्था मे उनकी मृत्यु हुई।

यह भी प्रवाद है कि जीवन के अन्तिम दिनो मे अपने मित्र और सिंहल द्वीप के शासक कुमारदास के आमन्त्रण पर वे लका गये। वहाँ उन्होने एक वेश्या से सुना कि 'कमले कमलोत्पत्ति श्रूयते न तु दृश्यते' इस समस्या की पूर्ति पर कुमार दास बहुत बडा पुरस्कार देने वाले हैं। कालिदास ने झट समस्या की पूर्ति कर दी।

बाले तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम् ?

वेश्या ने यह पूर्ति स्थिर धन के लालच मे उनका वध करा दिया। इस वेदना मे कुमार दास भी विक्षिप्त हो गये और वे कालिदास की ही चिता

में कूद कर मर गये। सिंहल के मातर नामक प्रदेश में किरिन्दी नदी के मुहाने पर अभी भी कालिदास का चिता स्थल बताया जाता है। यह बात भी सत्य नहीं है क्योंकि जानकी-हरण का कवि, जिस पर कालिदास का बहुत प्रभाव है, सिंहल का राजा नहीं था और न वह कालिदास का समकालीन हो। कुमार दास का समय अष्टम शताब्दी है और कालिदास का चतुर्थ।

रचनायें—कालिदास की रचनाओं के सम्बन्ध में अतीत काल में विद्वानों में काफ़ी मतभेद रहा है। किसी किसी विद्वान ने तो उनके तीस-पैंतीस ग्रन्थों तक का निर्देश किया है जिनके ज्योतिष, रत्नपरीक्षा और देवस्तोत्र तक शामिल थे; किन्तु अब पर्याप्त छान बीन के बाद विद्वान उनके बनाये सात ग्रन्थ स्वीकार करते हैं जिनमे ऋतुसंहार और मेघदूत दो गीति काव्य, कुमारसम्भव और रघुवंश ये दो महाकाव्य तथा मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् ये तीन नाटक हैं। कुन्तलेश्वर दौत्य को क्षेमेन्द्र ने कालिदास की कृति बतलाया है किन्तु आजकल वह उपलब्ध नहीं है। काव्य-मीमांसा और शृंगार-प्रकाश (भोजकृत) में उसके उद्धरण अवश्य उपलब्ध हैं। कहा जाता है कि प्रभावती गुप्त के पति का देहान्त हो जाने पर और उनके पुत्रों के छोटे होने पर चन्द्रगुप्त ने वहाँ के शासन की देख-रेख के लिये जिन विश्वस्त लोगों को विदर्भ भेजा था उनमें कालिदास भी थे। विदर्भ के वाकाटकों की राजधानी नन्दिवर्धन में रह कर ही उन्होंने कुन्तलेश्वर दौत्य लिखा। यह कुन्तलेश्वर चन्द्रगुप्त का नाती, वाकाटक प्रवरसेन द्वितीय अर्थात् प्रभावती गुप्त का छोटा पुत्र था। यह बात अजन्ता के एक शिलालेख और श्री कृष्ण कवि के भरतचरित (लोकेष्वल कान्तमपूर्व सेतु बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः) से ज्ञात होती है कि वाकाटक कुन्तलेश उपाधि का प्रयोग करते थे क्योंकि प्रवरसेन के पितामह पृथ्वीसेन ने कुन्तलाधिपति को हराया था। कुन्तलेश्वर दौत्य के अतिरिक्त कालिदास ने सेतुबन्ध के निर्माण में या तो प्रवरसेन की सहायता की थी या उसका संशोधन किया था।

कालिदास का महत्व—संस्कृत कवियों में जितना यश कालिदास को प्राप्त हुआ है उतना अन्य किसी कवि को नहीं। मम्मट ने काव्यप्रकाश में यश

प्राप्ति को भी काव्य का उद्देश्य बतलाते हुये उदाहरण के रूप मे कालिदास का नाम लिया है। ध्वन्यालोक की टीका मे आनन्दवर्धनाचार्य ने भी कहा है—

अस्मिन्नति विचित्र कवि परम्परावाहिनि ससारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषा वा महाकाव्य इति गण्यन्ते।

अर्थात् अत्यन्त विचित्र कवि परम्परा वाले इस ससार मे कालिदासादिक दो-तीन या अधिक से अधिक पाँच-छ. महाकवि माने जाते हैं। तब प्रश्न उठता है कि कालिदास के काव्य मे ऐसी कौन-सी बात है जो उन्हे अन्य कवियो से ऊँचा उठाती है ? उनके काव्य की धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक शिव-साधना की बात छोड कर विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखें तो उनका आशिक उत्तर अन्य कवियो द्वारा लिखी गयी उनकी प्रशस्तियो मे भी मिल जायगा। जयदेव ने उसे सर्वाधिक रमणीय (विलास) कहा है। इस रमणीयता ने ही कालिदास को कविकुल गुरु बनाया है। दण्डी के मत से उनकी वाणी मे माधुर्य बहुत अधिक है और वे वैदर्भी शैली के मार्गदर्शक हैं—

लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विषया गिर ।
तेनेद वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्।

बाण उनकी उक्तियो को मधुरस से भीगी कहते हैं। राजशेखर के मत से भी वे ललित उद्गार वाले श्रृङ्गार रस के कवि हैं। श्रीकृष्ण कवि ने इसके अतिरिक्त भी उनकी कविता के कुछ गुण बतलाये हैं। उनके मत मे वह दोष रहित है, गुणो से युक्त है और जितना ही उसे रगडो अर्थात् बार-बार पढो उस पर विचार करो, उतनी ही अधिक हृद्य मालूम होती है। इस बात को उन्होने बडे सुन्दर श्लिष्ट ढग से कहा है—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा, हारावलीव ग्रथिता गुणौघै ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्द हृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

गोवर्द्धन कवि उनकी वाणी की शुद्धता, मृदुता और रसमयता पर मुग्ध हैं और रघुवश को विशेषत उनकी ख्याति का कारण मानते हैं —

ख्यात कवि कोऽपि च कालिदास शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य—
वाणी मिषाच्चण्ड मरीचि गोत्रसिन्धो परपारमवाप वाणी।

एक सुभाषित के अनुसार उनका शाकुन्तल सारे नाटकों में श्रेष्ठ है और उसमें भी चतुर्थ अङ्क के चार श्लोक जिनमें वात्सल्य और स्नेह मुखरित हुआ है। यथा—

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।
तत्राऽपि चतुर्थोऽङ्कस्तत्रश्लोक चतुष्टयम्।

किसी समीक्षक के अनुसार कालिदास उपमा में अन्य कवियों से बढ़ कर हैं। महाकवि गेटे (जर्मनदेशीय) के मत से उनके शाकुन्तल में स्वर्ग और पृथ्वी का सारा वैभव और बसन्त का सारा सौन्दर्य विद्यमान है—

वासन्त कुसुम फल च युगपत् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
यच्चान्यमनसो रसायन मत सन्तर्पण मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो।

कालिदास की विशेषताएँ—ऐश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तल सेव्यताम्। आखिर कालिदास के माधुर्य का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कोई एक बात कह सकना कठिन है। दूसर काव्य-सौन्दर्य के कारण भिन्न हो सकते हैं और नाटक-सौन्दर्य के भिन्न। काव्य में भी गीति-काव्य और महाकाव्य की समीक्षा के मापदण्ड अलग-अलग होते हैं। फिर कोई एक गुण चाहे वह कितना ही महत्वपूर्ण या अधिक हो, काव्य का शोभादायक नहीं हो सकता। अनेक छोटी-बड़ी बातें मिल कर ही किसी रचना को श्रेष्ठ बनाती हैं। इस दृष्टि से देखें तो कालिदास के काव्य में अन्य कवियों की अपेक्षा निम्नलिखित वैशिष्ट्य हैं।

कालिदास मानवीय प्रकृति के सूक्ष्म ज्ञाता और मर्मज्ञ विवेचक हैं। वे सीधे उन स्थलों का स्पर्श करते हैं जो कोमल और मधुर हैं। उन्होंने हृदय की कोमल प्रवृत्तियों का उद्घाटन अधिक किया है। उनके वीर रस के वर्णनों तक में (यथा रघु-इन्द्र युद्ध) कोमलता का पुट है। उन्होंने वर्णन के लिये ऐसे प्रसंगों और परिस्थितियों को चुना है जिनमें मानव-मन रमता है और जिनके

प्रति पाठक की सहानुभूति पहले से ही रहती है। दूसरे वे अत्यधिक सहानुभूति और ममता के कवि है। नायक, नायिका ही नही पशु-पक्षी वृक्ष, वनस्पति के प्रति भी उनके मन मे स्नेह है और वे एक प्रकार से उनके परिवार के अग बन कर काव्य मे उपस्थित होते है। तीसरे, कालिदास ने प्रकृति का अवलोकन इतनी निकटता से किया है कि वह उनके जीवन का अग बन गयी है। विश्व के किसी कवि की प्रकृति के साथ इतनी घनिष्ट मैत्री नही है। जिस प्रकार माता बालक के रोम-रोम से परिचित तो होती ही है उसके मन की नीरव भाषा, और आँखो के सकेत को पढ लेती है उसी प्रकार कालिदास वन, वृक्ष, वारिधि, नदी, पर्वत, आकाश, ऋतु, वन्य जगत सब के रोम रोम से परिचित हैं। वे प्रकृति की भाषा समझते हैं। वे हर फूल, पल्लव से वार्तालाप कर सकते है। चौथे व अपने पाठक के साथ औपचारिकता नही बरतते, उससे सीधे-सीधे बात करते हैं। भाषा, अलकार आदि शैलीगत सजा उनके पीछे-पीछे चलती है, वे उसके लिये रुकते नही। पाँचवें, वे ऐसी कोई बात नही कहते जो सिर्फ कहने के लिये कही गयी हो। उतना ही कहते हैं जितना आवश्यक है। काव्यगत पाण्डित्य या प्रभावोत्पादकता से प्रेरित उनका कोई काव्य नही है। छठें, वे जिस प्रकार जीवन मे सुरुचि और परिष्कार के व्यक्ति थे उसी प्रकार के कवि भी हैं। उनके काव्य मे सर्वत्र आभिजात्य मुखरित है—भाषा में भी और भाव में भी। मृदुता, कोमलता, सरलता, स्पष्टता और सौन्दर्य को छोड कर वे एक पग भी नही चले। वे हर सडी-गली वस्तु से उसका सौन्दर्य सार खीच लेने मे सिद्धहस्त हैं। सातवें, वे आशा, उत्साह और आस्था के कवि हैं। उनके सम्मुख उदात्त लक्ष्य रहा है जिससे उनकी रचनाएँ सप्राण हुई हैं और शिव की ओर प्रेरित करती हैं। कालिदास निर्गर्व, विनत, बहुश्रुत, और स्वाभिमानी हैं। इसका प्रभाव उनके काव्य पर बहुत अनुकूल पड़ा है। इससे उनमे गम्भीर चिन्तन और लचक दोनों साथ-साथ पाये जाते हैं।

उपर्युक्त गुणों का प्रभाव उनकी वर्णनशैली पर स्पष्ट है। सूक्ष्म निरीक्षण के कारण वे कहीं से समान प्रभावोत्पादक सादृश्य लेकर वर्ण्य वस्तु का प्रभाव दुगुना कर देते हैं। ये सादृश्य या उपमान इतने निकट के होते हैं कि पाठक उनमें तुरन्त आत्मीयता स्थापित कर लेता है। कालिदास का शायद

ही कोई उपमान अपरिचित या दूर से लाकर खड़ा किया हुआ हो। जहाँ उपमान अमूर्त होते हैं वहाँ भी व मूर्तिवत् सामने विद्यमान-से प्रतीत होते हैं। जैसे—

ता देवतापित्रतिथि क्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यलोकपालः।
बभौ च सा तेन सता मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥

राजा नन्दिनी के पीछे-पीछे चल रहे हैं। उनके साथ चलने से गाय की शोभा और बढ़ गयी है। कालिदास उपमा देते हैं—जैसे विधि के साथ श्रद्धा हो। श्रद्धा के साथ यदि विधि (शास्त्र-सम्मत क्रिया) न हो तो निरर्थक हो जायगी अथवा अन्धविश्वास का रूप ग्रहण कर लेगी। कवि ने विधि का विशेषण दिया है—सता मतेन जो दोनों ओर बड़े सुन्दर ढंग से लागू होता है। इसी प्रकार गो का विशेषण है 'देवता पित्रतिथि क्रियार्था।' जो श्रद्धा पर भी उसी प्रकार लागू होता है। श्रद्धा के पात्र और अधिकारी भी ये ही होते हैं। इसी प्रकार 'मार्गं मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।' जैसी उपमायें हैं। ये सब उपमायें वर्ण्य का भव्य रूप खड़ा कर देती हैं और उनके प्रभाव को बढ़ाती हैं। उनका शायद ही कोई उपमान अधूरा हो। लिङ्ग या वचन भेद भी उनके उपमानों में नहीं होता। इस कारण वे उपमेय पर पूरी तरह चिपक जाते हैं। वे कभी अकारण उपमा नहीं देते और न सुपरिचित वर्ण्य के लिये अल्पपरिचित उपमान खोजते हैं। समप्रभावी और सुपरिचित होने के कारण उनकी उपमायें और कवियों से अधिक सुन्दर बन पड़ी हैं।

आवश्यकता से अधिक न बोलने और बात को संकेत से कह देने के स्वभाव के कारण उनके काव्य में ध्वन्यात्मकता आ गयी है। कुमारसम्भव का यह उदाहरण तो प्रसिद्ध ही है—

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीला कमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

इस श्लोक में अलङ्कार एक भी नहीं है तो भी 'कमलदल की गणना' से पार्वती की लज्जा, संकोच, प्रेम और आनन्द इन सब की अभिव्यक्ति कितने सुन्दर ढंग से हो गयी है।

विवादप्रियता और प्रगल्भता ने कालिदास के इन गुणों को निखार दिया है। यह बात नहीं कि कालिदास की रचनाओं में दोष नहीं हैं। कहीं उनमें अश्लीलता भी आ गया है। यथा—शानन्यादो विवृतजघना को विहातु समर्थः।

कुमारसम्भवम् में तो इसका परिमाण और भी अधिक है। कहीं-कहीं अनौचित्य भी है और शब्ददोष भी हैं। च्युतसंस्कृति दोष को शायद अन्य किसी कवि ने उतने बार किया हो। व्याकरण की दृष्टि से दूषित प्रयोगों यथा–विश्वम्भर म् वागयान, आ., पानथा 'प्रथम मान आदि तथा अजर्ज समासों का प्रयोग उन्होंने खूब किया है किन्तु कालिदास के ही शब्दों में हम कह सकते हैं—

एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।

कालिदास ने नाटक—कालिदास की रचनाओं में उनके काव्य उत्कृष्टतर हैं या नाटक अर्थात् कवि कालिदास अधिक उत्कृष्टतर है या नाटककार इस प्रश्न पर कई बार विद्वानों में विचार हो जाता है। कई लोग उन्हें नाटककार की दृष्टि से वरिष्ठ मानते हैं यद्यपि काव्य-क्षेत्र में उनका स्थान वही है जो नाटकों के क्षेत्र में। दोनों जगह मूर्धन्य हैं। उनके काव्य भी प्रौढ़ता की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय और तृतीय कोटियों में रखे जा सकते हैं और नाटक भी। तब प्रश्न यह रह जाता है कि उनकी कृति में किसे उत्कृष्ट माना जाय—काव्य को या नाटक को? संस्कृत साहित्यशास्त्रियों ने काव्य के केवल श्रव्य और नाटक के श्रव्य और दृश्य दोनों होने के कारण नाटक को अधिक उत्कृष्ट बतलाया है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। इस प्रश्न का यह उत्तर नहीं है। दोनों के दो अलग क्षेत्र हैं। सामान्य जन नाटक में अधिक रुचि लेते हैं और विकसित बौद्धिक चेतना के लोग काव्य में। वे नाटकों में उतनी ही रुचि लेते हैं जितनी उनमें कलात्मक उत्कृष्टता होती है। संस्कृत में तो नाटक भी काव्य के ही अन्तर्गत माने गये हैं और नाटककार को भी कवि की संज्ञा ही दी गयी है।

कालिदास ने तीन नाटक लिखे हैं—मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञान शाकुन्तलम्। प्रथम में शुंगवंशीय सम्राट् पुष्यमित्र के पुत्र

अग्निमित्र और मालविका की, विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा और उर्वशी की तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय-कथा वर्णित है।

विक्रमोर्वशीयम्

रचना-क्रम तथा कला-सौष्ठव दोनों की दृष्टि से विक्रमोर्वशीयम् का स्थान मालविकाग्निमित्रम और शाकुन्तलम् के बीच में है। इसमें पुरूरवा और उर्वशी की प्रणय-कथा वर्णित है जो इस प्रकार है :—

अंक १—एक बार प्रतिष्ठानपुर का सोमवंशीय राजा सूर्य की पूजा करके हेमकूट शिखर के पास से लौट रहा था कि उसके कान में स्त्रियों का आर्त्तनाद पड़ा। पूछने पर पता चला कि केशी नामक दैत्य उर्वशी और उसकी सखी चित्रलेखा को पकड़ ले गया है इसलिये उनकी सखियाँ दुःख से चीख रही हैं। यह सुनते ही राजा शेष अप्सराओं को हेमकूट शिखर पर ठहरने का निर्देश कर उन दोनों की रक्षा के लिये दौड़ पड़ता है। थोड़ी देर बाद वह चित्रलेखा तथा मूर्च्छित उर्वशी को लेकर लौट आता है। शीघ्र ही उर्वशी होश में आ जाती है किन्तु राजा उसका सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो जाता है। उर्वशी का मन राजा के शौर्य और सद्व्यवहार से उसके प्रति आकृष्ट होता है। वे आपस में बात-चीत करते ही होते हैं कि चित्ररथ नाम का गन्धर्व आकर सूचना देता है कि उर्वशीहरण का समाचार पाकर इन्द्र ने गन्धर्व सेना को वापिस लाने का आदेश दिया था किन्तु मार्ग में आपके पराक्रम का समाचार सुनकर मैं आपके पास चला आया हूँ। आपने इन्द्र का बड़ा उपकार किया है। अब आप उर्वशी को लेकर इन्द्र के पास चलिये। पुरूरवा कहता है कि हम लोग तो इन्द्र के ही प्रभाव से विजयी होते हैं किन्तु अभी इन्द्र के पास चलने के लिये मुझे अवकाश नहीं है, अतः आप ही इन्हें लेकर जाइये। सब लोग आकाशयान से चल देते हैं। उर्वशी लता में अटकी हुई अपनी मोतियों की माला छुड़ाने के बहाने एक बार राजा को देखने के लिये रुक जाती है। बाद में दोनों अपने-अपने गन्तव्य को चले जाते हैं।

अंक २—राजा अपने प्रेम की बात विदूषक को बतला देता है किन्तु उसे गुप्त रखने की आज्ञा भी दे देता है। राजा के व्यवहार में पहले जैसा माधुर्य न

देखकर रानी औशीनरी अपनी चेटी निपुणिका को राजा के पास भेजती है और चतुराई से विदूषक से सारा रहस्य जान लेता है। उधर राजा राज-कार्य देखने के बाद मनोविनोद के लिये विदूषक के साथ प्रमदवन में जाता है। वहाँ वह उर्वशी के समागम का कोई उपाय ढूँढने के लिये विदूषक से कहता है। इतने में उर्वशी और चित्रलेखा भी वहाँ आती हैं किन्तु वे उनकी बातचीत सुनने के लिये तिरस्करिणी-विद्या से अपने को छिपाये रखती हैं। उर्वशी राजा के मुख से उसकी प्रेमकथा सुनकर भोजपत्र पर दो श्लोकों में अपने प्रेम की तत्परता लिखकर भोजपत्र उनके पास फेंक देती है। राजा भोजपत्र पढकर आनन्द मे मग्न हो जाता है और सँभाल कर रखने के लिये भोजपत्र विदूषक को दे देता है। उर्वशी और चित्रलेखा प्रकट हो जाती है। अभी बातचीत चल रही होती है कि इन्द्र की आज्ञा से भरत द्वारा अभिनीत किये जाने वाले नाटक मे भाग लेने के लिये उर्वशी को बुलाने के लिये देवदूत आ जाता है। उर्वशी चली जाती है। तब राजा मन बहलाने के लिये विदूषक से भोजपत्र माँगता है किन्तु भोजपत्र विदूषक के हाथ से छूटकर उड जाता है और निपुणिका के साथ उधर ही आती हुई रानी औशीनरी के नूपुर मे जा अटकता है। निपुणिका पत्र पढकर रानी को समझाती है। रानी राजा के पास पहुँच कर जब उसे भोजपत्र ढूँढने मे व्यस्त देखती है तो भोजपत्र उसे दे देती है। राजा शर्म से रानी के पैरो पर गिर जाता है किन्तु रानी आवेश मे उसे छोडकर चली जाती है। विदूषक कहता है, 'अच्छा हुआ चली गयी,' तो राजा उसकी बात काट कर कहता है कि मेरे मन मे रानी के लिये आदर है, भले ही मैं उर्वशी से भी प्रेम करता होऊँ।

अंक ३—गालव के दो शिष्य आते हैं और परस्पर वार्तालाप करते हुये बतलाते हैं कि इन्द्र-सभा मे सरस्वतीकृत 'लक्ष्मी-स्वयवर' नाटक खेला गया था। उसमे मेनका ने वारुणी और उर्वशी ने लक्ष्मी का अभिनय किया था। उसमे वारुणी ने पूछा कि विष्णुसहित सब लोकपाल यहाँ आये हैं; तुम उनमे से किसे पसन्द करती हो। इसके उत्तर मे उर्वशी को कहना था 'पुरुषोत्तम को' किन्तु ध्यान कहीं और होने से वह कह गयी 'पुरूरवा' को। तब भरत मुनि ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दे दिया कि वह स्वर्ग से भ्रष्ट हो जाय। किन्तु नाटक

अन्त मे उर्वशी को उदास देखकर इन्द्र ने कहा कि पुरूरवा मेरा मित्र है। इसलिये तुम उसके पास जाकर रहो किन्तु जब वह पुत्र का मुख देख ले तो तुम उसे छोड़कर फिर स्वर्ग चली आना। दूसरी ओर, रानी पुरूरवा के पास सन्देश भेजती है कि आज मणिहर्म्य की छत पर चन्द्रमा बहुत सुन्दर है अतः उसका रोहिणी के साथ सयोग होने तक मैं वहाँ आपके साथ बैठना चाहती हूँ। राजा छत पर जाता है। इतने मे अभिसारिका का वेश धारण कर चन्द्रलेखा के साथ उर्वशी वहाँ प्रकट होती है किन्तु औशीनरी को आता देख छिप जाती है। राजा जब 'देवी' कहकर रानी को बुलाता है तो उसके रूप को देखकर उर्वशी कहती है कि यह सचमुच इस सबोधन के योग्य है। यह इन्द्राणी से किसी तरह कम नही है। रानी चन्द्र किरणो की पूजा कर राजा से सविनय कहती है कि मैं रोहिणी-चन्द्र की जोडी को साक्षी करके कहती हूँ कि जिसका आपके प्रति प्रेम है और जिसके प्रति आपका प्रेम है उसके साथ मैं भी प्रेम का व्यवहार करूँगी। रानी चली जाती है तब उर्वशी प्रकट होती है। कुशल-प्रश्न के बाद चित्रलेखा यह कहकर कि मुझे वसन्त ऋतु पूर्ण होने पर गर्मी मे सूर्य की पूजा करनी है, उर्वशी को राजा के पास छोडकर चली जाती है।

अंक ४—उर्वशी के आने के बाद राजा राज्य का भार मन्त्रियो पर छोडकर स्वय विहार के लिये गन्धमादन पर्वत पर चला जाता है। वहाँ एक दिन नदी के तट पर बालू के ढहे बनाकर खेलती हुई किसी विद्याधर कुमारी की ओर वह देखने लगता है। इस पर उर्वशी क्रुद्ध होकर चली जाती है और अनजाने कार्तिकेय के वन मे, जहाँ स्त्रियो को जाना वर्जित था, घुस जाती है। वहाँ घुसते ही वह लता बन जाती है। अब राजा उर्वशी को ढूँढता हुआ सारे वन मे विलाप करता फिरता है। बहुत विलाप करने पर उसे वन मे एक रक्त वर्ण की मणि मिलती है। एक ऋषि के कहने से कि यह सगमनीय मणि है और प्रिय-सयोग करा सकती है, राजा उसे ले लेता है और जैसे ही पास मे स्थित एक सुन्दर लता का आलिङ्गन करता है कि वह उर्वशी के रूप मे परिणत हो जाती है। इसके बाद वे दोनो राजधानी को लौट आते हैं।

अंक ५—एक दिन राजा गगा यमुना के सगम पर रानी के साथ स्नान कर कपड़े पहन रहा था कि एक गृध्र उसे मणि सहित कर उठा ले गया।

राजा गृध्र को, जैसे भी हो पकड़ने का आदेश देता ही था कि कञ्चुकी ने उसे वह मणि और एक बाण लाकर दिया। बाण पर 'उर्वशी और पुरूरवा का पुत्र आयु' ये अक्षर खुदे थे। राजा यह देखकर आश्चर्यमग्न हो जाता है। इतने में ही च्यवनाश्रम से एक तापसी एक कुमार को लेकर आती और बतलाती है कि इस कुमार को पैदा होते ही उर्वशी ने मेरे संरक्षण में दे दिया था। महर्षि च्यवन ने इसके सारे संस्कार किये और धनुर्विद्या सिखायी। आज इसने मांस-खण्ड लिये गृध्र को बाण मारा तब ऋषि ने इसे आप के पास लौटा देने के लिये भेज दिया है। उर्वशी आती है और भावी वियोग की कल्पना कर रोने लगती है। राजा भी कुमार को, जिसका नाम 'आयुष्' है, राज सौंप कर वन चला जाना चाहता है कि नारद आते हैं और इन्द्र का सन्देश देते हैं कि अभी देवासुर संग्राम होने वाला है। तुम शस्त्र-त्याग मत करो। यह उर्वशी आजीवन तुम्हारी सहचरी रहेगी। आयुष् का राज्याभिषेक होता है और उसी के साथ नाटक समाप्त होता है।

विक्रमोर्वशीयम् का कथा-स्रोत

विक्रमोर्वशीयम् की कथा का मुख्य स्रोत कौन-सा ग्रन्थ है, यह बता सकना कठिन है। उर्वशी और पुरूरवस् का संवाद सर्वप्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल के १९५वें सूक्त में मिलता है। इसके बाद शतपथ ब्राह्मण, बृहद्देवता, षड्गुरु शिष्य की वेदार्थ-दीपिका, मत्स्य, भागवत, विष्णु, पद्म और हरिवंश पुराण तथा कथासरित्सागर में उर्वशी-पुरूरवा की कथा मिलती है। ऋग्वेद के संवाद में परस्पर वार्त्तालाप को छोड़कर अन्य किसी प्रसंग का उल्लेख नहीं है। वार्त्तालाप का सारांश इस प्रकार है:—

पुरूरवा कहता है—हे कठोर जाये! ठहरो। हम लोग प्रेम के साथ परस्पर बातें कर लें। परस्पर न कहने पर भी हमारी रहस्यमयी बातें बड़ी सुखद हैं। उर्वशी उत्तर देती है—मुझे तुम्हारी बातों से क्या लेना-देना? जैसे अग्रिम उषा सूर्य को छोड़कर चली जाती है वैसे ही मैंने तुम्हें छोड़ दिया है। तुम अपने घर जाओ। मैं वायु के समान पकड़ में नहीं आऊँगी। तब पुरूरवा

बोलता है—तुम्हारे वियोग में मुझसे कोई काम नही होता—न वाण चलाया जाता है न शत्रुओ का वध किया जाता है, न तो राज-काज ही बनता है और न शौर्यकार्य ही। उर्वशी प्रतिवाद करती हुई कहती है—मैं तुम्हारे घर पत्नीरूप मे रह चुकी हूँ। तुमसे मेरा दाम्पत्य-सम्बन्ध रहा है। तुम मेरे शरीर के स्वामी रह चुके हो। अन्य अप्सरायें भी तुम्हारे साथ रहती रही हैं। पुरूरवा—किन्तु अब वे अप्सरायें मुझसे ऐसे दूर भागती हैं जैसे व्याध से मृगी या रथ मे जुडने से नये घोडे। उर्वशी मेरी कामनाओ को पूर्ण करती हुई विद्युत् की तरह चमकती थी। उर्वशी—तुम पृथ्वी की रक्षा के लिये उत्पन्न हुये हो। तुम्हारा तेज मेरे उदर मे स्थित है। मैंने तुम्हें समझाया। मैंने सन्तान होने तक साथ रहने का वचन दिया था। पुरूरवा—कब तुम्हारे उदर से उत्पन्न पुत्र मुझे प्यार करेगा? कब मुझे पहचान कर चिल्लाता हुआ आँसू नही गिरायेगा? कब वह तुम्हे और मुझे समनस्क मिला देगा? उर्वशी—तुम्हारा पुत्र यदि रोयेगा तो तुम्हारे पास भेज दूँगी। तुम घर चले जाओ। मैं तुम्हे नहीं मिलूँगी। पुरूरवा—तुम्हारे साथ रमण करने वाला पुरूरवा आज मर जाय अथवा दूरतम प्रदेश को चला जाय अथवा पृथ्वी मे समा जाय अथवा मुझे भेडिये खा जायें।

इस पर अन्य अप्सरायें उसे आश्वासन देती हुई कहती हैं—तुम मरो मत, पृथ्वी पर मत गिरो और तुम्हे भेडिये न खायें। स्त्रियो का हृदय विश्वास-घाती भेडियो जैसा होता है। उर्वशी—मैं चार वर्ष तुम्हारे साथ रही। चार वर्ष की रातें तुम्हारे साथ बितायी। जो थोडा घृत दिन में खाया उसी से तृप्त घूमती हूँ। हे ऐल! देवो ने तुमसे कहा है—तुम्हारी सन्तान हविष् से देवो का पूजन करे। इससे तुम्हारी मृत्यु न होगी। तुम स्वर्ग मे मेरे साथ रमण करोगे।

इस प्रसग मे अप्सराओ का यह कथन प्राय उद्धृत किया जाता है—

"न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता।"

इसी प्रकार सवाद का अन्तिम वाक्य महत्त्वपूर्ण है :—

"प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वग उत्तमपि मादयासे।"

शतपथ ब्राह्मण में इस सवाद का पृष्ठभूमि दी हुई है जो इस प्रकार है—

उर्वशी ने जब इला के पुत्र पुरूरवस् से प्रेम प्रारम्भ किया तो उससे तीन वचन ले लिये : १—मुझे वेतस दण्ड से दिन मे तीन बार मारना (मुझसे तीन बार भोग करना) २—मुझमे कामेच्छा न हो तो मेरे पास न आना और ३—कभी मुझे नग्न न दिखना। राजा ने वचन दे दिये। उर्वशी उसके साथ रहने लगी और गर्भवती हो गयी। तब गर्भावस्था के कारण साक्षात् ज्योति-सी दिखने लगी। ऐसी उर्वशी को देख कर गन्धर्वों ने कहा—उर्वशी ज्योति है। वह मनुष्यो मे जा बसी है। देखो, यदि किसी प्रकार यहां वापिस लायी जा सके। उसके शयन-कक्ष मे दो मेढे बंधे रहते थे। गन्धर्वों ने उनमे से एक को खोल लिया। तब उर्वशी चिल्लायी—अरे! ये मेरे बेटे को चुराये लिये जा रहे हैं जैसे मेरा कोई अपना आदमी ही न हो। तब तक उन्होने दूसरे को भी खोल लिया। राजा ने कहा कि मेरे रहते उर्वशी वीर-विहीन और अजन कैसे हो सकती है? वह उसकी चिल्लाहट सुन कर नग्नावस्था मे ही बचाने के लिये दौड पडा। इस समय गन्धर्वों ने खूब जोर से बिजली चमका दी जिससे उर्वशी राजा को नग्न देख ले। यह देख उर्वशी राजा को छोडकर चल दी। तब राजा ने बडा करुण विलाप किया। इस पर उर्वशी ने उसे समझाया बुझाया और वर्ष के अन्त मे एक रात्रि उसके साथ रहने का वचन दिया। पीछे पुरूरवा ने गन्धर्वों को मना कर उनकी सलाह से दिव्य अग्नि ला कर यज्ञ किया और गन्धर्वस्वरूप प्राप्त किया।

विष्णु और भागवत पुराण मे उर्वशी को मित्रावरुणो के शाप के कारण पृथ्वी पर रहना बाध्य हुआ बतलाया गया है। कथासरित्सागर मे, जो कि बृहत्कथा पर आश्रित है, कहा गया है कि पुरूरवा विष्णु का भक्त था। विष्णु ने उर्वशी को उसे दे देने के लिये इन्द्र को आज्ञा दी थी। एक दिन राजा इन्द्र के साथ सभा मे बैठा रम्भा का नृत्य देख रहा था। नृत्य मे कुछ भूल देखकर राजा को हँसी आ गयी। इस पर नृत्याचार्य तुम्बरु ने क्रुद्ध होकर राजा को उर्वशी-वियोग का शाप दिया। बाद मे राजा ने अपनी भक्ति से विष्णु को प्रसन्न कर उर्वशी को फिर से प्राप्त कर लिया।

बृहद्देवता मे भी पुरूरवा की कथा आयी है किन्तु वहाँ बतलाया गया है कि उन दोनो के सहवास से इन्द्र के मन मे असूया उत्पन्न हुई और उसने

अपने समीपस्थ वज्र से उनकी प्रीति भग करने के लिये कहा। वज्र ने अपने मायाजाल से उनकी प्रीति भग कर दी। तब राजा उन्मत्त को तरह घूमने लगा। एक बार घूमते हुये उसने एक सरोवर पर पाँच सखियो मे घिरी हुई उर्वशी को देखा और अपने पास आने के लिये प्रार्थना को किन्तु उसने उत्तर दिया कि अब तुम मुझे स्वर्ग मे ही पा सकते हो (७-१४०-७)

सर्वानुक्रमणी की वेदार्थदीपिका नामक व्याख्या मे षड्गुरु शिष्य ने ऋग्वेद की कथा का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—मित्र और वरुण यज्ञ मे दीक्षित थे किन्तु उर्वशी को देखकर उनका चित्त चचल हो गया और कुम्भ मे उनका शुक्रपात हो गया। तब उन्होंने उर्वशी को शाप दिया कि तू मनुष्य-भोग्या बन कर पृथ्वी पर रह। इसी बीच राजा इल मनुपुत्रों के साथ शिकार खेलता हुआ देवी के क्रीडावन मे घुस गया। वहाँ पार्वती शिव की सेवा कर रही थी। उन्होने मर्यादा कर दी कि जो पुरुष इस स्थान मे प्रवेश करेगा वह स्त्री बन जायगा। सो राजा स्त्री बन गया। तब अत्यन्त लज्जित होकर उसने शिव से फिर पुरुषरूप प्रदान करने की प्रार्थना की। शिव ने कहा कि देवी को प्रसन्न करो। तब राजा ने देवी की छः महीने तक शुश्रूषा कर उनके प्रसाद से फिर पुरुषत्व प्राप्त कर लिया किन्तु जब राजा इल स्त्री के रूप मे था तब एक बार सोम का पुत्र बुध उस पर आसक्त हो गया और उसके समागम से इला के पुरूरवा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर थी। उर्वशी पुरूरवा पर मुग्ध हो गयी किन्तु उसने रमण के पूर्व दो प्रतिज्ञायें करा ली। प्रथम यह कि यदि मैं शय्या को छोड कर अन्यत्र तुम्हे नग्न देखूँगी तो मैं जैसे आयी हूँ वैसे ही चली जाऊँगी और दूसरी यह कि मेरे दो मेढे पुत्र के समान सदा मेरे पास रहेगे। चार वर्ष बीत जाने पर एक बार रात्रि मे देवताओ ने मेढो को मारा। उनका क्रन्दन सुन कर राजा उन्हे बचा कर तुरन्त लौट आने के खयाल से नगा ही बिस्तर से उठ कर दौड पडा। विद्युत् ने पुरूरवा का वह नग्न रूप उर्वशी को दिखा दिया। तब वचन भग के कारण वह राजा को छोडकर स्वर्ग चली गयी। राजा उसकी तलाश मे पागल की तरह इधर-उधर घूमने लगा। अन्त मे उसने मानस सरोवर पर अप्सराओं के साथ घूमती हुई उर्वशी को देखा और उर्वशी से साथ चलने के

लिये कहा किन्तु तब तक शाप से मुक्त हो जाने के कारण उर्वशी ने कहा कि तुम चले जाओ।

शतपथ, बृहद्देवता और वेदार्थदीपिका मे वर्णित यह कथानक वस्तुतः ऋग्वेद के पुरूरवा-उर्वशी सवाद की भूमिका के रूप मे है जो केवल यह स्पष्ट करने के लिये है कि उन दोनो के बीच वह सवाद किस परिस्थिति मे हुआ। इनमे निम्नलिखित बातें समान हैं—(१) उर्वशी इन्द्र के साथ रहा थी, (२) देवताओ ने षड्यन्त्र करके उससे पुरूरवा का वियोग करवाया, (३) सयोग से पूर्व उसने पुरूरवा से दो प्रतिज्ञायें करा ली थी और वे ही उसके वियोग का कारण बनी, (४) वियोग के बाद उनका पुनः भेंट हुई और वार्तालाप भी हुआ। शतपथ ने इसमे यज्ञ का माहात्म्य प्रतिपादन करने के लिए ही जोड दिया है कि बाद मे अग्नि के प्रसाद से स्वर्ग मे उनकी भेंट हुई। इन सब कथानको की सामान्य बातें कालिदास ने ले ली हैं फिर भी वेदार्थदीपिका का आश्रय उन्होने विशेषतः लिया है। उर्वशी के शापित होने की बात उन्होने यहीं से ली है और पुरूरवा के पूर्वजो के विषय को सारी कथा का, जिसकी ओर कालिदास ने कई बार सकेत किया है। यही से ली गयी जान पडती है। उसके विलापो का प्रेरणा कालिदास को ऋग्वेद से मिली है किन्तु विलाप का स्वरूप उन्होने वाल्मीकि के राम-विलाप के आधार पर निर्मित किया है। उर्वशी की सहेलियो का उल्लेख भी वेदार्थदीपिकादि के अनुसार ही किया है। हाँ, प्रतिज्ञाओ का स्वरूप उन्होने बदल कर अधिक शिष्ट बना दिया है और वैदिक होने से इन्द्र के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा रखने के कारण उसे ईर्ष्यालु के बदले मित्र बना दिया है जो उर्वशी को छीनता नही उलटे उन्हे प्रदान करता है। ये परिवर्तन कथा को नाटकानुकूल स्वरूप प्रदान करते है।

सम्भवतः कालान्तर मे उर्वशी की कथा मर्मस्पर्शी होने के कारण अधिक लोकप्रिय बन गयी थी और जन-सामान्य ने अपनी भावना की परितृप्ति के लिये उसमे इधर-उधर से भी कुछ मिला लिया था। उर्वशी और पुरूरवा की कथा के साथ भी ऐसा ही हुआ है। कथा का यह परिवर्तित, परिवर्धित रूप पुराणो मे मिलता है जो इस प्रकार है

मत्स्य पुराण २४ के अनुसार बुध ने इला के गर्भ से एक धर्मिष्ठ पुत्र उत्पन्न किया जिसने सौ अश्वमेध यज्ञ करके लोक मे बड़ी ख्याति अर्जित की। वह प्रतिदिन इन्द्र से मिलने जाता था। एक दिन जब वह रथ पर सवार होकर सूर्य के साथ दक्षिण आकाश की ओर जा रहा था तो उसने केशी नामक दानवराज द्वारा चित्रलेखा के साथ उर्वशी को पकड़े देखा। उसने शीघ्र ही वायव्य अस्त्र छोड़कर केशी से उन्हें मुक्त करा लिया और उर्वशी ला कर इन्द्र को दे दी। इससे पुरूरवा के साथ इन्द्र तथा देवताओं ने और भी घनिष्ठ मैत्री स्थापित कर ली। एक बार भरत द्वारा प्रयुक्त लक्ष्मी स्वयंवर नाटक म मेनका, रम्भा और उर्वशी से नृत्य करने को कहा गया। उर्वशी लक्ष्मी का रूप धारण कर नृत्य कर रही थी। पुरूरवा सामने बैठा हुआ था। उर्वशी उसे देखकर कामार्त हो उठी और भरत के सिखाये हुये अभिनय को भूल गयी। तब भरत ने उसे शाप दिया कि तुम लता बन कर पचपन वर्ष तक भूतल पर रहोगी और पुरूरवा भी पिशाच बन कर वहीं रहेगा। इस प्रकार भूतल पर जाकर उर्वशी ने पति रूप मे उसका वरण किया और शाप की अवधि समाप्त होने पर पुरूरवा से आयु, दृढायु, अश्वायु, धनायु धृतिमान, वसु, शुचिविद्य और शतायु नामक आठ पुत्र उत्पन्न किये।

भागवत (९-१४) मे कथा का रूप इस प्रकार है—सहस्रशीर्षपुरुष के नाभि-कमल से धाता (ब्रह्मा) और उससे अत्रि उत्पन्न हुये जो गुणो मे सब प्रकार पिता के समान थे। अत्रि के नेत्र से अमृतमय सोम हुआ। सोम के पुत्र का नाम ब्रह्मा ने बुध रखा। बुध से इला मे पुरूरवा का जन्म हुआ। एक बार इन्द्र की सभा मे नारद के मुख से पुरूरवा के गुणों का वर्णन सुनकर उर्वशी उस पर मुग्ध हो गयी। वह मित्रावरुण के शाप से नरलोक को प्राप्त हुई और पुरूरवा के सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके पास पहुँची। राजा ने स्वयं उस पर आसक्त होकर अपने साथ रहने के लिये कहा किन्तु उर्वशी ने दो उरणो का न्यास रूप म रखने और उसे कभी निर्वस्त्र न दिखायी देने के वचन माँग लिये। बाद मे जब इन्द्र ने स्वर्ग मे उर्वशी को न देखा तो गन्धर्वों को प्रेरित कर उरण चुरवा लिये। तब उर्वशी ने दुखी होकर व्यंग्य कसे और राजा उरणो के लेने, जैसा था वैसी नग्न अवस्था मे चल दिया। इसी बीच

बिजली चमकी और राजा नग्न दिख गया और उर्वशी तुरन्त अन्तर्धान हो गयी। पागल की तरह उसकी तलाश में पृथ्वी का चक्कर लगाते-लगाते राजा ने सरस्वती के किनारे कुरुक्षेत्र में उर्वशी को पाँच सखियों के साथ देखा और तब बोला। तुम मेरे साथ चलो अन्यथा मेरी देह का पात यहीं हो जायगा और इसे गीध भेड़िये खा जायँगे। राजा ने बहुत से व्यंग्य बाण उर्वशी पर छोड़े। तब उर्वशी ने कहा कि वर्ष भर बाद मैं एक दिन तुम्हारे साथ रहूँगी। तुम्हारे और भी सन्तान होगी। राजा उर्वशी को गर्भवती देखकर लौट आया। साल भर बाद वह वहाँ गया और पुत्रवती उर्वशी के साथ रात भर रहा। अन्त में उसे विरहातुर देख कर उर्वशी ने कहा कि गन्धर्वों से प्रार्थना करो। वे ही मुझे तुमको प्रदान करेंगे। तब राजा ने स्तुति से गन्धर्वों को प्रसन्न किया। उन्होंने राजा को एक अग्निस्थाली दी। राजा उस अग्निस्थाली को उर्वशी मानता हुआ वन में घूमने लगा। एक बार वह स्थाली को वन में रख कर चला गया। बाद में त्रेता युग आ गया। अग्निस्थाली जहाँ रखी थी वहाँ शमीगर्भ अश्वत्थ बन गया। राजा ने उसकी अरणियों का मन्थन कर उत्पन्न अग्नि में यज्ञ किया और अग्नि की कृपा से सन्तान के साथ गन्धर्व लोक को प्राप्त हुआ।

कथा सरित्सागर (३-३) में भी पुरूरवा की कथा आयी है। पुरूरवा नाम का एक बड़ा विष्णु-भक्त राजा था जो स्वर्ग तक बेरोक विचरण करता था। एक दिन नन्दन वन में घूमते हुये उसका उर्वशी से साक्षात्कार हुआ। तब से दोनों परस्पर आसक्त होकर वियोग-पीड़ित रहने लगे। विष्णु ने यह बात जानकर नारद को बुलाया और कहा कि आप मेरी ओर से इन्द्र को समझा-बुझाकर उर्वशी पुरूरवा को दिला दीजिये। नारद पुरूरवा को लेकर इन्द्र के पास गये और उर्वशी उसे दिला दी। इससे उर्वशी को तो नवजीवन मिला किन्तु स्वर्गलोक निर्जीव हो गया। एक बार इन्द्र का असुरों से युद्ध हुआ जिसमें उसने सहायतार्थ पुरूरवा को बुलाया। युद्ध में मायाधर नामक असुर राजबन्दी बनाया गया और इस निमित्त इन्द्र ने उत्सव मनाया जिसमें अप्सराओं का नृत्य आयोजित हुआ तब वहाँ आचार्य तुम्बुरु की उपस्थिति में जब रम्भा नृत्य कर रही थी तो उससे कोई भूल हो गयी। पुरूरवा उस भूल पर हँस

पडा। इस पर रम्भा ने कहा कि तुम मनुष्य देव नृत्य क्या जान। राजा ने कहा कि उर्वशी के सग के कारण मैं इतना जानता हूँ जितना तुम्हारे गुरु तुम्बुरु भी नही जानते। तब तुम्बुरु ने क्रुद्ध होकर उसे शाप दिया कि तुम्हारा उर्वशी से वियोग हो जायगा। गन्धर्व लोग उवशी को अदृश्य होक उडा लाये। पुरूरवा ने इसे शाप का प्रभाव मानकर बदरिकाश्रम म जाकर हरि की आराधन किया। इधर उर्वशी वियोग के कारण सूखकर काँटा बन गयी किन्तु हरि के प्रसाद से गन्धर्वों ने उर्वशी को छोड़ दिया और पुरूरवा उर्वशी के साथ दिव्य भोगो को भोगने लगी।

उपर्युक्त कथाशो से स्पष्ट है कि विक्रमोर्वशीयम का कथा का आधार इन सब ग्रन्थो के होते हुये भी कालिदास ने मूलरूप मे वेदार्थदीपिका और फिर मत्स्य पुराण का आश्रय मुख्यत लिया है। मत्स्य पुराण का समय निश्चित न होने से यह भी कहना सम्भव है कि मत्स्य पुराण ने ही विक्रमोर्वशीयम का आश्रय लिया है। जो हो कथानक की कुछ बातें पूर्वप्रसिद्ध कथा से लेकर भी कालिदास ने अपना प्रतिभा मे उसे नाटकीय बना दिया है। उन्होने उसमे से अरुचिपूर्ण अश—ऐल की उत्पत्ति, उर्वशी को दिये वचन आदि—हटा दिये हैं और नवीन चमत्कारक प्रसग जोड दिये हैं। इन्द्र और पुरूरवा की मैत्री उपकार एव शौर्य द्वारा उर्वशी के मन को जीतना, चित्ररथ और चित्रलेखा का प्रवेश, रानी औशीनरी का प्रसग, उर्वशी का कोप, कुमारवन प्रसग, सगमनीय मणि, आयुष की धात्री तापसी और अत मे नारद का प्रवेश ये सब बातें कालिदास ने अपनी कल्पना द्वारा नाटक को अधिक आकर्षक एव सुरुचिपूर्ण बनाने के लिये जोडी हैं जिससे एक सामान्य कथा भी लोकोत्तर सौन्दर्य एव चमत्कार से भव्य और दिव्य बन गयी है

विक्रमोर्वशीयम मे नाटकीय सौष्ठव

कथावस्तु का सुगठन तथा अन्य नाटकीय तत्वो की दृष्टि से विक्रमोर्वशीयम का सस्कृत नाटको मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कालिदास की रचनाओ मे शाकुन्तलम, तथा अन्य रूपको मे मृच्छकटिक तथा उत्तररामचरित के बाद इसकी ही गणना की जाती है। यह सस्कृत के गिने चुने भोटको मे है। इस भोटक

औशीनरी की उपस्थिति प्रेम मे तीव्रता तो उत्पन्न ही करती है राजा और उर्वशी के चरित्र को विकसित करने मे भी सहायक होती है। इस प्रकार इस नाटक मे कालिदास ने पूर्व-प्रचलित कथानक के रुचिमय अंशो को हटाकर उसे अपनी प्रतिभा द्वारा अत्यन्त सुगठित और कलात्मक बना दिया है।

नाटक मे परिस्थितियो का चुनाव बड़ा स्वाभाविक हुआ है और उससे पात्रो के चरित्र-विकास को बडी सहायता मिली है। जिस परिस्थिति मे पुरूरवा ने उर्वशी की रक्षा की वह बड़ी स्वाभाविक है। राजा का प्रतिदिन सूर्योपासना के लिये विमान द्वारा हेम-कूट पर जाना और उपासना के बाद जबकि हृदय निर्मल होता है, सहायता के लिये दौडना जितना सात्विक है, उतना ही स्वाभाविक भी। यह परिस्थिति शकुन्तला की भ्रमर-पीड़ा से कई गुनी भयावह है क्योकि यहाँ उर्वशी पर जो शकुन्तला से कई गुना कोमल थी, प्राणो का ही सकट उपस्थित हुआ था, अत. उसका कृतज्ञ होना अधिक स्वाभाविक है। उर्वशी अप्सरा थी, आश्रम-कन्या नही; उसकी प्राण-रक्षा की गयी थी, केवल भ्रमर-बाधा का निवारण नही। अतः यह प्रेम अभिज्ञान शाकुन्तलम् की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। अतः स्वाभाविक ही था कि वह जाते-जाते एक बार पूरी दृष्टि-भर राजा को देख लेने के लिये लता मे अटकी हुई एकावली को छुड़ाने का बहाना लेती। अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे कवि ने यह परिस्थिति उत्पन्न की है—

दुर्भाङ्क रे [illegible] पदानि दत्वा।

विदूषक को रहस्य बतलाकर उसे गुप्त रखने की बात भी अभिज्ञान शाकुन्तलम् में मिलती है। वहाँ भी दुष्यन्त विदूषक को प्रेम की बात बतला कर अन्त मे कह देता है—परिहास विजल्पितं सखे परमार्थेन न गृह्यता वच.। औशीनरी का निपुणिका द्वारा विदूषक से भेद जान लेना, राजा का मनोविनोद के लिये प्रमद वन मे जाना, वहाँ औशीनरी और उर्वशी का परस्पर बिना एक-दूसरी को देखे भी सब देख लेना, भोजपत्र का खो जाना और औशीनरी के हाथ लगना ये सब बातें नाटक मे दर्शक की रुचि बनाये रखती हैं। इस प्रकरण पर वात्स्यायन का प्रभाव है। कालिदास के पूर्ववर्ती भास और परवर्ती श्रीहर्ष मे स्वप्नवासवदत्ता, प्रियदर्शिका, रत्नावली आदि इन परिस्थितियो का खुल कर

मे कालिदास ने जिन मनोरजक पात्रो एव परिस्थितियो की सृष्टि की है वे उनकी मौलिक नाट्य प्रतिभा के प्रमाण हैं। यद्यपि ऊपर से देखने मे इसकी कथावस्तु ढीली, लचर दिखती है और द्वितीय तथा तृतीय अक मे कार्य की गति शिथिल दिखायी देती है। कथावस्तु को आगे बढाने की दृष्टि से इन अको का विशेष महत्व नही प्रतीत होता किन्तु वास्तव मे बात ऐसी नहीं है। ये सारे अक एक-दूसरे से सूक्ष्म तन्तु द्वारा जुडे हुये हैं और चाहे उर्वशी का चित्ररथ के साथ इन्द्र के पास जाना हो। चाहे उर्वशी का भोजपत्र पर प्रेमकथा लिखना या अचानक औशीनरी का आना या राजा का औशीनरी के आग्रह पर रोहिणी सयोगयुक्त चन्द्र का पूजन, या उर्वशी का छिप कर रानी को देखना प्रत्येक बात एक-दूसरी से सम्बद्ध है और एक स्थान तन्तु के विच्छिन्न हो जाने पर सारी कथा विच्छिन्न हो सकती है। प्रत्येक घटना ठीक स्थान पर है और अगली घटना की प्रेरक है। छोटे से छोटा वाक्य भी, भले ही वह प्रथम दृष्टि मे वैसा प्रतीत न हो, अगली घटना के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है। राजा का उपकार द्वारा उर्वशी का मन जीतना ही पर्याप्त होता, पर चित्ररथ के सामने उसका इन्द्रसखा ज्ञात होना उर्वशी के मन मे प्रेम की और अभिवृद्धि करता है और उसका यह कहना कि—

नतु वज्रिण एव वीर्यमेतद् विजयन्ते द्विपदोय दस्य पक्षा ।

उर्वशी के मन पर उसके गुणो के विषय मे भी प्रभाव उत्पन्न करता है। ये तीनो बातें मिल कर उसे इतना प्रेमाभिभूत कर देती हैं कि वह उसी के ध्यान मे डूबी रहने लगती है। यह तन्मयता नाटक मे उसकी भूल का कारण बनती है। और वह भूल उसके पुरूरवा से मिलन का निमित्त बन जाती है। अतिशय प्रेम के कारण वह राजा का अन्य किसी स्त्री को स्नेह दृष्टि से देखना सहन नही कर पाती और विद्याधरी की ओर उसे देखता देख कर क्रुद्ध होती है। यह क्रोध उसके रूठ कर अकेले चल देने का कारण है और अकेले अज्ञात प्रदेश मे चले जाना लता बनने का निमित्त होता है। लता बनना विरहोद्‌गारो को जन्म देता है। यही स्थिति सगमनीय मणि से मिलती है। मणि न केवल उर्वशी को पूर्व रूप मे लौटाती है अपितु उसके पुत्र 'आयुष्' के मिलन का भी कारण बनती है। इस प्रकार प्रत्येक छोटी घटना अगली घटना से जुडी हुई है।

औशीनरी की उपस्थिति प्रेम म तीव्रता तो उत्पन्न ही करती है राजा और उर्वशी के चरित्र को विकसित करने मे भी सहायक होती है। इस प्रकार इस नाटक मे कालिदास ने पूर्व-प्रचलित कथानक के रुचिमय अशो को हटाकर उसे अपनी प्रतिभा द्वारा अत्यन्त सुगठित और कलात्मक बना दिया है।

नाटक मे परिस्थितियो का चुनाव बडा स्वाभाविक हुआ है और उससे पात्रो के चरित्र विकास को बडी सहायता मिली है। जिस परिस्थिति मे पुरूरवा ने उर्वशी की रक्षा की वह बडी स्वाभाविक है। राजा का प्रतिदिन सूर्योपासना के लिये विमान द्वारा हेम-कूट पर जाना और उपासना के बाद जबकि हृदय निर्मल होता है, सहायता के लिये दौडना जितना सात्विक है, उतना ही स्वाभाविक भी। यह परिस्थिति शकुन्तला की भ्रमर पीडा से कई गुनी भयावह है क्योकि यहाँ उर्वशी पर जो शकुन्तला से कई गुना कोमल थी, प्राणो का ही सकट उपस्थित हुआ था, अत उसका कृतज्ञ होना अधिक स्वाभाविक है। उर्वशी अप्सरा थी, आश्रम कन्या नही; उसकी प्राण-रक्षा की गयी थी, केवल भ्रमर-बाधा का निवारण नही। अत यह प्रेम अभिज्ञान शाकुन्तलम की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। अत. स्वाभाविक ही था कि वह जाते-जाते एक बार पूरी दृष्टि-भर राजा को देख लेने के लिये लता मे अटकी हुई एकावली को छुडाने का बहाना लेती। अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे कवि ने यह परिस्थिति उत्पन्न की है—

दुर्भाङ्कुरेण चरण क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि दत्वा।

विदूषक को रहस्य बतलाकर उसे गुप्त रखने की बात भी अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे मिलती है। वहाँ भी दुष्यन्त विदूषक को प्रेम की बात बतला कर अन्त मे कह देता है—परिहास विजल्पित सखे परमार्थेन न गृह्यता वच। औशीनरी का निपुणिका द्वारा विदूषक से भेद जान लेना, राजा का मनोविनोद के लिये प्रमद वन मे जाना, वहाँ औशीनरी और उर्वशी का परस्पर बिना एक-दूसरी को देखे भी सब देख लेना, भोजपत्र का खो जाना और औशीनरी के हाथ लगना ये सब बातें नाटक मे दर्शक की रुचि बनाये रखती हैं। इस प्रकरण पर वात्स्यायन का प्रभाव है। कालिदास के पूर्ववर्ती भास और परवर्ती श्रीहर्ष मे स्वप्नवासवदत्ता, प्रियदर्शिका, रत्नावली आदि इन परिस्थितियों का खुल कर

उपयोग हुआ है। उर्वशी का भोजपत्र पर सन्देश लेखन शाकुन्तला के पद्मपत्र पर प्रणय-सन्देश लिखने से मिलता जुलता है। विक्रमोर्वशीयम् की इन चतुराइयों का ही प्रयोग और परिष्कृत रूप में कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में किया है। नाटक की सारी परिस्थितियां इसी प्रकार पात्रों के चारित्रिक विकास, उत्सुकता और कौतूहल की वृद्धि करने और मुख्य वस्तु को आगे बढ़ाने के लिये प्रयुक्त हुई हैं। प्रारम्भ और मध्य के समान नाटक की परिणति भी स्वाभाविक है। गृध्र द्वारा संगमनीय मणि को लेकर भाग जाना, आयुष् के मिलन का कारण बना है। इसमें उर्वशी के वियोग की समस्या भी सुलझ गयी है।

नाटक दृश्यों की दृष्टि से भी समृद्ध है। प्रारम्भ में ही हेमकूट पर उर्वशी और पुरूरवा का मिलन होता है। फिर स्वर्ग में लक्ष्मी-स्वयंवर का अभिनय कौमुदी स्नात मणिहर्म्य पृष्ठ पर नायक नायिका का पुनर्मिलन, फिर गन्ध-मादन और कुमारवन ये सारे दृश्य प्रणय-कथा के लिये अत्यन्त रुचिवर्धक हैं। साथ ही, उनकी विविधता भी दर्शक के मन को आकृष्ट करती है। प्रत्येक दृश्य जीवन से सम्पर्क रखने वाला और आकर्षक है।

काव्य सौष्ठव—विक्रमोर्वशीयम् की सब से महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है उसका काव्य-सौष्ठव। कालिदास प्रकृति के अद्वितीय चितेरे थे। वे जानते थे कि प्राकृतिक वातावरण प्रेमियों को कितना अधिक प्रभावित करता है! इसीलिये उन्होंने मेघदूत अभिज्ञान शाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीयम् तीनों की रचना प्रकृति की पृष्ठभूमि पर की। पुरूरवा के प्रेम का प्रारम्भ प्रकृति के खुले वातावरण में होता है और विरह-ताप के द्वारा उसका परिपाक भी प्रकृति के ही बीच हुआ है। चतुर्थ सर्ग में प्रकृति का वैभव चरमोत्कर्ष पर है। उन्होंने प्रकृति के प्रत्येक रूप और प्रत्येक चेष्टा का उपयोग नाटक में किया है। वे जानते थे कि प्रकृति की कौन सी क्रिया प्रणयी हृदय पर क्या प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। वियोगी पुरूरवा पर वसन्त-श्री कैसा करुण-मधुर प्रभाव डालती है! काव्य सौष्ठव और सौन्दर्य ग्रहण की उपेक्षा नायक का विक्षिप्त मस्तिष्क भी नहीं कर सका—

अग्रे स्त्री नख पाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयो-
र्बाला शोकमुपोढ रागं सुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।

ईषद् बद्ध रज कणाग्र कपिशा चूते नवा मजरी,
मुग्धत्व च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता ।

कितनी सूक्ष्म और व्यापक सौन्दर्य ग्राहिणी दृष्टि है कवि की। व मानव मन पर प्रकृति के पडने वाले प्रभाव के अद्वितीय चित्रकार हैं। डॉ० रायडर (Ryder) ने ठीक ही कहा है कि कालिदास का प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञान केवल सहानुभूति या सवेदना तक ही सीमित नही है अपितु वह वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णत. शुद्ध या निर्दोष भी है । व हर्म्य और कानन मे समान रूप से प्रसन्न दिखते है । शेक्सपियर को प्रकृति के अन्त.करण मे गहरे प्रविष्ट होने की सामर्थ्य थी, फिर भी वे मूलत. मानव हृदय के कवि थे किन्तु कालिदास को प्राकृतिक सौन्दर्य और मानव-मन पर समान अधिकार है। इसीलिये वे एक ओर चतुर्थ अक के मनोरम दृश्य-पटो की सृष्टि कर सके हैं और दूसरी ओर औशीनरी तथा उर्वशी के अन्तस्तम मे छिपी ईर्ष्या का चातुर्यपूर्ण उद्घाटन भी। उर्वशी के प्रथम प्रसग मे ही प्रेम था, बिना झेंपे प्रकटीकरण, राजा से सट कर बैठ जाना जिसके लिये उसे विदूषक की डॉंट तक खानी पडी, अपने सुखभोग के लिये पुत्र तक का परित्याग, ये बातें स्पष्ट करती हैं कि जो कवि शकुन्तला के भाल हृदय के मर्म को समझ सकता था वह स्वर्वेश्या की अन्तर्वृत्ति को भी उसी प्रकार चित्रित कर सकता था। इस नाटक की अनेक उत्प्रेक्षायें, कल्पनायें और स्वाभाविक प्रकृतिनिरीक्षण सस्कृत साहित्य के अमूल्य अश हैं। चतुर्थ अक के 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' (४-२८) 'कृष्ण सारच्छविर्योसौ' (४-३१) "उष्णालु शिशिर" (२ २३) "निपिञ्चन् माधवीमेताम्" (२-४) "अस्या सर्ग विधौ प्रजापतिर्भूत्" (१-४) आदि श्लोक इसके प्रमाण है। "कुसुमशयन न प्रत्यग्रम्" (३ १०) जैसे श्लोक कवि के मानव मनोवृत्ति ज्ञान के निदर्शन हैं।

[कालि]दास की शैली

[किसी प्राचीन] सवा[लि]समालोचक का कथन है—

वाल्मीके[र]जनि प्रकाशित गुणा व्यासेन लीलावती,
वैदर्भी कविता स्वय वृतवती श्री कालिदास वरम् ।

या सूताऽमरसिंहमाघधनिकान् सेयं जरानीरसा,
शून्यालङ्करणा स्खलन् मृदुपदा कं याजनं नाश्रिता।

"वैदर्भी कविता वाल्मीकि से उत्पन्न हुई और व्यास द्वारा पालपोस कर बड़ी की गयी। उसने स्वयं कालिदास का वरण किया। इससे अमरसिंह, माघ और धनिक पुत्र उत्पन्न हुये। अब वह वृद्धावस्था के कारण सौन्दर्यविहीन होकर तथा अलङ्कार शून्य गिरती-पड़ती जिस-तिस का सहारा पकड़ रही है।" यह कथन अक्षरशः सत्य है कि कालिदास के काव्य में वैदर्भी शैली अपने चरम सौन्दर्योत्कर्ष पर है। वैदर्भी के प्रमुख गुण हैं—समास से रहित अथवा अल्प समासों वाली शब्दावली, प्रसादगुण, सरल, सीधे अर्थानुसारी शब्द। जैसा कि काव्यादर्श में कहा है—

श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता,
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाश्रय. ॥

साहित्य-दर्पण के मत में माधुर्य व्यञ्जक वर्णों द्वारा ललित रचना, जिसमें कम समास हो या बिल्कुल समास न हो, वैदर्भी रीति कहलाती है।

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्प वृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

काव्य की समस्त शैलियों में वैदर्भी उत्तम है और काव्य में उसका सर्वोत्तम रूप उपलब्ध होता है। विक्रमोर्वशीयम् में भी इसका अपवाद नहीं है। इस सम्पूर्ण नाटक में अभिव्यक्ति की स्पष्टता, प्रवाह, प्रभावोत्पादकता और संगीतमयता के दर्शन होते हैं। साथ ही इन सब से आगे बढ़ कर सङ्केतात्मकता की कमी इस नाटक में नहीं है। 'अनुत्सेक विक्रमालङ्कारः' जैसे कथन सङ्केतात्मकता से नाटकीय सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक हुये हैं। उनकी उपमायें विक्रमोर्वशीयम् में भी उतनी ही प्रभावशाली हैं जितनी अन्य कृतियों में। इन उपमाओं का प्रयोग सदा चित्र की प्रभावोत्पादकता की अभिवृद्धि में सहायक हुआ है—

(१) वायव्यमस्त्रं शरधि पुनस्ते महोरग स्वभ्रमिव प्रविष्टम्।
(२) सखी भिर्याति संपर्क लताभिः श्रीरिवार्तवी।

ऐसे उदाहरणों से नाटक भरा पड़ा है—

काव्य म चित्र उपस्थित करने मे कालिदास बेजोड हैं। उनके काव्य के आधार पर अब तक न जाने कितने चित्र बनाये जा चुके हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के "ग्रीवाभङ्गाभिरामम्" आदि श्लोक के समान ही विक्रमोर्वशीयम् का यह वर्णन कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है ही भावानुकूलपद प्रयोग का भी सुन्दर उदाहरण है—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवी चूर्णी भवन्तो घना. ।
चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु जनयत्यन्यामिवारावलीम् ।
चित्रन्यस्तमिवाचल हयशिरस्यायामवच्चामर ।
यष्ट्यग्रे च समं स्थितो ध्वजपट. प्रान्ते च वेगानिलात् ।६

कालिदास भवभूति के समान कठिन शब्दो या लम्बे समासो मे विश्वास नही करते । वे बात को थोडे मे शब्दों मे इस प्रकार कह देते हैं कि उनका प्रभाव कई वाक्यो से भी अधिक होता है—यथा 'तस्यानुरागस्य ? तादृश आनुराग ? या "सखी वनस्ते किमुनार्द्र सौहृद. ।" आदि । कालिदास की शैल पात्रानुकूल बदलती रहती है इसलिये उसमे एकरसता या उबाने का दोष पैदा नहीं होने पाता । उदाहरणार्थ विदूषक के कथनों मे पौराणिक सन्दर्भो या पाडित्य प्रदर्शन का बाहुल्य है । वह प्राय' अपनी योग्यता की छाप बैठाने के यत्न में उपहास का पात्र बन जाता है । उनके नारी-पात्र सरल, सामान्य और रोजमर्रा की भाषा बोलते हैं। इस कारण उनके नाटक यथार्थ से दूर नहीं जाने पाते । उनके अलकार भी यथार्थ के अत्यन्त समीप रहते हैं। उपमान जैसे उनके दायें-बायें प्रयुक्त होने की प्रतीक्षा मे खडे रहते हैं । उनके लिये उन्हे कतई प्रयास नही करना पडता । उपमा के तो वे सिद्धहस्त कलाकार हैं । "महोत्पलं प्रत्युपमीव पद्मिनी (१-५), "सूत्र मृणालादिव राजहंसी (१-१८) "सगमे पूर्वदृष्टेव यमुनगङ्गया विता" (२-१५) "वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरूपस्थितोऽयम् (५-१६) । इस प्रकार उत्प्रेक्षा स्वभावोक्ति और अर्थान्तरन्यास के बडे सुन्दर उदाहरण विक्रमोर्वशीयम् मे मिलेंगे। विक्रमोर्वशीयम् की सूक्तियाँ भी सस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

कालिदास का व्यग्य और हास्य भी सस्कृत के अन्य नाटककारो की अपेक्षा अधिक शिष्ट और प्रभावकारी है । उसमें ग्राम्य दोष या पेटूपन का प्रदर्शन

नहीं है। उनका विदूषक का अवश्य यश-करा चन्द्र को देव व्रोड़ त लड्डू की याद आ जाती है–' भो एप मोदक खड सश्रीको राजा उदिनो द्विजानो नाम्" उनकी वेदियाँ विदूषक को उल्लू बनाने म रड। प्रवीण हैं। व अपना चतुरता से पर्याप्त मनोरजन भ। करता है। विदूषक स्वर आन। उपहास करके (वानर से अपनी उपमा देकर) तथा तत्काल नीति से बान क। उत्तर देकर ('दुरागतमिदानीं सवृत्तम्' आदि) दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींचता है।

कालिदास की परिष्कृत एव सुसस्कृत प्रसादमयी शैली, जिनका परिवेश उनकी स्वाभाविक उपमायें तथा उत्प्रेक्षाये एव अर्थानुसारिणी प्रवाहता करती है, छन्दों की विविधता जो नीरसता को दूर कर सकती है, विशद एव चित्रमय वर्णन, प्रकृति के मनोरम एव श्रेष्ठतम का अकन, मनोवृत्तियों एव अन्तर्द्वन्द्वों का यथार्थ निरूपण, साकेतिकता, सरस तथा तथ्यों का सयोजना इन सब बातों ने इस कलाकार को 'कविकुल गुरु' उपाधि को सत्य सिद्ध करके दिखा दिया है।

चरित्र-चित्रण

सस्कृत नाटकों की कथावस्तु इतिहास या पुराणो से ली गयी होती है और उसका कथा-बन्ध सीधा सादा होता है। अत उनमे पात्रो क चारित्रिक विकास के लिये प्रकरणादि की अपेक्षा कम अवकाश रहता है। विक्रमोर्वशीयम् के विषय मे तो यह कठिनाई और भी अधिक है क्योंकि इसके कई पात्र दिव्य हैं और दृश्य तथा परिस्थितियाँ भी अलौकिक हैं यहाँ तक कि उर्वशी, जिस पर सारा नाटक टिका हुआ है, स्वय अप्सरा है जिसे अतिमानवीय शक्ति प्राप्त है जिसके बल पर तिरस्करिणी का प्रयोग कर सकती है—स्वय अदृश्य रह कर दूसरो को देख सकती है, स्वय अश्रव्य रह कर दूसरो की बात सुन सकती है, बिना गर्भ के लक्षण प्रकट किये पुत्र को जन्म दे सकती है और जन्म देते ही उसे अन्य को सौंप निश्चिन्त रह सकती है। किन्तु इन सीमाओं के भीतर रह कर भी कालिदास ने चरित्रों के स्वाभाविक विकास का पर्याप्त ध्यान रखा है और उन्हें प्रतीक (type) और कठपुतली बनने से बचा लिया।

पुरूरवा—नाटक का नायक पुरूरवा धीरोदात्त प्रेमी है। वह बड़ा वीर

और परदुःखकातर है। इन्द्र जब तब उसकी सहायता मांगता है और उसके हाथ में अपनी सेना की बागडोर देकर निश्चिन्त हो जाता है। वह उर्वशी को केशी के कठोर पंजे से छुड़ाता है किन्तु अपनी विजय का सारा श्रेय महेन्द्र के प्रभाव को दे देता है। वह विनयी और निरभिमानी है। इसीलिये चित्ररथ कहता है "अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः"। वह अत्यन्त मृदुभाषी है और अन्यों को प्रसन्न करने वाले वाक्य बोलने में निपुण है। "यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययो" (१-९) आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। वह उर्वशी से प्रेम करता हुआ भी पूर्व पत्नी का सम्मान करता है। और जब वह औशीनरी से कहता है—

दातुं वा प्रभवसि माममन्यस्यै कर्तुमेव दासम् ।
नाहं पुनस्तथा त्वं यथाहि मां शङ्कसे भीरु।

तो उसके कथन पर दर्शक को अविश्वास नहीं होता। औशीनरी के उसका व्यवहार कभी अशिष्ट नहीं होता। इसके परिणामस्वरूप उर्वशी भी रानी का सम्मान करती है। वह शुद्ध अर्थ में प्रेमी है और एक स्थान पर विद्याधर कन्या की ओर देखने के अतिरिक्त उसमें अन्यत्र कहीं चारित्रिक दुर्बलता लक्षित नहीं होती। इस दुर्बलता का कलङ्क उसने चतुर्थ अङ्क के अनवरत अश्रुप्रवाह से धो डाला है। इस अंक में विरहाग्नि के ताप ने उसके स्नेह को और भी उज्ज्वल बना दिया है। वह त्यागी है और 'आयुष्' के लिये तुरन्त राज्य छोड़ने को प्रस्तुत हो जाता है।

इतना होने पर भी वह विशेष क्रियाशील नहीं दिखायी देता। प्रथम अङ्क को छोड़कर अन्यत्र कहीं उसके पराक्रम को प्रदर्शन का अवसर नहीं मिला है। चतुर्थ अङ्क में वह असहाय व्यक्ति की तरह केवल विलाप करता रहता है। उर्वशी को ढूंढने का कोई उपाय नहीं करता। कालिदास के सभी नायकों में यह दोष पाया जाता है। गृध्र द्वारा सङ्गमनीय मणि के हरण किये जाने पर अधिकारियों को आज्ञा देने के बदले वह अपने पद को भूल कर धनुष उठा कर दौड़ पड़ता तो अधिक स्वाभाविक दिखता है।

फिर भी अपने विनम्र और सरल स्वभाव तथा सच्चे प्रेमी के नाते वह दर्शक की सहानुभूति और प्रशंसा प्राप्त कर लेता है।

उर्वशी—उर्वशी इस रूपक की नायिका है। वह स्वर्वेश्या है, अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह अप्सराओं में सर्वाधिक सुन्दरी थी। इसीलिये पुरूरवस् उसे वेदाभ्यास-जड पुराण मुनि की रचना मानने को तैयार नहीं है। उसकी सहेलियाँ उसे "सुकुमार प्रहरणं महेन्द्रस्य प्रत्यादेशो रूपगर्विताया श्रिय, अलंकार स्वर्गस्य" मानती हैं। न केवल रूप अपितु उसका स्वभाव भी मृदु है। उसको सहजन्यायें, रम्भा, चित्रलेखा सब उसे आ जान से प्यार करती हैं। कृतज्ञता तथा गुण ग्राहकता उसके विशिष्ट गुण हैं। राजा के पराक्रम और उपकार के वशीभूत हो वह स्वर्ग, मातृप्रेम और सब कुछ छोड़कर पृथ्वी पर आकर रहने लगती है। वह वश्या होती हुई भी यथार्थ प्रेमिणी है। यदा-कदा वश्यावत् साहजिक कदम उठा लेती है। वह राजा से सटकर बैठ जाती है, प्रेम भी व्यक्त करती है किन्तु अपनी दुर्बलता के प्रति जागरूक भी है। इसलिये वह उठती है "अपहस्तितलज्ज एष मे व्यापार" प्रेमातिशय में उसका यह व्यवहार विशेष अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु कुलीनता और मर्यादा का वह सदा पालन करती है। औशीनरी के प्रति वह सदा सम्मानयुक्त व्यवहार करती है। ईर्ष्या का कहीं नाम तक उसमें नहीं है। तभी वह कहती है—"हला स्थाने खल्वियं देवी शब्देनोपचर्यते। न किमपि परिहीयते शच्या ओजस्विता या अन्तिम अंक में जब किसी को भी स्मरण नहीं रहता तब भी पुत्र को बड़ी माता को प्रणाम करने भेजती है—'एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व।' फिर भी वह एकनिष्ठ नारी के समान पति की नेत्र चाञ्चल्य सहा नहीं करती और राजा द्वारा विद्याधर कन्या को कामुक दृष्टि से देखने पर रूठ कर चली जाती है। कई समालोचकों ने उसके पुत्र-त्याग की आलोचना की है। राजा के वियोग का भय उसे ऐसा करने को बाध्य करता है। वास्तव में तिरस्करिणी का उपयोग इस रूपक की दुर्बलता है। नाट्य शास्त्र के अनुसार भी दिव्य पात्रों को मनुष्यों के संयोग में मानव के समान ही व्यवहार रखना चाहिये।

प्रेम के कारण उर्वशी ने अनेक कष्ट उठाये परिवार और स्वर्ग का त्याग-सहेलियों का वियोग, लतारूप में परिणति, पुत्र वियोग। सच्ची त्यागमयी

प्रेमिका के सारे गुण उसमे विद्यमान हैं और वह विवाहिता पत्नी के समान ही दर्शक का सम्मान प्राप्त कर लेती है।

विदूषक—विक्रमोर्वशीयम् का विदूषक विद्वान् किन्तु बुद्धू ब्राह्मण है। शास्त्रो के उदाहरण उसे ज्ञात है, सन्दर्भों से उसका परिचय है फिर भी निपुणिका उसे मूर्ख बनाकर उससे सारा रहस्य निकाल लेती है। वह असावधान भी है और भूर्ज-पत्र खोकर राजा के लिये सकट खडा कर देता है। अपने ब्राह्मण के प्रति वह सदा सावधान है और जब उर्वशी राजा से बात करती हुई उसकी ओर ध्यान नही दे पाती तो स्वय उससे कहता है "भवति राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणं किं न वन्द्यते।" इसी प्रकार वह अपनी मर्कटाकृति तथा विचित्र वेष से भी परिचित है। इसीलिये जब राजा कुमार से कहता है—"वत्स इतस्तव पितुः प्रियसखं ब्राह्मणमभिवन्दस्वे" तो वह बालक का सकोच दूर करने के लिये उपहास में कहता है—"किमिति शङ्किष्यते। आश्रमवास परिचित एव शाखामृग" राजा उसका सम्मान करता है। किन्तु क्रोध आने पर डाँटने से भी नही चूकता। भूर्जपत्र खो जाने पर वह कहता है—अहो सर्वत्र प्रमादी वैधेय' यद्यपि विदूषक किसी बात को गम्भीरता से नही ग्रहण करता। भूर्जपत्र के बारे मे राजा के पूछने पर उपहास मे कह देता है "गतमुर्वश्यामार्गेण।" यद्यपि यह कथन सत्य ही सिद्ध होता है। यह बात आकस्मिक है। विदूषक भी राजा को बनाने से नही चूकता। राजा द्वारा विरहव्यथा के दूरीकरण का उपाय पूछने पर बहुत देर तक समाधिपूर्वक चिन्तन के बाद वह यह उपाय बतलाता है—"स्वप्न समागमकारिणी निद्रा सेवता भवान्। अथवा तत्र भवत्या उर्वश्याः प्रतिकृतिमालिख्यावलोकयस्तिष्ठं।" वह उर्वशी से भी परिहास का अवसर हाथ से नही जाने देता। जब चित्रलेखा राजा से कहती है—'तद् यथेय मे प्रिय सखी स्वर्गेऽप्युत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्" तो वह तुरन्त बात काट देता है—"किवा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न वा अश्यते। न वा पीयते केवल मनिमिषैर्नयनै मीना विडम्ब्यन्ते।" औशीनरी द्वारा राजा को प्रेम के विषय मे छूट दिये जाने पर वह ताना मार ही देता है—"छिन्नहस्तो मत्स्ये पलायिते निर्विण्णो धीवरो भणति धर्मो मे भविष्यतीति"। भोजन-पान की चिन्ता उसे

भी अन्य विदूषकों के समान रहते हैं। यद्यपि वह पेटू नहीं है तो भी उसे ध्यान रसोई का रहता है। पूर्ण चन्द्र उसे खाँड का लड्डू प्रतीत होता है। उसे समाश्वासन स्वयं बुभुक्षित को मिले स्वस्ति वाचन जैसा लगता है "दिष्ट्या मयैव बुभुक्षितेन स्वस्तिवायनमुपलब्ध भवता समाश्वासनम्।" औशीनरी से सन्देश पाकर वह गद्गद हो जाता है। विदूषक के व्यंग्य और प्रत्युत्पन्न उत्तर नाटक भर में बिखरे हैं। वास्तव में विक्रमोर्वशीयम् का माणवक विदूषक प्रतीप (Type) नहीं है। वह स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाला सशक्त पात्र है और इस अर्थ में वह संस्कृत नाटकों के प्रायः विदूषकों से भिन्न है।

अन्य पात्र—अन्य पात्रों में औशीनरी और चित्रलेखा दो ही महत्वपूर्ण हैं। शेष केवल स्थानपूर्ति के लिये हैं। कथानक को जोड़ने और उसे आगे बढ़ाने के लिये उनकी उपस्थिति अनिवार्य है किन्तु उनमें कोई चारित्रिक विकास दृष्टिगोचर नहीं होता। औशीनरी राजमहिषी है और वह अपने पद के अनुकूल ही गौरव, गरिमा एवं औदार्य का प्रदर्शन करती है। अपने पति के प्रति उसके मन में असीम अनुराग है। इस दृष्टि से वह विशुद्ध पत्नी है। पति को अन्यमनस्क देखकर वह प्रियवयस्य से इसका कारण जानना चाहती है और जब निपुणिका विदूषक को मूर्ख बना कर रहस्यभेदन कर लेती है "कृतं मया भेदन भर्तुं रहस्य दुर्गस्य।" तो भी वह राजा पर क्रोध नहीं प्रकट करती किन्तु जब राजा को रँगे हाथ उर्वशी के साथ पकड़ लेती है, प्रेमपत्र भी उसके हाथ पड़ जाता है तो अवश्य हल्के कटाक्ष के साथ कहती है, "नास्तिभवतोऽपराधः। अहमेवात्रापराद्धाया प्रतिकूल दर्शना भूत्वाऽग्रतस्ते तिष्ठामि।" फिर भी वह अपने कोप को भीतर दबा लेती है और पति को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये 'पतिप्रसादन'व्रत का अनुष्ठान करती है। उसके शालीन व्यवहार के कारण पुरूरवा उसका इतना सम्मान करता है कि उसे देखकर उर्वशी को भी कहना पड़ता है, 'महान् खल्वैतस्याबहुमान' वह अपने गुरुतापूर्ण व्यवहार से उर्वशी का भी सम्मान अर्जित कर लेती है। वह स्वयं उर्वशी के मार्ग से हट जाती है। इतना ही नहीं, वह राजा को उसकी प्रेयसी के साथ मुक्त-प्रणय की अनुमति दे देती है और स्वयं उसको प्रेयसी के साथ प्रेमपूर्वक रहने का वचन देती है। विदूषक को उसकी इस प्रतिक्रिया पर

विक्रमोर्वशीयम् के पात्र

पुरुष

सूत्रधार : रंगमंच और नाटक निर्देशक
पारिपार्श्वक : सूत्रधार का सहायक अभिनेता
पुरूरवस् : प्रतिष्ठानपुर का राजा और नाटक का नायक
माणवक : राजा का विश्वास-पात्र, विदूषक
आयुष् : पुरूरवा का पुत्र
नारद : ब्रह्मा के पुत्र देवर्षि
चित्ररथ : गन्धर्वों का राजा
कञ्चुकी : राजमहल के अन्तःपुर का प्रमुख कर्मचारी व ब्राह्मण
पल्लव : भरत मुनि का शिष्य
गालव : भरत मुनि का शिष्य

नारी

उर्वशी : नाटक की नायिका, दिव्य अप्सरा
चित्रलेखा : उर्वशी की सखी अप्सरा
सहजन्या : अप्सरा
रम्भा : अप्सरा
मेनका : अप्सरा
अप्सरस: : अप्सरा
औशीनरी : पुरूरवस् की राजमहिषी
निपुणिका : रानी औशीनरी की परिचारिका
तापसी : तपस्विनी जिसका वास्तविक नाम सत्यवती है
परिजन : रानी की अन्य परिचारिकायें
यवनी : राजा की परिचारिका

अन्य पात्र

इन्द्र : स्वर्ग का स्वामी
केशी : दानवों का राजा
भरत : नाट्याचार्य देव-मुनि

विक्रमोर्वशीयम्

प्रथमोऽङ्कः

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः ।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
सः स्थाणुः स्थिर-भक्ति-योग-सुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः ॥१॥

अन्वयः—य वेदान्तेषु रोदसी व्याप्य स्थितम् एकपुरुषम् आहुः, यस्मिन् अनन्यविषयः ईश्वर इति शब्दः यथार्थाक्षरः, यः च नियमितप्राणादिभिः मुमुक्षुभिः अन्तः मृग्यते, सः स्थिर-भक्ति-योग-सुलभः स्थाणुः वः निःश्रेयसाय अस्तु ।

व्याख्या—महाकविः कालिदासः ग्रन्थस्य निर्विघ्नसमाप्त्यर्थम् आदौ इष्टदेवतास्मरणपूर्वकम् आशीर्वादात्मकं मङ्गलं प्रयुङ्क्ते वेदान्तेष्विति । य शिव वेदान्तेषु उपनिषत्सु रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्याप्य आपूर्य स्थितं विद्यमान एकपुरुषम् एकश्चासौ पुरुष इति एकपुरुषः, तम् अद्वितीयं सर्वव्यापिनं च आहुः कथयन्ति, यस्मिन् शिवे अनन्यविषयः एतन्मात्रवाचकः न अन्यः विषय अस्ति यस्य सः शिवातिरिक्तार्थाप्रतिपादको वा ईश्वरः ईष्टे इति ईश्वरः प्रभुः सर्वातिशायी वा इति शब्दो यथार्थाक्षरः अर्थम् अनतिक्रम्य विद्यन्ते अक्षराणि यस्मिन् सः सत्यार्थबोधकः; यः शिवः च नियमितप्राणादिभिः नियमिताः प्राणादयः यैस्तैः रुद्धप्राणादिवायुभिः, प्राणायामपरायणैर्वा मुमुक्षुभिः संसारान्मुक्ति कामयमानैः जनैः अन्तः स्वात्मनि मृग्यते अन्विष्यते; सः स्थिरभक्तियोगसुलभः भक्तिश्च योगश्च इति भक्तियोगौ, स्थिरौ च तौ भक्तियोगौ इति स्थिर-भक्ति-योगौ ताभ्यां सुलभः अथवा भक्ति-रूपो योगः भक्तियोगः स्थिरश्चासौ भक्ति-योग इति स्थिर-भक्ति-योगः तेन सुलभः अव्यभिचारिण्या भक्त्या निश्चलेन च चित्तसंयमरूपेण योगेन प्राप्तुं शक्यः किं वा स्थिरेण भक्तिरूपेण योगेन

प्राप्य । स्थाणु शिव य युष्माक नि श्रेयसाय कल्याणाय मोक्षाय वा अस्तु प्रभवतु ।

व्याकरणम्—रोदसीति रोदस्शब्दस्य द्विवचनान्त रूपम् । उक्त चामर कोशे "भूद्यावौ रोदस्यौ रोदसी च ते" इति । ईश्वर —इच्टे इति 'स्थेशभास पिसकसोवरच् (३ २ १७५) इति सूत्रेण वरच् प्रत्यय । अथवा अश्नुते व्या प्नोतीति औणादिको वरट्, उपधाया ईत्व च । स्थाणु —सदा तिष्ठतीति स्थाणु 'स्थो णु'रित्यौणादिकोणु प्रत्यय । उक्तञ्चामरकोशे "व्योमकेशो भवो भीम स्थाणु रुद्र उमापति "। नि श्रेयसाय—निश्चित श्रेय नि श्रेयसमति "अचतुर विचतुर" (५ ४ ७७) इत्यादि सूत्रेणाच् प्रत्ययान्त निपातितम् । "मुक्ति कैवल्यनिर्वाणश्रेयो नि श्रेयसामृतम्" इत्यमर । अत्र "तुमर्थाच्च भाव वचनादिति" (२ ३-१५) चतुर्थी । नि श्रेयस ददातु इत्यर्थ । चतुर्थ्या निमित्त त्वमर्थ ।

छन्द —अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्द । तल्लक्षणञ्च ' सूर्याश्वैमसजस्तत सगुरव शार्दूलविक्रीडितम् ।' यस्य पादेषु मकारसकारौ, जकारसकारौ तकारौ गकारश्च भवन्ति, द्वादशभि सप्तभिश्च वर्णैर्यतिर्भवति तद्वृत्त शार्दूलविक्री डितम् ॥१॥

अनुवाद—उपनिषद् ग्रन्थ जिसे पृथ्वी और आकाश को व्याप्त कर रहने वाला सर्वप्रधान पुरुष बतलाते हैं, जिसके लिये प्रयुक्त होने वाला ईश्वर यह शब्द अन्य किसी के लिये प्रयुक्त न होने के कारण यथार्थ (सार्थक) है, मोक्ष की कामना करने वाले लोग प्राणायामादि साधनों के द्वारा जिसे अपने हृदय में ढूंढते हैं, और जो निश्चल भक्ति योग द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है, वह शिव तुम सबको नि श्रेयस (कल्याण या मोक्ष) प्रदान करे ॥१॥

टिप्पणी—अनन्य—न अन्य विषय अस्ति यस्य स । बहुव्रीहि समास । यथार्थाक्षर —अर्थम् अनतिक्रम्य इति यथार्थम् । अव्ययीभाव । यथार्थम् अक्षराणि यस्य स । बहु० समास ।

स्थिरभक्ति०—भक्तिश्च योगश्च इति भक्ति-योगौ । स्थिरौ च तौ भक्ति-योगौ इति स्थिरभक्तियोगौ । ताभ्या सुलभ अथवा भक्तिरूपो योग भक्तियोग । स्थिरश्चासौ भक्तियोग इति स्थिरभक्तियोग तेन सुलभ ।

छन्द—इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। जिसके प्रत्येक पाद में मगण, सगण, जगण, सगण, तगण और एक गुरु होता है तथा बारह और सात वर्णों पर यति होती है उसे शार्दूलविक्रीडित कहते हैं।

वेदान्तेषु—सामान्यतया आजकल वेदान्त शब्द का अर्थ शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद समझा जाता है किन्तु कालिदास शंकर से पूर्ववर्ती थे। अतः उनके द्वारा प्रयुक्त वेदान्त का तात्पर्य भारतीय दर्शन की एक शाखा (वेदान्त) नहीं हो सकता। प्रतिपाद्य विषय तथा शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसका अर्थ वेदों का अन्तिम भाग (उपनिषद्) मानना ही उचित है।

एकपुरुषम्—शरीर में निवास करने वाले या अन्तः को पूरण करने वाले को पुरुष अथवा आत्मा कहते हैं। "पुरिषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य" निरुक्त २-३-१ तथा "वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" तैत्ति० आर० १०-११-३१। 'स एको य एकः स रुद्रो यो रुद्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान् महेश्वरः' अथर्वशिर उपनिषद्।

व्याप्य···रोदसी—"स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्" ऋग्० १०-९०-१।

स्थाणुः—स्थाणु शब्द का अर्थ है स्थिर अर्थात् न चलने वाला, शाश्वत। इसी अर्थ में यह शब्द शिव का वाचक है। कुछ लोगों के मत में तपश्चर्या में सदा खड़े रहने के कारण शिव का यह नाम पड़ा। पुराणों में कहा है—

ततः प्रभृति विश्वात्मा न प्रसूते शुभाः प्रजाः।
स्थाणुवन्निश्चलो यस्मात् स्थितः स्थाणुरतः स्मृतः॥

तथा तैत्तिरीयोपनिषत् में—'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' तथा कठवल्ली में 'ईशानो भूत भव्यस्य स एवाद्य स उश्वः' बतलाया है।

स्थिरभक्ति०—वेदप्रोदितफलावश्यंश्रद्धाभाव निश्चयःश्रद्धा अर्थात् वेद के द्वारा बतलाये हुए फल की अवश्यभाविता पर विश्वास श्रद्धा है और श्रद्धापूर्वक शिव का स्मरण भक्ति। योग की परिभाषा कैवल्योपनिषत् ने इस प्रकार दी है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमति विस्तरेण। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) मारिष! इतस्तावत्।

(प्रविश्य)

पारिपार्श्वकः—भाव! अयमस्मि।

सूत्रधारः—मारिष! परिषदेषा पूर्वेषां कवीनां दृष्ट-रसप्रबन्धा। अहमस्यां कालिदासग्रथितवस्तुना विक्रमोर्वशीयेन नाम नवेन त्रोटकेन उपस्थास्ये। तदुच्यतां पात्रवर्गः स्वेषु स्वेषु पाठेषु अवहितैर्भवितव्यम्।

पारि०—यथाज्ञापयति भावः (इति निष्क्रान्तः)

सूत्र०—यावदिदानीमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि (प्रणिपत्य)

प्रणयिषु वा दाक्षिण्यादथवा सद्-वस्तु-पुरुषबहुमानात्।
शृणुत मनोभिरवहितैः क्रियामिमां कालिदासस्य ॥२॥

व्याख्या—नान्द्यन्ते—नान्दीपाठानन्तरमित्यर्थः। नान्दी च "आशीर्नमस्क्रियारूपः श्लोकः काव्यार्थसूचकः।"

सूत्रधार—सूत्रं नाटकीयक्थारूपं धारयतीति सूत्रधारः नटप्रधानः। उक्तञ्च सङ्गीतसर्वस्वे "वर्णनीयतया सूत्र प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते।" अलमति०—एतावानेव नान्दीप्रयोगः समीचीनः नास्यातिविस्तरः कार्यः। विस्तर इति विपूर्वकात् स्तृधातोरप् प्रत्ययः।

नेपथ्याभिमुखमवलोक्य—नेपथ्यस्य यवनिकायाः संमुखं दृष्ट्या नेपथ्य लक्षणन्तु 'कुशीलवकुटुम्बस्य स्थली नेपथ्य उच्यते।' सा च यवनिकान्तर्वेषपरिग्रहभूमिः।

मारिषः पारिपार्श्वकः सूत्रधारस्य समीपवर्ती नटविशेषः। स च सूत्रधारेण मारिष इति वाच्यः। तथोक्तम् 'सूत्री नटेन भावेति तेनासौ मारिषेति च।' इतः अस्मिन् स्थाने। तावदिति वाक्यालङ्कारे। आगच्छेति शेषः।

पारिपार्श्वकः— परिपार्श्वं वर्तते इति पारिपार्श्वकः सूत्रधारात् किञ्चिन्न्यूनो नटः । भाव इति सूत्रधारस्य बहुमानसूचकं सम्बोधनम् । तथाहि 'सूत्रधारं वदेद्भावः इति वै पारिपार्श्वकः ।' अयमस्मि भवदाज्ञामनुष्ठातुमुपस्थितोऽस्मीत्यर्थः ।

सूत्र०—मारिषेति-एषा परिषद् कलाविदां सभा पूर्वेषां भास-सौमिल्लादीनां कवीनां दृष्टरसप्रबन्धा दृष्टाः अवलोकिताः रसमयाः प्रबन्धाः काव्यबन्धाः नाट्यप्रयोगाश्च यया तादृशी विद्यते । रसप्रबन्धेति मध्यम पद-लोपी समासः । अद्य-अस्यां परिषदि कालिदासेन ग्रथितं निबद्धं वस्तु कथाप्रबन्धः यस्य तेन कालिदासविरचितेन नवेन त्रोटकाख्यरूपकेण उपस्थास्ये सज्जो भूत्वोपस्थितो भविता । त्रोटकञ्च 'सप्ताष्ट नव पञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम् । त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम् ।' तत् उच्यतां पात्रवर्गो नटीनटसमूहः स्वेषु पाठेषु नेपथ्यरचनोक्तिप्रत्युक्तिव्यवहारेषु अवहितैः सावधानैः भवितव्यम् ।

पारि०—यथाऽऽज्ञापयति भावः । प्रस्तुतोऽहं भावस्य वचनमनुष्ठातुमित्यर्थः । (इति निष्क्रान्तः—रङ्गभूमितो गतः ।)

सूत्र०—(प्रणिपत्य विनतभावेनाभिवाद्य प्रेक्षकान्) यावत् पात्रवर्गः सज्जो भवति तावदित्यर्थः । आर्याः श्रेष्ठजनाः विदग्धाः कलाकोविदाश्च मिश्राः पूज्यास्तान् सर्वान् विज्ञापयामि निवेदयामि ।

प्रणयिषु इति—प्रणयः अस्ति येषामिति प्रणयिनः प्रीतिपात्राणि तेषु प्रार्थनासहितेषु । स्वविद्याविशेषं पश्यतेति प्रार्थ्यमानेष्वस्मासु वा इत्यभिप्रायः । दाक्षिण्यात् दक्षिणस्य भावः दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्, तस्माद् वा सद्वस्तु पुरुषबहुमानाद् सद्वस्तु च पुरुषः नायकश्चेति सद्वस्तुपुरुषौ तयोर्बहुमानः आदरस्तस्मात् प्रशस्तकथानायकगौरवाद् जनाः प्रेक्षकाः कालिदासस्य कवेः इमां क्रियां कृतिं प्रयोज्यमानां अवहितैः सावधानैः मनोभिः शृणुत श्रवणविषयीं कुरुत ।

युष्मत्कृपाकाङ्क्षिषु अस्मासु आनुकूल्यप्रदर्शनाय, विक्रमोर्वशीयप्रीतिकया प्रत्यादरप्रकटनाय वा भवन्तः सावधानतया कालिदासकृतमिदं त्रोटकमस्माभिः प्रयोज्यमाणं श्रोत्रपथमानीय मनोरञ्जनं कुर्वन्त्वित्यभिप्रायः ।

आर्याच्छन्द इदम् । तल्लक्षणन्तु "यस्या प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।" इति ।२।

(नान्दी समाप्त होने पर)

अनुवाद—

सूत्रधार—बस, बहुत अधिक की आवश्यकता नहीं । (नेपथ्य की ओर देख कर) मारिष, इधर आओ ।

पारिपार्श्विक—श्रीमन्, यह आया ।

सूत्र०—मारिष ! इस परिषद् ने पूर्ववर्ती कवियों के रसमय नाटक देखे हैं । मैं इसर सम्मुख कालिदासविरचित विक्रमोर्वशीय नामक नवीन त्रोटक लेकर उपस्थित होने वाला हूँ । इसलिए पात्रों से कह दो कि अपने अपने पाठों में सावधान रहें ।

पारि०—जैसी आपकी आज्ञा (जाता है) ।

सूत्र०—(विनयपूर्वक झुककर) मैं तब तक आप महानुभावों से निवेदन करता हू कि आप लोग अपने प्रेमी पात्रों के प्रति स्नेह के कारण अथवा श्रेष्ठ कथानस्तु और नायक के प्रति आदर भावना के कारण कालिदास का इस कृति का सावधान चित्त से श्रवण कीजिये ।२।

टिप्पणी—नान्दी—आशीर्वाद, नमस्कार और मगल से युक्त वाक्य या श्लोक जो नाटक की कथा की ओर भी सकेत करे, नान्दी कहलाता है । मातृगुप्ताचार्य का मत है—

आशीर्नमस्क्रियारूप श्लोक काव्यार्थसूचक ।
नान्दीति कथ्यते—

बन्द हो गया और केवल नान्दी (मंगलपाठ) की प्रथा शेष रह गयी। विश्वनाथ भट्ट ने कहा है—

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम्।
कथनं कवि-संज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुखम्।

—साहित्यदर्पण-६-२१

अर्थात् सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग, उसके बाद सभा (प्रेक्षकवर्ग) की प्रशंसा, तब कवि और नाटक के नाम की सूचना तथा आमुख होता है।

सभापतिः, सभा, सभ्या, गायका, वादका अपि।
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात्॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत् स प्रकल्प्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते॥

—भावप्रकाश-७वाँ अधिकार

अर्थात् सूत्रधार, नट, नटी, दर्शक, गायक, वादक, राजा एवं परिषद् के प्रमुख सदस्य ये सब परस्पर एक दूसरे का मनोरंजन करते हुए जहाँ स्वयं भी प्रसन्न होते हैं उस स्थान को रङ्ग कहते हैं। उस रङ्ग में जो कार्य सर्वप्रथम किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये॥

—साहित्यदर्पण ७-२२-२३

भाव-प्रकाशन के सप्तम अधिकार में नान्दी शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। प्रथम नन्दी नामक शिव के वाहन बैल से सम्बन्धित। जगत् के प्रारम्भ में नृत्य करते हुए वृषभध्वज शिव की कल्पना में उनका नन्दी वृष आया और उन्हें उत्फुल्लित बना गया। उस रूप में उसकी पूजा नान्दी कहलाती है।

दूसरे जो क्रिया नाटक के प्रारम्भ में देवतादिकों की स्तुति या मंगल के पाठकों द्वारा नन्दित (अभिनन्दित) होती है वह नान्दी कहलाती है—

आर्याच्छन्द इदम् । तल्लक्षणन्तु "यस्या प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।" इति ।२।

(नान्दी समाप्त होने पर)

अनुवाद—

सूत्रधार—बस, बहुत अधिक की आवश्यकता नहीं । (नेपथ्य की ओर देख कर) मारिष, इधर आओ ।

पारिपार्श्विक—श्रीमन्, यह आया ।

सूत्र०—मारिष ! इस परिषद् ने पूर्ववर्ती कवियों के रसमय नाटक देखे हैं । मैं इसके सम्मुख कालिदासविरचित विक्रमोर्वशीय नामक नवीन त्रोटक लेकर उपस्थित होने वाला हूँ । इसलिए पात्रों से कह दो कि अपने-अपने पाठों में सावधान रहें ।

पारि०—जैसी आपकी आज्ञा (जाता है) ।

सूत्र०—(विनयपूर्वक झुककर) मैं तब तक आप महानुभावों से निवेदन करता हूँ कि आप लोग अपने प्रेमी पात्रों के प्रति स्नेह के कारण अथवा श्रेष्ठ कथावस्तु और नायक के प्रति आदर भावना के कारण कालिदास की इस कृति को सावधान चित्त से श्रवण कीजिये ।२।

टिप्पणी—नान्दी—आशीर्वाद, नमस्कार और मंगल से युक्त वाक्य या श्लोक जो नाटक की कथा की ओर भी संकेत करे, नान्दी कहलाता है । मातृगुप्ताचार्य का मत है—

आशीर्नमस्क्रियारूप श्लोक काव्यार्थसूचक ।
नान्दीति कथ्यते—

प्राचीन काल में रङ्ग अर्थात् प्रेक्षागृह और मञ्च सम्बन्धी विघ्नों की शान्ति के लिये नट लोग कुछ मंगलकारी गायन-वादन आदि का आयोजन करते थे । इस क्रिया के प्रत्याहार (तन्त्री, भाण्ड आदि को लाकर जमाना) आदि १२ अंग थे । नान्दी इनमें से एक था । इन सारी बातों को पूर्वरङ्ग कहते थे । धीरे धीरे पूर्वरङ्ग की शेष बातों (तैयारी सम्बन्धी बातों) का उल्लेख

बन्द हो गया और केवल नान्दी (मगलपाठ) की प्रथा शेष रह गयी। विश्वनाथ भट्ट ने कहा है—

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः सभापूजा ततः परम्।
कथनं कवि-संज्ञादेर्नाटकस्याप्यथामुखम्।

—साहित्यदर्पण-६-२१

अर्थात् सर्वप्रथम पूर्वरङ्ग, उसके बाद सभा (प्रेक्षकवर्ग) की प्रशसा, तब कवि और नाटक के नाम की सूचना तथा आमुख होता है।

सभापतिः, सभा, सभ्या, गायका, वादका अपि।
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात्॥
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत् स प्रकल्प्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते॥

—भावप्रकाश-७वाँ अधिकार

अर्थात् सूत्रधार, नट, नटी. दर्शक, गायक, वादक, राजा एव परिषद् के प्रमुख सदस्य ये सब परस्पर एक दूसरे का मनोरंजन करते हुए जहाँ स्वयं भी प्रसन्न होते हैं उस स्थान को रङ्ग कहते हैं। उस रङ्ग में जो कार्य सर्वप्रथम किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि।
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये॥

—साहित्यदर्पण ७-२२-२३

भाव-प्रकाशन के सप्तम अधिकार में नान्दी शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। प्रथम नन्दी नामक शिव के वाहन बैल से सम्बन्धित। जगत् के प्रारम्भ में नृत्य करते हुए वृषभध्वज शिव की कल्पना में उनका नन्दी रूप आया और उन्हें उत्फुल्लित बना गया। उस रूप में उसकी पूजा नान्दी कहलाती है।

दूसरे जो क्रिया नाटक के प्रारम्भ में देवतादिकों की स्तुति या मंगल के पाठकों द्वारा नन्दित (अभिनन्दित) होती है वह नान्दी कहलाती है—

नन्दी वृषो वृषाङ्कस्य जगदादौ जगत्पतेः ।
नृत्यत. कल्पना योगाज्जगाम किल रङ्गताम् ॥
देवतादि-नमस्कार-मङ्गलारम्भ पाठकै. ।
सा क्रिया मन्यते नाट्यारम्भे नान्दीति सा स्मृता ॥

साहित्य दर्पण में भी कहा है—

आशीर्वचनसयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीना तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥
माङ्गल्य-शङ्ख-चन्द्राब्ज-कोक-कैरव-शसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥

मगलसूचक शंख, चन्द्र, कमल, कोक, कैरव आदि का उल्लेख करने वाली, आशीः या मगल की आशसा करने वाली नान्दी ८ या १२ पदों की होनी चाहिये ।

नान्दी के पदों की गणना के कई प्रकार हैं । श्लोक के पाद को भी पद कहते हैं और सुबन्त या तिङन्त को भी । कुछ लोग श्लोक के भीतर के वाक्यों को पद मानते हैं—

श्लोकपादपद केचित् सुप्तिङन्तमथापरे ।
परेऽवान्तरवाक्यं च पदमाहुर्विशारदाः ॥

—नाट्यशास्त्र

यह नान्दी दो प्रकार से की जाती थी । नाटक के उल्लेख से पूर्व नटों द्वारा । यह नटों की अपनी बनायी हुई होती थी । उसके बाद ही सूत्रधारादि नट दर्शकों के सामने आते थे । इसीलिए पुराने नाटकों में "नान्द्यन्ते सूत्र-धारः" ऐसा लिखा मिलता है । बाद में नाटककार स्वयं भी नाटक के प्रारम्भ मे नान्दी लिखने लगे और तब नट लोग अपनी नान्दी करने के बाद दर्शकों के सामने आकर ग्रन्थकर्ता द्वारा लिखित नान्दी का भी पाठ करने लगे । इसलिए बाद के नाटकों में नान्दी के बाद "नान्द्यन्ते सूत्रधार." लिखा जाने लगा । नाट्यदर्पण के चतुर्थ विषय म कहा है —

"नान्दी च पूर्वरङ्गाङ्गानां द्वादशमङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षिका । तेन 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इत्यस्य सकलपूर्वरङ्गाङ्गानि तु येषांचिल्लोक-प्रसिद्धत्वात्,

केषाञ्चिन्निष्फलत्वात्, केषाञ्चिदवश्यभावित्वाच्च न लक्ष्यन्ते । नान्दी तु अवश्य भावित्वान्मङ्गलाभिधानपूर्वकत्वाच्च शुभकृत्यारम्भस्येति लक्षिता । अतएव रुयो रूपकारम्भे 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इति पठन्ति । यत्र तु पश्चिक्ता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्ग सूत्रणा कर्तृ कृता द्रष्टव्या ।

सूत्रधार, स्थापक और पारि पार्श्वक आदि नान्दी पाठ करते हैं ।

प्रस्तुत नान्दी में देवस्तुति के साथ नाट्यवस्तु का भी सङ्केत है । पृथ्वी और आकाश को व्याप्त कर अर्थात् दोनों जगह चलने वाला एक पुरुष पुरुरवा ईश्वर (राजा) है जिसे मुमुक्षु (राक्षस के चंगुल से छूटने की इच्छा करने वाली अप्सरायें) ढूँढती हैं और स्थिर भक्ति से अन्त में पा लेती हैं । ऐसी कथावस्तु-सूचक नान्दी पत्रावली कहलाती है—

यस्या वीजस्य विन्यासो ह्यभिधेयस्य वस्तुन ।
श्लेषेण वा समासोक्त्या नाम्ना पत्रावली तु सा ।

—नाट्यदर्पण

सूत्रधारः—'नाट्यस्य यदनुष्ठान तत् सूत्र स्यात् सबीजकम् 'सूत्र सबीजक नाट्यानुष्ठान धारयति प्रवर्तयतीति सूत्रधार. ।

सम्पूर्ण नाट्यानुष्ठान का प्रवर्तक । कुछ लोगों के मत से कठपुतलियों के नृत्य के सूत्र से और कुछ लोगों के अनुसार नाट्यगृह के निर्माण में सूत्र (मापक सूत्र) के आधार पर यह नाम पड़ा है । दोनों ही प्रसगों में सूत्रधार प्रमुख व्यक्ति होता था । मातृगुप्त ने सूत्रधार के गुण ये बतलाये हैं—

चतुरातोद्य-निष्णातोऽनेक-भाषा-समावृत ।
नाट्य-प्रयोग-निपुणो नानाशिल्पकलान्वित ॥
अवधाय प्रयोक्ता च योक्तॄणामुपदेशक ।
एव गुण-गणोपेत सूत्रधारो निगद्यते ॥

नेपथ्याभि०—नेपथ्य शब्द के अनेक अर्थ हैं । १—"आकल्पवेषौ नेपथ्य प्रतिकर्म प्रसाधनम्" इस अमरकोशीय अर्थ के अनुसार नेपथ्य वेश तथा सज्जा को कहते हैं । २—"नेपथ्य तु प्रसाधने रङ्गभूमौ वेषभरे" इस हेमचन्द्रीय मत से रङ्गभूमि को भी नेपथ्य कहते हैं । "रङ्गभूमौ तु नपथ्य स्यात् प्रसाधने" से विश्वलोचन भी रङ्गभूमि और प्रसाधन दोनों के समर्थक हैं । "नेपथ्य स्या-

जवनिका' के अनुसार यह शब्द पर्दे का वाचक है। वास्तव में यहाँ इसका अर्थ है पर्दे के भीतर वेष परिवर्तन का स्थान। "अन्तर्जवनिकामाहुर्नेपथ्यम्।"

मारिप—स्थापक नामक सूत्रधार के समकक्ष नट होता है। इसे पारिपार्श्वक भी कहते हैं क्योंकि यह सूत्रधार के परिपार्श्व (समीप) में ही रहता है। रंगमञ्च पर काव्यवस्तु (नाटक) की स्थापना करने के कारण ही इसका नाम स्थापक पड़ा है—

पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते।
प्रविश्य तद्वदपर काव्यमास्थापयेन्नट ॥
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयो।
सूचयद् वस्तु बीज वा मुख पात्रमथापि वा।

—साहित्यदर्पण

जब सूत्रधार पूर्वरङ्ग (नान्दी आदि) करके चला जाता है तब स्थापक या पारिपार्श्वक का प्रवेश होता है और वह कथावस्तु, उद्देश्य अथवा पात्र की सूचना देकर नाटक को जमाता है। यदि नाटकीय वस्तु दिव्य होती है तो वह दिव्य भूमिका में और यदि अदिव्य हो तो मानव वेष में और यदि दिव्यादिव्य हो, दोनों में से किसी का भी वेष बनाकर आ सकता है। भरत ने भी कहा है—

सूत्रधारस्य पार्श्वे च प्रवदन् कुरुतेऽर्थनाम्।
काव्यार्थसूचनालाप स भवेत् पारिपार्श्वक ॥

अन्यत्र कहा है—मान्यो भाव समुद्दिष्ट किञ्चिदूनस्तु मारिष।

वह नट (सूत्रधार) का भाव और उससे कुछ कम (पारिपार्श्वक) को मारिष कहकर सम्बोधन किया जाता है।

मारिष शब्द की व्युत्पत्ति 'मृष्' धातु से की जाती है। 'मर्षणात् सहनान्मारिष हिंसा निवारणाद्।' "शब्दार्णव" कोष में उसे 'मार्ष' भी कहा है।' सूत्रधारो नटो मुनेमार्ष वाऽथ विदूषक ।"

त्रोटक—काव्य वेम ने त्रोटक के स्थान पर 'नाटक' पाठ स्वीकार किया

1 साहित्यदर्पण ने त्रोटक की परिभाषा इस प्रकार दी है—

सप्ताष्ट-नव-पञ्चाङ्कं दिव्य-मानुष-संश्रयम् ।
त्रोटकं नाम तत् प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम् ॥

त्रोटक में सात, आठ, नौ या पाँच अङ्क होते हैं । इसमें दिव्य और मानुष दोनों प्रकार के पात्र होते हैं । प्रत्येक अङ्क में विदूषक होता है । इस प्रकार इसका प्रमुख रस होता है शृङ्गार । विदूषक प्रत्येक अङ्क में न भी हो तो भी शृङ्गार प्रमुख रस होता है । शेष सब बातें नाटक के समान होती हैं ।

आर्यमिश्रान्— मिश्र शब्द का प्रयोग सम्मान प्रदर्शन के लिये किया जाता है । 'मिश्राः पूज्या वा' इस अर्थ में यह शब्द सदा बहुवचनान्त होता है ।

विक्रमोर्वशीयेन–विक्रम. (पुरूरवा) च उर्वशी च विक्रमोर्वश्यौ । ते अधिकृत्य कृत त्रोटक विक्रमोर्वशीयम् । "शिशु-क्रन्द-यम सभ-द्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः" (४-३ ८८) के द्वन्द्व समास होने के कारण विक्रमोर्वशी शब्द के आगे छ (ईय) होकर यह शब्द बना है । काटयवेम ने भी 'विक्रमम् उर्वशीं चाधिकृत्य कृत नाटकम्' यही व्युत्पत्ति दी है और कहा है, 'विक्रमशब्दः पुरूरवः सञ्ज्ञेति सम्प्रदायः" विल्सन ने (Theatre of the Hindus) (पृष्ठ १३२) में कहा है कि यद्यपि विक्रम शब्द शौर्य का बोधक है किन्तु 'कवि-स्वातन्त्र्य' के कारण वह शूर का बोधक मान लिया गया है । वे भी द्वन्द्व समास के बाद छ प्रत्यय मानते हैं । दूसरी व्युत्पत्ति है 'विक्रमेण गृहीता उर्वशी विक्रमोर्वशी । तामधिकृत्य कृत नाटक विक्रमोर्वशीयम् ।' इसमें भी उपर्युक्त सूत्र से ही 'छ' प्रत्यय होता है क्योंकि यद्यपि प्रस्तुत व्याख्या के अनुसार यहाँ द्वन्द्व समास नहीं है तो भी सूत्र में "इन्द्रजननादि०" के आदि से इस शब्द को भी ग्रहण कर लिया जायगा । इन्द्रजननादि आकृति गण है । यह बात काशिका ने भी स्वीकार की है । इस व्याख्या का सम्बन्ध नाटक की कथा के साथ भी ठीक बैठ जाता है क्योंकि नाटक में शौर्य के द्वारा उर्वशी को प्राप्त करने की कथा है । कवि ने नायक पुरूरवा के लिये विक्रम शब्द का प्रयोग जान-बूझकर विक्रमादित्य का स्मरण कराने के हेतु किया है और बार-बार उनकी ओर सोद्देश्य सकेत किया है । यथा-'विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्', 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' ।

करुण-क्रन्दनाय प्रसिद्धा। तदुक्तं कालिदासेन रघुवंशे (१४-६८) 'चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः' इति।

मत्तानामिति—कुसुमरसेन पुष्पासवेन मत्तानां षट्पदानां भ्रमराणां शब्दोऽयं किम्? अथवाऽयमाकाशे श्रूयमाणः शब्दो धीरः परभृतनादः कोकिलसगीतस्वरः किम्? अथवा सुरगणैः सेविते देवसमूहैरवगाह्यमाने आकाशे समन्ततः सर्वतः नार्यः देवाङ्गनाः किन्नर्यो वा कलमधुराक्षर कलानि मधुराणि च अक्षराणि यस्मिस्तत् यथा स्यात्तथा प्रगीताः गानं कुर्वन्ति किम्? प्रहर्षिणी वृत्तमेतत्। तल्लक्षणं तु पिङ्गल-छन्द-सूत्रे—'प्रहर्षिणी म्नौ ज्रौग् त्रिकदशकौ' इति। अस्याः पादे मकार-नकार-जकार-रेफ-गकारा भवन्ति, त्रिभिर्दशभिश्च यतिः। अत्र सन्देहालङ्कारः।३।

अत्रेदं चिन्त्यं यत् सूत्रधारः प्रथममाकाशगतं शब्दं कुररीक्रन्दनरूपेण वर्णयति, ततो मत्तभ्रमरगुञ्जनरूपेण, ततः कोकिलगीतरूपेण ततश्च किन्नरीणां कलगीतरूपेण। कथमेकक्षणे क्रन्दनरूपो ध्वनिरपरस्मिन् क्षणे कलगीतरूपः प्रतिभातुं समर्थः?

(विचिन्त्य) भवतु, ज्ञातम् अवगतम्।

ऊरुद्भवेति—नरसखस्य नरस्य सखा इति नरसखः तस्य मुनेः नारायणस्य नाम्नः ऊरुद्भवा ऊरोः उद्भवः यस्याः सा ऊरुप्रदेशादुत्पन्ना सुरस्त्री देवाङ्गना उर्वशी कैलासनाथं कुबेरम् (न तु शिवम्) अनुसृत्य सेवित्वा निवर्तमाना गृहं प्रत्यागच्छन्ती विबुधानां देवानां शत्रुभिर्दैत्यैरर्धमार्गे मार्गान्तराले एव बन्दीकृता बलात् निगृहीता। अतः अप्सरसामयं गणः करुणं क्रन्दति रोदिति।

नरसखस्येत्यत्र तत्पुरुषान्तः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति सूत्रेण टच् प्रत्ययः ततो भसंज्ञकेकारलोपे सखीत्यस्य सखेति रूपम्। बन्दीकृतेत्यत्र 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (५-४-५०) इति सूत्रेण च्विः प्रत्ययः। अत्र वसन्ततिलका वृत्तम्। तल्लक्षणञ्च "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति वृत्तरत्नाकरे।

अत्रैषाऽऽख्यायिका—एकदा नर-नारायणौ नामर्षी तपश्चरन्तौ महतीं सिद्धिमापतुः। तत इन्द्रस्ताभ्याम् ईर्ष्यति स्म। तेन च तयोस्तपोभ्रंशनाया-

(नेपथ्ये)

परित्ताअदु परित्ताअदु जो सुर-पक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गई अत्थि [परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वा अम्बरतले गतिरस्ति ।]

सूत्र०—(कर्णं दत्वा) अये ! किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरं कुररीणामिव आकाशे शब्दः श्रूयते ।

मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां
शब्दोऽयं, परभृतनाद एष धीरः ।
आकाशे सुरगण-सेविते समन्तात्
किंनार्यः कल-मधुराक्षरं प्रगीताः ॥३॥

(विचिन्त्य) भवतु, ज्ञातम् ।

ऊरूद्भवा नरसखस्य मुनेः सुरस्त्री
कैलासनाथमनुसृत्य निवर्तमाना ।
वन्दीकृता विबुध-शत्रुभिरर्धमार्गे
क्रन्दत्यतः करुणमप्सरसां गणोऽयम् ॥४॥

(इति निष्क्रान्तः ।)

प्रस्तावना

व्याख्या—नेपथ्ये इति—इयमुक्तिः यवनिकान्तरात् । परित्रायताम् परित्रायताम् रक्ष्यतां रक्ष्यतां यः सुरपक्षपाती देवपक्षीयः यस्य वाऽम्बरतले *आकाशे गतिरस्ति । यः कश्चिद्देवानुपकर्तुमभिवाञ्छति योऽपि वाऽऽकाशेऽप्य*-प्रतिहतगमनोऽस्ति स मे साहाय्यं करोतु ।

अत्र नेपथ्ये इत्यत आरभ्य उर्वश्या दानवापहरणपर्यन्तं चूलिकाख्यः अर्थोपक्षेपः । तल्लक्षणन्तु "अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचनम् ।"

सूत्र०—कर्णं दत्वा सावहितं श्रुत्वा । अये इति आश्चर्यव्यञ्जकम् । मद्विज्ञापनानन्तरं *मदीयनिवेदनानन्तरम् आर्तानां पीडितानां कुररीणामिव* आकाशे शब्दः श्रूयते । कुररी भीरुस्वभावा क्रन्दनशीला विहगी सामान्यतया जलीयप्रदेशेषु निवसति टिटहरीति च भण्यते लोकभाषायाम् । सा च

करुण-क्रन्दनाय प्रसिद्धा। तदुक्तं कालिदासेन रघुवंशे (१४-६८) 'चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः' इति।

मत्तानामिति—कुसुमरसेन पुष्पासवेन मत्तानां षट्पदानां भ्रमराणां शब्दोऽयं किम्? अथवाऽयमाकाशे श्रूयमाणः शब्दो धीरः परभृतनादः कोकिलसंगीतस्वरः किम्? अथवा सुरगणैः सेविते देवसमूहैरवगाह्यमाने आकाशे समन्ततः सर्वतः नार्यः देवाङ्गनाः किन्नर्यो वा कलमधुराक्षरं कलानि मधुराणि च अक्षराणि यस्मिंस्तत् यथा स्यात्तथा प्रगीताः गानं कुर्वन्ति किम्? प्रहर्षिणी वृत्तमेतत्। तल्लक्षणं तु पिङ्गल-छन्द-सूत्रे—'प्रहर्षिणी म्नौ ज्रौग् त्रिकदशकौ' इति। अस्याः पादे मकार-नकार-जकार-रेफ-गकारा भवन्ति, त्रिभिर्दशभिश्च यतिः। अत्र सन्देहालङ्कारः।३।

अत्रेदं चिन्त्यं यत् सूत्रधारः प्रथममाकाशगतं शब्दं कुररीक्रन्दनरूपेण वर्णयति, ततो मत्तभ्रमरगुञ्जनरूपेण, ततः कोकिलगीतरूपेण ततश्च किन्नरीणां कलगीतरूपेण। कथमेकक्षणे क्रन्दनरूपो ध्वनिरपरस्मिन् क्षणे कलगीतरूपः प्रतिभातुं समर्थः?

(विचिन्त्य) भवतु, ज्ञातम् अवगतम्।

ऊरुद्भवेति—नरसखस्य नरस्य सखा इति नरसखः तस्य मुनेः नारायणस्य नामर्षेः ऊरुद्भवा ऊरोः उद्भवः यस्याः सा ऊरुप्रदेशादुत्पन्ना सुरस्त्री देवजातीया उर्वशी कैलासनाथं कुबेरम् (न तु शिवम्) अनुसृत्य सेवित्वा निवर्तमाना गृहं प्रत्यागच्छन्ती विबुधानां देवानां शत्रुभिर्दैत्यैरर्धमार्गे मार्गान्तराले एव बन्दीकृता बलात् निगृहीता। अतः अप्सरसामयं गणः करुणं क्रन्दति रोदिति।

नरसखस्येत्यत्र तत्पुरुषान्तः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति सूत्रेण टच् प्रत्ययः वतो भसञ्ज्ञेकारलोपे सखीत्यस्य सखेति रूपम्। बन्दीकृतेत्यत्र 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' (५-४-५०) इति सूत्रेण च्विः प्रत्ययः। अत्र वसन्ततिलका वृत्तम्। तल्लक्षणञ्च "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति वृत्तरत्नाकरे।

अत्रैषाऽऽख्यायिका—एकदा नर-नारायणौ नामर्षी तपश्चरन्तौ महतीं सिद्धिमापतुः। तत इन्द्रस्ताभ्याम् ईर्ष्यति स्म। तेन च तयोस्तपोभ्रंशनाया-

प्सरसः प्रेषिताः। परं नारायणेन स्वोरोः उर्वशी नाम्नी अप्सराः उत्पादिता यस्या अद्वितीया रूपसम्पत्तिमवलोक्यान्याप्सरसः व्रीडिताः तत्स्थानात् पलायिताः। विक्रमोर्वशीयेऽप्यन्यत्र कालिदासेनास्योल्लेखः कृतः "स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्तस्तदूरुसम्भवामिमां दृष्ट्वा व्रीडिताः सर्वाप्सरसः (६-१)। नर-नारायणयोरपि प्राचीनेषु ग्रन्थेषु सहचरितयोरेव वर्णनं लभ्यते। तौ वतिपयानमृचामपि द्रष्टारौ स्वीक्रियेते। कालक्रमेण तौ कृष्णार्जुनयोः बोधकौ सजातौ। नर-नारायणौ बदरिकाश्रमे तपस्यन्तावपि वर्णितौ स्तः।

इति निष्क्रान्तः सूत्रधार एतन्निवेद्य रङ्गादपगतः। प्रस्तावना—एषा प्रस्तावना समाप्ता। तस्याश्च लक्षणं दर्पणे—"नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा। सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते। चित्रैः वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा।"

अनुवाद—(नेपथ्य में) बचाओ, बचाओ। जो देवों के पक्ष का हो या जो आकाश में जा सकता हो वह······

सूत्र०—(कान लगाकर) अरे, मेरे निवेदन करते ही यह आकाश में कुररियों (टिटहरियों) जैसा शब्द कैसा सुनायी दे रहा है!

क्या यह फूलों का रस पीकर मस्त बने भौंरों का गुञ्जन है? या यह कोयल की गम्भीर ध्वनि है अथवा देवगणों की विहार-स्थली आकाश में मनोरम मधुर शब्दों से नारियाँ (किन्नरियाँ) गा रही हैं॥३॥

(सोचकर) अस्तु, समझा। नारायण मुनि की जंघा से उत्पन्न हुई देवाङ्गना (उर्वशी) जब कैलासनाथ कुबेर की परिचर्या कर लौट रही थी तब उसे मार्ग में ही देवताओं के शत्रुओं ने बन्दी बना लिया। इसीलिये यह अप्सराओं का गण करुण क्रन्दन कर रहा है॥४॥

(चला जाता है)

यह प्रस्तावना समाप्त हुई।

टिप्पणी—नरसखस्य—उर्वशी को यहाँ नर··· उत्पन्न बतलाया गया है। ऋग्वेद में पाठ मण्डल ···

ऋषि का नाम नर है और दशम मण्डल के ९०वें सूक्त के ऋषि हैं नारायण। आगे चलकर साहित्य में इन दोनों का उल्लेख एक साथ होने लगा और उनके लिये "पुराणौ मुनिसत्तमौ," 'तापसौ' विशेषण प्रयुक्त होने लगे। बाद में ये 'देवौ' और 'आदिदेवौ' कहे जाने लगे। कभी-कभी नर योग्यतम पुरुष का और नारायण ईश्वर का वाचक भी मिलता है। अन्त में नर शब्द अर्जुन का और नारायण कृष्ण का बोधक बन गया।

यहाँ कालिदास ने प्राचीन ऋषि नारायण की जघा से उर्वशी की उत्पत्ति बतलाई है। नारायण के तप से भयभीत होकर इन्द्र ने अप्सराओं को उनका तपोभंग करने के लिये भेजा। ऋषि ने यह देखकर अपनी अध्यात्म शक्ति से उरु से एक अत्यन्त सुन्दरी अप्सरा (उर्वशी) को उत्पन्न कर दिया जिसे देख कर सब अप्सरायें लज्जित होकर चली गयीं। हरिवंश (श्लोक ४६.१ और ८८ १२) में भी इसका उल्लेख है—'नारायणोरु निर्भिद्य सभूता वरवर्णिनी। ऐलस्य दयिता देवी योषिद्रत्नं किमुर्वशी।' आगे कालिदास ने इस घटना का उल्लेख भी किया है।

अप्सरस'—अप्सरायें देवताओं की वेश्यायें तथा अतिमानवीय शक्ति से सम्पन्न मानी जाती हैं। इस शब्द का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन में होता है। रामायण बालकाण्ड (४५-३३) में उनकी उत्पत्ति जल से बतलायी है—'अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्माद् वरस्त्रिय.। उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन्।' महाभारत में उन्हें काश्यप और अरिष्टा की सन्तान कहा है—'इद त्वप्सरसा विदित वश पुण्यलक्षणम्। अरिष्टाऽसूत देवी सुभगा देवर्षित. पुरा' (आदिपर्व ६६ ४८-४९) वे स्वय अदृश्य रहकर औरों को देख सकती हैं क्योंकि वे तिरस्करिणी विद्या जानती हैं और अपने साथ औरों को स्वर्ग तक ले जा सकती हैं।

प्रस्तावना—साहित्यदर्पण (१ ३१, ३२) में प्रस्तावना की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

नटी विदूषको वाऽपि पारिपार्श्वक एव वा।
सूत्रधारेण सहिता संलाप यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यै स्वकार्योत्थै प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथ.।
आमुख तत्तु विज्ञेय नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥

वही फिर उसे इस श्लोक में आनन्दमग्न भ्रमरों या किन्नरियों के मधुर गीत सा कैसे मान सकता है ?

इस श्लोक के 'किनार्यः' के स्थान पर कई पुस्तकों में 'किन्नर्यः' ऐसा पाठ है। किन्नरी देवयोनि की गायिकाओं को कहते हैं।

यह श्लोक प्रहर्षिणी वृत्त में है। इसके प्रत्येक चरण में मगण, जगण, यगण और गुरु होता है तथा तीन और दस वर्णों पर यति होती है।

ऊरूद्भवा०—नरस्य सखा इति नरसखः तस्य। तत्पुरुष समास के अन्त में होने पर सखि शब्द के आगे टच् (अ) प्रत्यय होता है जिससे वह 'सख' बन जाता है।

ऊरोः उद्भवो यस्याः सा इति ऊरूद्भवा।

इस चतुर्थ श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं।

(तत. प्रविशन्त्यप्सरस)

अप्सरसः—परित्ताअदु परित्ताअदु जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गई अत्थि। [परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वा अम्बरतले गतिरस्ति।]

(तत प्रविशत्यपटीक्षेपेण पुरुरवा रथेन सूतश्च)

राजा—अलमलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तं पुरुरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति।

रम्भा—असुरावलेवादो। [असुरावलेपात्]

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम ?

दशरूपक में भी कहा है—

सूत्रधारो नटी ब्रूते मार्षं वाऽथ विदूषकम् ।
स्वकार्यंप्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।

आमुख और प्रस्तावना पर्यायवाची हैं । इसमें सूत्रधार नटी, विदूषक या पारिपार्श्वक से नाटक के विषय में चर्चा करता है । प्रस्तावना के पाँच भेद हैं—

उद्घात्यक. कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः ॥

यहाँ प्रयोगातिशय प्रस्तावना है । इसका लक्षण है ।

एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगत· ।
पात्रप्रवेशो यत्रैव प्रयोगातिशयस्तथा ॥

—दशरूपक ३-२

जहाँ सूत्रधार एषः या अयम् आदि से आने वाले पात्र की सूचना देता है वहाँ प्रयोगातिशय होता है । यहाँ भी 'क्रन्दयतः करुण अप्सरसा गणोऽयम्' कहकर सूत्रधार ने अप्सराओं के रंगमञ्च पर प्रवेश की सूचना दी है । यह दशरूपक का मत है ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार यह परिभाषा अवलगित की है—'यत्रान्यस्मिन् समावेश्य कार्यमन्यत् प्रसाध्यते । तच्चावलगितं नाम विज्ञेयं नाम्ययोक्तृभि·' (१८ ११६) । साहित्य दर्पण ने भी इसी का अनुसरण किया है । 'यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत् प्रसाध्यते प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नाऽवलगितं बुधैः ।' (६-३८) । यहाँ नाटक का परिचय देते हुए सूत्रधार ने अप्सरा पात्रों का प्रवेश करा दिया है । शाकुन्तल में भी 'तवास्मि गीतरागेण' आदि कहकर 'एष राजेव दुष्यन्त' से पात्र प्रवेश करा दिया है । अत. यहाँ अवलगित प्रस्तावना है । प्रयोगातिशय की परिभाषा नाट्यशास्त्र ने इस प्रकार की है—

प्रयोगे तु प्रयोग तु सूत्रधारः प्रयोजयेत् ।
ततश्च प्रविशेत् पात्र प्रयोगातिशयो हि स । २२-२६

•कुन्दमाला की प्रस्तावना प्रयोगातिशय है ।

मत्तानाम्०—तृतीय श्लोक को कई विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं क्योंकि पहले सूत्रधार आकाश के शब्द को टिटहरियों का करुण क्रन्दन समझता है ।

वही फिर उसे इस श्लोक में आनन्दमग्न भ्रमरों या किन्नरियों के मधुर गीत सा कैसे मान सकता है ?

इस श्लोक के 'किनार्यः' के स्थान पर कई पुस्तकों में 'किन्नर्यः' ऐसा पाठ है। किन्नरी देवयोनि की गायिकाओं को कहते हैं।

यह श्लोक प्रहर्षिणी वृत्त में है। इसके प्रत्येक चरण में मगण, नगण, जगण, रगण और गुरु होता है तथा तीन और दस वर्णों पर यति होती है।

ऊरुद्भवा०—नरस्य सखा इति नरसखः तस्य। तत्पुरुष समास के अन्त में होने पर सखि शब्द के आगे टच् (अ) प्रत्यय होता है जिससे वह 'सख' बन जाता है।

ऊरोः उद्भवो यस्याः सा इति ऊरुद्भवा।

इस चतुर्थ श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु वर्ण होते हैं।

(ततः प्रविशन्त्यप्सरसः)

अप्सरसः—परित्ताअदु[८] परित्ताअदु जो सुरपक्खवादी जस्स वा अम्बरअले गई अत्थि। [परित्रायतां परित्रायतां यः सुरपक्षपाती यस्य वा अम्बरतले गतिरस्ति।]

(ततः प्रविशत्यपटीक्षेपेण पुरुरवा रथेन सूतश्च)

राजा—अलमलमाक्रन्दितेन। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तं पुरूरवसं मामेत्य कथ्यतां कुतो भवत्यः परित्रातव्या इति।

रम्भा—असुरावलेवादो। [असुरावलेपात्]

राजा—किं पुनरसुरावलेपेन भवतीनामपराद्धम्?

रम्भा—सुणादु महाराओ। जा तवो विसेस-परिसङ्किदस्स सुउमारं पहरणं महिन्दस्स, पच्चादेसो रूव गव्विदाए सिरीए[९], अलंकारो सग्गस्स, सा णो पिअसही उव्वसी कुबेर-भवणादो पडिणिवट्टमाणा[१०] समावत्ति-दिट्ठेण हिरण्णपुरवासिणा केसिणा दाणवेण चित्तलेहादुदीआ अध्य पथज्जेव्व बन्दिग्गाहं गहिदा। [शृणोतु महाराजः। या तपो-

विशेष-परिशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूपगर्विताया: श्रिय:, अलङ्कार: स्वर्गस्य, सा न: प्रियसख्युर्वशी कुबेर-भवनात् प्रतिनिवर्तमाना समापत्ति-दृष्टेन हिरण्यपुरवासिना केशिना दानवेन चित्रलेखा-द्वितीया अर्धपथ एव वन्दिग्राहं गृहीता।]

व्याख्या—तत इति—अप्सरसः रङ्गभूमिं प्रविशन्ति। अप्सरः शब्दस्य प्रयोगो बहुवचने एव प्रायेण भवति—"स्त्रियाँ बहुस्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः।" (अमरकोषः)

रामायणेऽप्सरसामुत्पत्तिरद्भ्यो वर्णिता—"अप्सु निर्मथनादेव रसात्तस्माद् वरस्त्रियः-उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन् (बाल का० ४५-३३)

अप्सरस:—परित्रायतामित्यादि पूर्ववत्। तत. प्रविशतीति—ततो रथेन राजा सूतश्चापटीक्षेपेण प्रविशति। अपटी जवनिका तस्याः क्षेपेण प्रसारणेन। जवनिकापातानन्तरमित्यर्थ.। "अपटीकाण्डपटिका प्रतिसीरा जवनिका तिरस्करिणी" ति हलायुधः। अलमिति—आक्रन्दन न कुरुतेत्यर्थः, अत्र निषेधार्थे तृतीया। सूर्यस्योपस्थानं पूजा ततः निवृत्त प्रत्यागत पुरूरवस मामेत्य कथयता कुतः कस्माज्जनाद् भवतीनां रक्षा कर्तव्या। अत्र सूर्योपस्थानोदिति कथनं सुरपक्षपातित्वस्य अम्बरगते गतिमत्त्वस्य च सूचनाय। असुरावलेपेति—असुराणामवलेपतः। तद्गर्वजन्याभिभवादिति तात्पर्यम्। "भीत्रार्थाना भयहेतु-रिति पञ्चमी (१-४-२५)। किं पुनरिति—भवतीना दानवावलेपेन किमपराद्ध किमहितमाचरितम्? शृणोति इति—शृणोतु महराजः। याऽस्माक सखी तपसो विशेष इति तपोविशेषस्तेन शङ्कितस्य महेन्द्रस्य सुकुमार प्रहरणमस्त्रम्। महति तपसि वर्तमाने जने इन्द्रो ममेदं पद गृहणीयादिति शङ्कालुर्जायते तत्तपोभङ्गस्य चोर्वशी-प्रमुखा अप्सरस आयुधरूपेणोपयुङ्क्ते। या चाह सर्वाधिक रूपवतीति रूगर्वायाः श्रियः लक्ष्म्याः (श्री सम्पन्नाया गौर्याः पार्वत्याः इतिपाठान्तरम्) प्रत्यादेशः प्रत्याख्यानम्। "प्रत्यादेशो निराकृति" रित्यमरः। यद्दियस्या विद्यमानायां लक्ष्मीः अभिरूपवती गण्यते। स्वर्गस्य नाकस्य देवलोकस्य वा अलङ्कारोभूषण सा नोऽस्माकं प्रियसखी उर्वशी कुबेर भवनात् निवर्तमाना प्रत्यागच्छन्ती चित्रलेखा द्वितीया यस्या सा चित्रलेखया एवंभूता द्वितीया समापत्ति

दृष्टेन अकस्मात् मिलितेन हिरण्यपुर वासिना केशिना एतन्नामकेन (३-४-४५) दानवेन अर्धपथे मार्गमध्ये एव वन्दि ग्राह बन्दीवग्रहीवेति वन्दिग्राह, उपमाने कर्मणि चेति णमुल् "उपमाने कर्मणि च" इति ३-४-४५। गृहीता सखम्यारहता।

अनुवाद—(इसके बाद अप्सरायें प्रवेश करती हैं)

अप्सरायें—बचाओ, बचाओ। जो कोई देवताओं का सहायक हो या जिसकी आकाश में पहुँच हो—

(परदा उठता है रथ पर सवार राजा तथा सारथि प्रवेश करता है)

राजा—क्रन्दन मत कीजिये, मैं पुरूरवा सूर्य की उपासना करके लौट रहा हूँ। मेरे पास आकर बतलाइये कि आप लोग किससे अपनी रक्षा चाहती हैं।

रम्भा—असुरों के अहङ्कार से।

राजा—असुरों के अहङ्कार ने आप लोगा का क्या बिगाड़ा है?

रम्भा—सुनिये महाराज! किसी के विशेष तप से शङ्कित होकर इन्द्र सुकुमार अस्त्र के रूप में जिसका उपयोग करता है, जो लक्ष्मी के भी रूप-गर्व को चूर करने वाली तथा स्वर्ग की शोभा है वह हमारी प्यारी सहेली उर्वशी जब कुबेर के भवन से लौट रही थी तो अचानक सामने आये हुये हिरण्यपुर वासी केशी नामक दानव ने उसे तथा चित्रलेखा (उसकी सखी) को अधबीच में पकड़कर बन्दी बना लिया।

टिप्पणी—अपटीक्षेपेण—जब कोई पात्र मञ्च पर सहसा प्रवेश करता है तो पर्दा उठाया जाता है। "नासूचितस्यपात्रप्रवेशो नाटकेमत" अर्थात् सामान्यतया कोई पात्र बिना सूचना के मञ्च पर नहीं लाया जाता, न मञ्च के बाहर ही जाता है। इसीलिये राजा का अचानक मञ्च पर प्रवेश अपटी अर्थात् पर्दे के क्षेप (उठाने) के साथ बताया गया है। हलायुध में अपटी का अर्थ जवनिका अर्थात् पर्दा बतलाया गया है—"अपटी काण्डपटिका प्रति सीरा जवनिका तिरस्करिणी।" नाटक में अप्सराओं का प्रवेश तो सूचित है किन्तु

राजा असूचित ही आ जाता है। कुछ टीकाकारों ने इस बात पर ध्यान न देकर कहा है। 'यथासूचितपात्र-प्रवेशस्तत्र आकस्मिक प्रवेशे अपटीक्षेपेणेति वचन युक्तम्। अत्र तु प्रस्तावनान्ते सूचितानामेवाप्सरसां प्रवेशः।' यह कहकर 'अपटीक्षेपेण' इस शब्द को प्रक्षिप्त मान लिया है और कुछ ने "नपटी क्षेपः इति अपटीक्षेप." यह व्याख्या कर कहा है कि बिना ही पर्दा उठे अप्सराओं का प्रवेश होता है। सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तम्—उपस्थान का अर्थ है सेवा या उपासना। राजा का अपना नाम बताकर परिचय देना उसके सुरपक्षपाती होने को प्रकट करता है और 'सूर्योपस्थानात् प्रतिनिवृत्तम्' यह कथन उसकी अम्बर तल में गति को। अप्सराओं के लिये उसका नाम ही पर्याप्त है। हिरण्यपुरवासिना—हिरण्यपुर दानवों की राजधानी है। महाभारत आदिपर्व के १७३ तथा २२३ अध्यायों में इसकी चर्चा है। हिरण्यपुर भूलोक और स्वर्ग के बीच अन्तरिक्ष में अवस्थित है। इसीलिये कुबेर के पास से लौटती हुयी अप्सराओं को मार्ग में केशी ने बन्दी बना लिया। आक्रन्दितेन—यहाँ अलम् के योग में तृतीया है। अर्धपथेन—अर्धश्चासौ पन्थ। इति अर्धपथः तस्मिन्। पथिन् के आगे तत्पुरुष समास में अच् प्रत्यय होकर पथ बन जाता है।

राजा—अपि ज्ञायते कतमेन दिग्विभागेन गतः स जाल्मः ?

सहजन्या—पुव्वुत्तरेण। [पूर्वोत्तरेण।]

राजा—तेन हि मुच्यतां विषाद.। यतिष्ये वः सखीप्रत्यानयनाय।

रम्भा—सरिसं एद सोमवस-सम्भवस्स। [सदृशमेतत् तसोमवंश-संभवस्य।]

राजा—क पुनर्मां भवत्यः प्रतिपालयिष्यन्ति ?

सर्वाः—एदस्सिं हेमकूड-सिहरे। [एतस्मिन् हेमकूट-शिखरे।]

राजा—सूत ! ऐशानीं दिशं प्रति चोदयाश्वानाशु गमनाय।

सूतः—यदा ज्ञापयत्यायुष्मान्। (इति यथोक्तं करोति)

राजा—(रथवेगं निरूपयन्) साधु, साधु। अनेन रथवेगेन पूर्व-प्रस्थितं वैनतेयमप्यासादयेयं किं पुनस्तमपकारिणं मघोनः ? तथाहि—

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्र-भ्रान्तिररान्तरेषुवितनोत्यन्यामिवारावलीम् ।
चित्र-न्यस्तमिवाचलं हयशिरस्यायाम यच्चामरं
यष्ट्यग्रे च सम स्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात् ॥५।

(निष्क्रान्तो रथेन राजा सूतश्च)

व्याख्या—राजा-अपि ज्ञायत इति—अपि प्रश्नार्थे ; किं जानन्ति भवत्यः कतमेन दिग्विभागेन दिशः प्रदेशेनगतः सजाल्मः दुष्टः ? "जाल्मस्तु पामरे असमीक्ष्यकारिणि" इति हैम. ।

सहजन्या—पूर्वोत्तरेण ऐशान्या दिशा उदीची प्राच्योरन्तरालेन कोणेन, पलायित सजाल्मः ।

राजा—तेन यत्नेव तन्मुच्यता विषाद शोकस्त्यज्यताम् । वः युष्माकं सख्या. प्रत्यानयनाय सखीं पुनरानेतुममह यतिष्ये । प्रत्यानयनायेति 'तुमर्था-च्चभाववचनादि'ति चतुर्थी (२-३-१५)

रम्भा—एतत् सोमवंशे सम्भवः जन्म यस्य तस्य चन्द्र वंशोत्पन्नस्य क्षत्रि-यस्य भवतः सदृश योग्यमेव ।

राजा—क्व पुनर्भवत्यः मा प्रतिपालयिष्यन्ति मे प्रतीक्षा करिष्यन्ति ।

अप्सरसः—एतस्मिन् हेमकूटशिखरे अस्य हेमकूटनाम्नोऽद्रेः शृङ्गे ।

राजा—सूत ! ऐशानीं पूर्वोत्तरा दिशप्रति चोदय प्रेरयाश्वान् शीघ्रगमनाय ।

सूत—यद् । शापयत्यायुष्मान् । यदुच्यते भवता तदेवानुष्ठास्यते मया ।

(इति यथोक्त राज्ञः कथनानुसारेण करोति हयात् पूर्वोत्तरा दिश प्रेरयति)

सूतो राजानमायुष्मानिति पदेन सम्बोधयति । तथोक्तनाट्यशास्त्रे (१६-११) "आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा ।"

राजा—(रथवेगनिरूपयन् दृष्ट्वा) साधु साध्विति प्रशंसात्मक पदम् । अनेन रथवेगेन मत्तः पूर्वं प्रस्थित वैनतेय विनतायाः अपत्य गरुडमपि, आसादयेयम् ग्रहीतु पारयामि किं पुनस्तमपकारिण महितकारिण मघोनः इन्द्रस्य ! अग्रे इति—मम रथस्य अग्रे पुरतः चूर्णीभवन्त. अपिष्य चूर्णभाव प्राप्नुवन्तो घनाः रेणुपदवीं रजोगतिं यान्ति लभन्ते । यथा रेणवः रथस्य जववशात् उद्धूता अपि पश्चादेव भवन्ति तद्वत् चूर्णीभूता घना अपि रथस्य पश्चादेव यान्ति । केचित्तु जलगुरवोऽपि जलदाः चक्रधारया पिष्टीकृताः मत्स्यन्दना । यत.पांसुमहूप-

सर्वेऽपीति व्याख्यातारः [illegible] । [illegible] प्रसिद्धः प्रायं [illegible] पर्यन्त [illegible] अपगतो [illegible] दिवानामपयाताः [illegible] । अतः [illegible] । [illegible] यदि [illegible] । [illegible] अनुरागवती [illegible] । [illegible] दीर्घं [illegible] । [illegible] दीर्घं [illegible] । [illegible] । [illegible] इत्यर्थः । [illegible] दृश्यते । [illegible] । अर्थापत्ति [illegible] लङ्कारो । [illegible] दण्डापूपिका [illegible] । [illegible] अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । लक्षणमस्य—"सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।" ५ ।

([illegible] ।)

अनुवाद—राजा—आपको मालूम है कि वह पामर किस तरफ गया है ?

अप्सराएँ—ऐशानी (उत्तर-पूर्व) दिशा में ।

राजा—तो अब शोक छोड़ दीजिये । मैं आपकी सखी को वापिस लाने का यत्न करूँगा ।

पङ्क्ति भी स्तुति कर रहे हैं। घोड़ों के सिर पर लगा हुआ ऊँचा चौर चित्र में खिंचा हुआ निश्चल लग रहा है और ध्वज का पट वायु के वेग से, रथ के एक किनारे और ध्वज की छड़ी के आगे एक साथ लहरता स्थित है।५।

टिप्पणी—सोमवंश सभगस्य—किसी-किसी ग्रन्थ मे "सोमादेकान्तरस्य" यह पाठ है। उसमें इसकी व्याख्या होगी 'सोमाद् एको बुधः अन्तरं यस्य स.' अर्थात् सोम से केवल एक ही पीढ़ी का अन्तर जिसमें है और वह इस प्रकार कि ब्रह्मा के पुत्र अत्रि हुये, अत्रि का पुत्र सोम, सोम का पुत्र बुध और बुध का पुरुरवस्। आयुष्मान्—सारथि राजभवन के कञ्चुकी के समान आयु में वृद्ध, और सम्मानित व्यक्ति होता था। उसकी प्रतिष्ठा चाचा के समान थी। सुमन्त्र को राम सदा तात कहकर सम्बोधित करते थे। इसीलिये नाटकों में सारथि सवार योद्धा को अपने से छोटे के समान सम्बोधित करता है। नाट्य शास्त्र (१९-११) में भी कहा है :—"आयुष्मन्निति वाच्यस्तु रथी सूतेन सर्वदा।" छन्द—पाँचवा श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्द में है। जिसमें क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और एक गुरु होता है तथा १२ और ७ पर यति उसे शार्दूलविक्रीडित कहते हैं।

सहजन्या—हला! गदो राएसी। ता अह्मवि जधासंदिट्ठं पदेसं गच्छेम्ह। [हला! गतो राजर्षिः। तद्वयम पि यथा सन्दिष्टं प्रदेशं गच्छामः।]

मेनका—सहि! एवं करेम्ह। [सखि! एवं कुर्मः।]

(इति हेमकूट शिखरे नाट्येनाधिरोहन्ति।)

रम्भा—अविणाम सो राएसी समुधरे णो हिअ अ सल्लं। [अपि नाम स राजर्षिः समुद्धरेन्नो हृदय शल्यम्।]

मेनका—सहि! मा दे संसओ भोदु। [सखि! मा ते संशयो भवतु।]

रम्भा—णं दुज्जआ दाणवा। [ननु दुर्जया दानवा.]

मेनका—उवट्ठिद-सपराओ महिन्दो वि मज्झम लोआदो सबहुमाणं आणाविअ त एव्व विअअसेणामुहेणिओजेदि। [उपस्थित-सपरायो महेन्द्रोऽपि मध्यमलोकात् सबहुमानं अनाय्यतमेव विजय सेनामुखे नियोजयति]

रम्भा—स धहा विअई भोदु। [सर्वथा विजयी भवतु।]

सहजन्या—(क्षणमात्रं स्थित्वा) हला समस्ससध, समस्ससध। एसो उच्चलिद हरिण केदणो तस्स राएसिणो सोमदत्तो रहो दीसदि। ण खु एसो अकिदत्थोणिवत्तिस्सदि। [हला ! समाश्वसित, समाश्वसित। एष उच्चलित हरिणकेतनस्तस्य राजर्षेः सोमदत्तो रथो दृश्यते। न खलु एषोऽकृतार्थो निवर्तिष्यते।]

(सर्वा उच्चक्षुषो विलोकयन्ति [१३])

व्याख्या—सहजन्या—सखी वचनमिदम्। हले त्यव्यय सखी सम्बोधने प्रयुज्यते। गतो राजर्षि., राजा ऋषिरिवेत्युपमित् समास.। अन्यत्राऽपि कालिदासेन नृपो राजर्षि रिति वर्णितः "अध्याक्रान्ता वसति रमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये-रक्षायोगा-दयमपि तपः प्रत्यह सचिनोति। अस्यापि द्या स्पृशति वशिनश्चारण-द्वन्द्वगीतः पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवल राजपूर्वः।" (शाकुन्तल २-१४)। तद्वय-मपि यथानिर्दिष्ट प्रदेश गच्छामः।

मेनका—सखि ! एव कुर्मः। (इति सर्वा अपि नाट्येनाभिनय पूर्वक हेमकूट शिखरेऽधिरोहन्ति)

रम्भा—अपि नाम स राजर्षिः उद्धरिष्यति निष्कासयिष्यति नोऽस्माक हृदयशल्यम् सखी-हरणज शल्यतुल्य दुःखम्।

मेनका—नात्र ते शङ्कायाः कारणम्। सन्देहाय पद नो देहि।

रम्भा—सत्यमेतत् पर दानवाना जयः दुःसाध्य इति कृत्वा शङ्कते मे हृदयम्।

मेनका—उपस्थितः सपराय युद्ध य स महेन्द्रोऽपि राजर्षि पुरूरवस मध्यम-लोकात् पृथिवीलोकात् सबहुमान सम्मानपूर्वकमानाय्य आहूय त त्रिभुवनवि-जयाय देवानाजयार्थं सेनामुखे सैनापत्ये नियुङ्क्ते। अनेन राज्ञो बहुपराक्रमशा-लित्व महेन्द्रसख्य च सूच्यते।

रम्भा—सर्वथा शत्रु पराभवे कृतकार्यो भवेत्स इति मङ्गलाशसा।

मेनका—(क्षणमात्र स्थित्वा) केत्यतो शायतेऽनेनेति केतन चिह्नम्। उच्चलितः वायुवेगवशात्स्फुरन् हरिणः केतने ध्वज चिह्ने यस्य स तथाभूतः

तस्य राजर्षेः सोमदत्तः एतन्नामकः अथवा सोमेन आदिकुल पुरुषेणदत्तोऽत एव हरिण केतनोरथो दृश्यते । नहि पुरूरवा न कृतः अर्थः कार्यं येन सोऽकृत-कार्यः प्रतिनिवर्तिष्यते प्रत्यागमिष्यति इति तर्कयामि अनुमिनोमि । (सर्वाः उच्चचुः चक्षू षि उन्नमय्य विलोक्यन्ति)

अनुवाद—(रथ पर बैठा हुआ राजा और सारथि चले जाते है)

सहेली—अरे ! राजर्षि चले गये । तो हम लोग भी बतलाये हुये स्थान को चलें ।

मेनका—ऐसा ही करें, सखि ।

(सब लोग अभिनय के साथ हेमकूट के शिखर पर चढती है)

रम्भा—क्या सचमुच वह राजर्षि हमारे हृदय के काँटे को निकालेगा ?

मेनका—सखि । तुम सशय मत करो ।

रम्भा—दानव सचमुच कठिनाई से ही जीते जा सकते हैं ।

मेनका—युद्ध आ पड़ने पर इन्द्र भी इन्हें ही पृथ्वी लोक से सम्मान-पूर्वक बुलाते हैं और देवताओं के विजय के लिये सेनापति के स्थान पर नियुक्त करते हैं ।

रम्भा—सब प्रकार विजयी बनें ।

सहेली—(क्षणभर रुक कर) अरे धीरज धरो धीरज धरो । यह, जिस पर हरिण का चिह्न वाला झण्डा लहरा रहा है, उसी राजर्षि का सोमदत्त (नामक) रथ है । मेरा विचार है कि वह काम को पूरा किये बिना नहीं लौटेगा ।

(सब आँखें ऊपर उठाकर देखती है)

टिप्पणी:—यथा सन्दिष्टम्—सन्दिष्टम् अनतिक्रम्य इति अव्ययीभाव समास है । उच्चलित…केतनः—अ-उच्चलितः हरिणः एव केतनो यस्य सः । उच्चलित हरिण केतनः—हरिण केतन होने के कारण हीरथ हरिण के समान पृथ्वी से ऊपर उठकर उड़ सकता है । हरिण की गति का वर्णन कालि-दास ने शाकुन्तल में करते हुये कहा है :—

पश्योदग्रप्लुतत्वद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ।

(तत प्रविशति रथारुढो राजा सूतश्च । भयनिमीलिताक्षी चित्रलेखा, दक्षिण-हस्तावलम्बिता उर्वशी च)

चित्रलेखा—सहि ! समस्सस, समस्सस । [सखि ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।]

राजा—सुन्दरि ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि—

गतं भयं भीरु ! सुरारि-सम्भवं
त्रिलोक रक्षी महिमा हि वज्रिणः।
तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं
निशावसाने नलिनीव पङ्कजम् ॥६॥

चित्रलेखा—अम्महे ! कहं उस्ससिद-मेत्त-संभाविद जीविदा अज्ज वि एसा सण्णं न पडिवज्जदि। [आश्चर्यम् ! कथमुच्छ्वसित मात्र संभावित-जीविता अद्यापि एषा संज्ञां न प्रतिपद्यते ?]

राजा—बलवदत्र भवती परित्रस्ता। तथाहि—

मन्दार-कुसुम-दाम्ना गुरुरस्याः सूच्यते हृदय-कम्पः।
मुहुरुच्छ्वसता मध्ये परिणाहवतोः पयोधरयोः ॥७॥

चित्रलेखा—हला उव्वसि ! पज्जवत्थावेहि अत्ताणं। अणच्छरा विअ पडिहासि। [हला उर्वशि ! पर्यवस्थापयात्मानम्। अनप्सरेव प्रति-भासि।]

राजा—

मुञ्चति न तावदस्याभयकम्पः कुसुमकोमलं हृदयम्।
सिचयान्तेन कथञ्चित् स्तन-मध्योच्छ्वासिना कथितः ॥८॥

व्याख्या :—(ततो रथारूढो राजा सूतश्च रङ्गभूमौ अवतरति। रथे भयेन निमीलितेऽक्षिणी यस्याः एवभूता चित्रलेखया दक्षिणहस्तेनावलम्बिता उर्वशी च दृश्यते)

चित्रलेखा—सखि समाश्वसिहि, समाश्वसिहि। धैर्यमवलम्बस्व संज्ञां लभस्व वा। द्विरुक्तिर्वाच्यस्य दृढीकरणाय।

राजा—सुन्दरि ! समाश्वसिहि चेतनां प्रतिपद्यस्व।

गतं भयमिति—सुरारि सम्भवं दानवजन्यं भयं गतमतिक्रान्तम्। हि यस्माद् वज्रिणः इन्द्रस्य महिमा प्रभावस्त्रिलोकरक्षी त्रीनपि स्वर्भूमिपातालाख्यान् लोकान् रक्षति। तत् तस्मात् नलिनी सरोजलता निशावसाने प्रभातायां रात्रौ पङ्कजं कमलपुष्पमिव त्वमेतद् आयतं दीर्घं चक्षुरुन्मीलय। यथा प्रभाते जाते

नलिनी पङ्कजमुद्घाटयति वद्वत्त्वमपि नेत्रे उन्मीलय। नलिनीव पङ्कजमित्यत्रोपमा, द्वितीय चरणे पदार्थस्य च भयनिवृत्तौ हेतुत्वेन काव्यलिङ्ग चालङ्कारः। उक्त च—"हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते"। वशस्थ वृत्तमिदम्। तल्लक्षणतु ' वदन्ति वशमिद जतौ जरौ।"

चित्रलेखा—अम्महे इति आश्चर्यव्यञ्जकमव्ययम्। कथमद्यापि साम्प्रतमपि उच्छ्वसितमात्रेण समाविव विनिश्चित जीवित यस्या एवभूता एषा उर्वशीसखा चेतना न प्रतिपद्यते लभते। नह्युच्छ्वासातिरिक्त किमप्यस्या जीवित-चिह्न विलोक्यते।

राजा—बलवद् भृश ते सखी त्वम्वा भीता जाता। बलवच्छब्दस्य प्रयोगः कवेरति प्रियः प्रतिभाति। यथा—'बलवदस्वस्थ शरीरा शकुन्तला' (शाकु०) बलवदपि शिक्षितानामात्मन्य प्रत्यय चेतः।" (शाकु०) साह मदनेन बलवद्-बाध्यमाना (विक्रमो०) तथाहि—

मन्दारेति—परिणाहे विशालताऽस्ति ययोस्तयोः परिणाहवतोः पयोधरयोः स्तनयोर्मध्ये मुहुर्वारंवारमुच्छ्वसता उर्ध्वश्वासेन सहोत्पतता मन्दार कुसुमाना दाम्ना स्रजा अस्याः गुरुरधिको हृदयकम्पः सूच्यते। अनया या मन्दार पुष्पाणा माला उरसि धृता सा श्वासवेगवशात् वारंवारमुपरि चलति नीचैरवगच्छति तेनोत्पतनेनास्या हृदयस्य कम्पः परिज्ञायते। मन्दारस्तु देव वृक्षाणामन्यतमः। तथा चोक्तममरकोशे—"पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुसि वा हरिचन्दनम्।" शाकुन्तलेऽपि कविर्नेष भावोऽभिव्यक्त. "अद्यापि स्तनवेपथु जनयति श्वासः प्रमाणाधिकः। इदमार्या वृत्तम्-"यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि-अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पञ्चदशसाऽर्या" इति लक्षणात्।७

चित्रलेखा—(सकरुणम्) हला उर्वशि! पर्यवस्थापय आत्मान स्वीया प्रकृति प्रापयेत्यर्थ.। परि+अव+स्था+णिच्+लोट् मध्य० एकव०। अनप्सरेव प्रतिभासि नैवमचेतनावस्थागता त्वमप्सरा इव व्यवहरसि यतोऽधैर्य हि मनुष्येषूचित न तु देवतासु। अप्सरसश्च देवयोनि विशेषः। अमरकोशेत्वप्सरस्शब्दो नित्य बहुवचनान्त.। कालिदासेन तु शाकुन्तलेऽपि त्रिवारानस्य आकारान्तरूपेण एकवचने च प्रयोगः कृतः। अत्रापि तेनाप्सरा इत्या-

कारान्त एव प्रयुक्त'। उक्तं च शब्दार्णे—"स्त्रियां बहुस्वप्सरसः स्यादेकत्वेऽप्सरा अपि।"

राजा—स्तनयोर्मध्ये उच्छ्वसतीति स्तन मध्योच्छ्वासी तेन श्वासवेगानुसारेणोत्पतताऽवपतता च सिचयान्तेन वस्त्रान्तेन कथञ्चित् कथितोऽभिव्यक्तः भयकम्पः भीति जन्यो वेपथुस्तावदस्याः कुसुममिव कोमल हृदय न मुञ्चति त्यजति। कुसुमकोमलमित्युपमालङ्कारः। ' वस्त्रसिचयः पटः पोतः" इति हलायुधः। अत्रापि आर्याच्छन्दः।८। (उर्वशी प्रत्यागच्छति पुनश्चेतनामाप्नोति)

अनुवाद :—(रथ पर बैठा राजा और सारथि आते है। भय से आँखे मूँदे चित्रलेखा और दाहिने हाथ पर सधी हुई (टिकी हुई) उर्वशी भी है।)

चित्रलेखा—सखि, धैर्य रखो, धैर्य रखो।

राजा—सुन्दरि—धीरज धरो, धीरज धरो—

हे भीरु, दानवों से उत्पन्न हुआ भय बीत चुका। वज्र धारण करने वाले इन्द्र का प्रताप तीनों लोकों की रक्षा करता है। इसलिए जिस तरह नलिनी रात बीत जाने पर अपने पङ्कज (पुष्प) को खोलती है उसी तरह तुम अपने बड़े-बड़े नेत्रों को खोलो।६।

चित्र०—केवल श्वास खींचने से पता चल रहा है कि यह जीवित है। अभी भी यह होश में क्यों नहीं आ रही है?

राजा—तुम्हारी सखी बहुत डर गयी है—

इसके विशाल स्तनों के बीच बारबार ऊपर उठती हुयी मन्दार पुष्पों की माला से इसके हृदय का भारी कम्प प्रकट हो रहा है।७।

चित्र०—(करुणा के साथ) अरे उर्वशि! अपने को सम्हालो। इस अवस्था में तुम अप्सरा जैसी नहीं प्रतीत हो रही हो।

राजा—भय की कँपकपी उसके फूल से कोमल हृदय को नहीं छोड़ रही है। इसके स्तनों के बीच में श्वासोच्छ्वास के साथ उड़ता-गिरता आँचल इसके भय कम्प को बतला रहा है।८।

(उर्वशी होश मे आती है)

टिप्पणी :—उच्छ्वसितमेन इति उच्छ्वसित मात्रम् । तेन सभावित जीवित यस्याः सा । बहुब्रीहि समास । मन्दार—यह पाँच देववृक्षों में एक है। पाँच देववृक्ष ये हैं :—

पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातक ।
सन्तान. कल्पवृक्षश्च पुसि वा हरिचन्दनम् ॥

पर्यवस्थापयामि :—परि+अव+स्था+प्रेरणार्थक णिच् (इ) प्रत्यय +लट् एक वचन अन्य पु० । स्था धातु के आगे णिच् प्रत्यय होने पर पुक् (प्) का आगम होता है । अनप्सरेव—अप्सरायें धैर्यवती होती हैं । इतनी जल्दी मूर्च्छित नहीं होतीं । इसीलिये उसे अनप्सरा (मानवी) कहा है । स्तन०......सिना—स्तनयोः मध्यम् इति स्तन मध्यम् । तत्र उच्छ्वसतीति स्तनमध्योच्छ्वासी तेन । छन्द :—'गत भय' आदि छठा छन्द वंशस्थ है । इसमें क्रमशः जगण, तगण, जगण, और रगण होते हैं । सप्तम श्लोक में आर्या छन्द है । इसके प्रथम चरण में बारह, द्वितीय में १८, तृतीय में १२ तथा चतुर्थ में १५ मात्रायें होती हैं ।

(उर्वशी प्रत्यागच्छति)

राजा—(सहर्षम्) अयि । प्रकृतिमापद्यते ते प्रियसखी । पश्य—

आविर्भूते शशिनि तमसा रिच्यमानेव रात्रिः
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इवच्छिन्नभूयिष्ठ-धूमा ।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुच्यमाना
गङ्गा रोध.-पतन-कलुषा गच्छतीव प्रसादम् ॥८॥

चित्रलेखा—सहि, वीसध्धा होहि । आवण्णाणुकम्पिणा महाराएण पडिहदा क्खु दे तिदस-परिवन्थिणो हदासा दाणवा । [सखि, विश्रब्धा भव आपन्नानुकम्पिना महाराजेन प्रतिहता. खलु ते त्रिदश-परिपन्थिनो हताशा दानवाः ।]

उर्वशी—(चक्षुषी उन्मीलय) किं पहाव-दंसिणा महिन्देण ? [किं प्रभाव दर्शिना महेन्द्रेण ?]

चित्रलेखा—ण महिन्देण । महिन्द-सरिसाणुभावेण इमिणा राएसिणा पुरूरवसेण । [न महेन्द्रेण । महेन्द्र-सदृशानुभावेन अनेन राजर्षिणा पुरूरवसा ।]

उर्वशी—(राजानमवलोक्यात्मगतम्) उवकिदं खु दाणवेन्द संरम्भेण । [उपकृतं खलु दानवेन्द्र-संरम्भेण ।]

व्याख्या :—राजा—(सहर्षम्) अपि ! ते सती उर्वशी प्रकृतिस्वस्था-वस्था मापद्यते गच्छति । पश्य—

आविर्भूत इति—इय वरा तनुः यस्याः सा वरतनुः सुन्दरी अन्तः अन्तः-करणे मोहेन मूर्च्छया मुच्यमाना त्यज्यमाना (नतु त्यक्ता) सती शशिनि चन्द्रे आविर्भूते प्रकटिते तमसाऽन्धकारेण रिच्यमाना रिक्ता गच्छन्ती रात्रिरिव, नैशस्य निशायां भवस्य हुतं भुनक्तीति हुतभुक् तस्य अग्नेः छिन्नो विलयं प्राप्तः भूयिष्ठः प्रभूततमः धूमः यस्याः सा निर्धूमा अर्चिः ज्वाला इव, रोधसः तटस्य पतनं तेन कलुषा अविला मलिना वा प्रसाद गृह्णती पुनर्निर्मलता गच्छन्ती गङ्गा इव, लक्ष्यते । अत्रैकस्या उर्वश्या उपमान बाहुल्यात् मालोपमाऽलङ्कारः । तथोक्त "मालोपमा यदेकस्योपमान बहु दृश्यते ।" वृत्त च मन्दाक्रान्ता । तल्लक्षण च "मन्दाक्रान्ता मभनततगागश्रुति वाजिराजी" ति ।९।

चित्रलेखा—सखि उर्वशि ! विश्रब्धा विश्वस्ता भव । आपन्नान् अनुकम्पते तेन शरणागत वत्सलेन महाराजेन महाश्चासौ राजेतिकर्मधारय समासे 'राजहसखिभ्यष्टचिति' टच् प्रत्ययः । प्रतिहताः नाशिताः । खलु ते तिस्रो शैशव कौमार यौवनाख्या. जरत्रहितः दशाः,येषा ते त्रिदशाः देवाः तेषा परि-पन्थिनः विरोधिनः । "अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः" इत्यमरः । परिपन्थिन इत्यत्र "छन्दसि परिपन्थि परि परिणौ पर्यवस्थातरि" (५-२-८९) इति परिपूर्वकात् अवस्थातृ (शत्रु पर्यायात्) शब्दात् इन् प्रत्यय अवस्थात् शब्दस्य च पन्था देशः । पर वेदे एवास्य शब्दस्य प्रयोगो न्याय्यः । हतास्ता दुर्भगा नीचा व दानवाः ।

उर्वशी—(चक्षुषी नेत्रे उन्मीलय) किं प्रभावदर्शिना पराक्रमशीलेन

महेन्द्रेण अभ्युपपन्ना अनुकम्पिता अस्मि इति प्रश्नः। प्रभाव दर्शयति प्रकाशयतीति प्रभावदर्शी।

चित्रलेखा—महेन्द्रेण तु नैव रक्षिताऽस्ति पर तत्सदृश प्रभाववता राजर्षिणा पुरुरवसाऽनुकम्पिताऽसि।

उर्वशी—(पुरुरवसमवलोक्यात्मगतम् न तु परान् श्राव्य) एतादृशस्य राजर्षेर्दर्शने कारणभूतेन दानवेन्द्रस्य सरम्भेण तत्सम्बन्धिनाऽत्रासेन उपकृतमेव खलु। परस्परदर्शनजन्यानुरागम्येय प्रथमावस्था सूचिता। तत्रापि उर्वश्या. रागः प्रथम वर्णितः। भारतीय-रूपकेषु नायिकाराग. पूर्वं वर्ण्यते।

उपकृतं (उपकृतं खलु) "अत्र उर्वश्या अभिलाषो गम्यते। अयम-भिलाष· प्रथमावस्थेति मन्तव्यम्। प्रकृतिस्थामुर्वशीं विलोक्य 'आत्मगतमित्या-दिना गम्यमानो राजाभिलाष. अस्मिन्नाटके भीजन् इत्यनुसन्धेयम्। राज्ञोऽप्ययमेवा-भिलाषो प्रथमावस्था "इति काट्यवेम टीकायाम्।

अनुवाद :—राजा—(हर्ष के साथ) अरे ! तुम्हारी प्यारी सखी होश में आ रही है। देखो चन्द्रमा के निकल आने पर अन्धकार से रिक्त होती हुयी रात्रि जैसी लगती है, या सारे धुँये के नष्ट हो जाने पर रात्रि के समय अग्नि की लपट जैसी भासित होती है अथवा तट की मिट्टी के गिरने से मलिन गगा फिर निर्मल होकर जैसी प्रतीत होती है वैसी ही यह (उर्वशी) सुन्दरी चित्त की मूर्च्छा से मुक्त होती हुई दिखायी दे रही है।६।

चित्रलेखा—सखि ! आश्वस्त हो जाओ। शरणागतों पर कृपा करने वाले महाराज ने देवताओं के विरोधी नीच दानवों को नष्ट कर दिया है।

उर्वशी—(उर्वशी आँखें मलकर) क्या प्रभावशाली महेन्द्र ने !

चित्र०—महेन्द्र न नहीं, महेन्द्र के समान तेजस्वी राजर्षि पुरूरवा ने।

उर्वशी—(राजा को देखकर अपने मन में) दानवेन्द्र के आक्रमण ने तो उपकार ही किया है।

टिप्पणी—प्रत्यागच्छति—अपने को सर्वथा भूल जाने के बाद फिर 'होश आती है' इस अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग किया गया है। मुच्यमाना—मुच् धातु से कर्मवाच्य में शानच् प्रत्यय है। किसी-किसी पुस्तक में 'रिच्यमाना' पाठ है। उसका अर्थ है "रिक्त होती हुई।'

गङ्गा...कलुषा—गङ्गायाः रोधः इति गङ्गारोधः । तस्य पतन तेन कलुषा । नैशस्य—निशाया भवः नैशः । 'तत्र भवः' सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय होता है । छन्द—नवें श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है । इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु होते हैं ।

राजा—(प्रकृतिस्थामुर्वशीं निर्वर्ण्यात्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरु संभवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति । अथवा नेयं तपस्विनः सृष्टिर्भवितुमर्हति । तथाहि—

> अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
> शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
> वेदाभ्यास-जडः कथं नु विषय-व्यावृत्त-कौतूहलो ।
> निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरी मदं रूपं पुराणो मुनिः ॥१०॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे ! सही अणो कहिं खु भवे ? [हला चित्रलेखे ! सखीजनः कुत्र खलु भवेत् ?]

चित्रलेखा—सहि ! अभअप्पदाई महाराओ जाणादि । [सखि ! अभय प्रदायी महाराजो जानाति ।]

व्याख्या:—राजा—(उर्वशीमवलोक्यात्मगतम्) प्रकृतिस्थामुर्वशीं विलोक्यात्मगतमित्यादिना वक्ष्यमाणेन गम्यमान्ते राजाभिलाषोऽस्मिन्नाटके बीजामित्यनुसंधेयम् । स्थाने खलु उचित मेवासीत् तद्यत् नारायणमृषिं विलोभयन्त्यः सर्वा अप्सरस नारायणोऽप्रभवामिमामुर्वशीऽमवलोक्य व्रीडिताः स्वरूपस्यावकृष्ट कोटिकतया लज्जिताः । अथवाऽहं मन्ये यदि य तपस्विनो नारायणस्य सृष्टिः रचनैव नास्ति । कुतः कस्मात् कारणात्—

अस्या इति—अस्याः उर्वश्याः सर्गस्य रचनायाः विधिः कर्म तस्मिन् निर्माणकार्ये कान्तिप्रदः चन्द्रः प्रजापतिः स्रष्टा अभूत् । नु इति वितर्के । नहि कान्ति प्रद चन्द्रमन्तरेणान्यः स्रष्टा ईदृशस्य कान्तिमयस्याह्लादकस्य च

टिप्पणी —प्रत्यागच्छति—अपने को सर्वथा भूल जाने के बाद फिर से 'होश में आती है' इस अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग किया गया है।

मुच्यमाना—मुच् धातु से कर्मवाच्य में शानच् प्रत्यय है। किसी-किसी पुस्तक में 'रिच्यमाना' पाठ है। उसका अर्थ है "रिक्त होती हुई।"

गङ्गा ·····कलुषा—गङ्गायाः रोधः इति गङ्गारोधः। तस्य पतनं तेन कलुषा।

नैशस्य—निशाया भवः नैशः। 'तत्र भवः' सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय होता है।

छन्द—नवें श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु होते हैं।

मूलपाठ :—राजा—(प्रकृतिस्थामुर्वशीं निर्वर्ण्यात्मगतम्) स्थाने खलु नारायणमृषिं विलोभयन्त्यस्तदूरुसम्भवामिमां विलोक्य व्रीडिताः सर्वा अप्सरस इति। अथवा नेयं तपस्विनाः सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथाहि—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यास-जडः कथं नु विषय व्यावृत्त-कौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ १०॥

उर्वशी—हला चित्तलेहे! सहीअणो कहिं खु भवे? [हला चित्रलेखे! सखीजनः कुत्र खलु भवेत्?]

चित्रलेखा—सहि! अभअप्पदाई महाराओ जाणादि! [सखि! अभयप्रदायी महाराजो जानाति।]

व्याख्या :—राजा —(उर्वशीमवलोक्यात्मगतम्) प्रकृतिस्थामुर्वशीं विलोक्यात्मगतमित्यादिना वक्ष्यमाणेन गम्यमानो राजाभिलाषोऽस्मिन्नाटके बीजमित्यनुसन्धेयम्।

स्थाने खलु उचितमेवासीत् तद्यत् नारायणमृषिं विलोभयन्त्यः सर्वा अप्सरसः नारायणोरुप्रभवामिमामुर्वशीमवलोक्य व्रीडिताः स्वरूपस्यावकृष्टको-

टिकतया लज्जिताः अथवाहं मन्ये यदियं तपस्विनो नारायणस्य सृष्टिः रचनैव नास्ति । कुतः कस्मात् कारणात् ?

अस्या इति—अस्याः उर्वश्याः सर्गस्य रचनायाः विधिः कर्म तस्मिन् निर्माणकार्ये कान्तिप्रदः चन्द्रः प्रजापतिः स्रष्टा अभूत् । नु इति वितर्के । नहि कान्तिप्रदं चन्द्रमन्तरेणान्यः स्रष्टा ईदृशस्य कान्तिमयस्याह्लादकस्य च रूपस्य निर्माणे समर्थः । चन्दति आह्लादयतीति चन्द्रः । चदि आह्लादने इति धातोः रक् प्रत्ययः । अनेन उर्वश्याः लावण्यातिशयो गम्यते । शृङ्गारः रतिपोषकः एव एकः केवलः रसो यस्य तथोक्तः स्वयं मदनो नु (प्रजापतिरभूत्) एतेन अस्याः सौभाग्यातिशयो व्यज्यते । पुष्पाकरः पुष्पाणामाकरः मासः चैत्रो नु (प्रजापतिरभूत्) अनेनास्याः सौरभ्यसौकुमार्यातिशयो लक्ष्यते । मुख्यस्रष्टारं नारायणमपहाय किमर्थमेवं चन्द्रमदनवसन्तानां निर्मातृत्वं तर्क्यते इत्याशङ्कापरिहाराय एवंविधरूपनिर्माणे तस्यासामर्थ्यं प्रदर्शयति वेदाभ्यासेत्यादिना वेदानामभ्यासस्तेन जडो नीरसः । वारंवारं नीरसानां वेदानामभ्यसनेन जडत्वं सुतरां संभाव्यते । विषयेभ्यः व्यावृत्तं सर्वं कौतूहलमिच्छा उत्साहो वा यस्य तादृशः भोग्येषु पदार्थेषु शिथिलीकृतादरः पुराणो वृद्धो मुनिः इदं मनोहारि रूपं निर्मातुं कथं प्रभवेत् समर्थो भवेत् यतो नहि कार्यगुणाः कारणगुणान् व्यभिचरन्ति । अत्र नायिकां प्रेक्ष्य नायकगतः पूर्वरागो व्यज्यते । श्लोकस्य पूर्वार्धे सन्देहालङ्कारः उत्तरार्धे तु काव्यलिङ्गानुमानयोः परस्पराङ्गाङ्गिभावेनैव सङ्करालङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । शाकुन्तले द्वितीयाङ्केऽपि एतादृश एव भावः स्पष्टीकृतः कविना शकुन्तलां वर्णयता—

(उर्वशी) अप्सरा को देखकर ठीक ही लजा गयी थीं। अथवा मैं समझता हूँ कि यह तपस्वी की रचना होने योग्य ही नहीं है। तो फिर—

निश्चय ही इसके निर्माण में, विश्व को कान्ति प्रदान करने वाले चन्द्रमा ने, अथवा शृङ्गार में निमग्न रहने वाले स्वयं कामदेव ने, अथवा कुसुमाकर वसन्त ने प्रजापति का काम किया होगा। भला वेदाभ्यास से जड और विषयों के आकर्षण से विरत वृद्ध मुनि इस मनोहर रूप को कैसे बना पाता ॥१०॥

उर्वशी—अरी चित्रलेखा ! सखी-सहेलियाँ कहाँ होंगी ?

चित्रलेखा—सखि ! हमें अभय प्रदान करने वाले ये महाराज जानते हैं।

टिप्पणी—अस्याः सर्गविधौ—तुलना कीजिये शाकुन्तल के अङ्क २ श्लोक ६ से—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा,
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे,
धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।

निर्वर्ण्य—निर् उपसर्ग के साथ वर्ण् (चुरादिगणीय) धातु का अर्थ 'देखना' होता है। तदूरु—तस्याः उरु इति तदूरु। ताभ्यां (पंचमी) सम्भवो यस्याः सा ताम् बहु० समास।

मूलपाठ. राजा—(उर्वशीं विलोक्य) महति विषादे वर्तते सखीजनः। पश्यतु भवती—

यदृच्छया त्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथि स्थिता सुन्दरि ! यस्य नेत्रयोः।
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्रसौहृदः ॥११॥

उर्वशी—(आत्मगतम्) अमिअं खु दे वअणम्। अहवा चन्दादो अमिअ त्ति किं एत्थ अच्छरिअं (प्रकाशम्) अदो एव्व पेक्खिदुं तुवरदि मे हिअअं [अमृतं खलु ते वचनम् अथवा चन्द्रादमृतमिति किमत्राश्चर्यम्। (प्रकाशम्) अत एव प्रेक्षितुं त्वरते मे हृदयम्।]

राजा—(हस्तेन दर्शयन्)

एता सुतनु मुख ते सख्य पश्यन्ति हेमकूटगता ।
उत्सुकनयना लोकाश्चन्द्रमिवोपप्लवान्मुक्तम् ॥१२॥

(उर्वशी साभिलाष पश्यति)

चित्रलेखा—हला ! किं पेक्खसि ? (हला ! किं प्रेक्षसे ?)

उर्वशी—ण समदुक्खगदो पीवीअदि लोअणेहिं ! (ननु समदु खगतः पीयते लोचनाभ्याम् ।)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अयि को [अयि कः]

उर्वशी—ण पणई अणो । [ननु प्रणयीजन. ।]

व्याख्या—राजा—(उर्वशीं विलोक्य तामुद्दिश्य कथयति) महति विषादे शोके वर्तन्ते सख्यो भवत्या पश्यन्तु भवती-यदृच्छयेति—हे सुन्दरि ! त्व यदृच्छया आकस्मिकतया (या ऋच्छा यदृच्छा कर्मधारयसमास) 'यदृच्छा स्वैरिता' इत्यमर । सकृद् एकवारम् अपि यस्य अवन्ध्ययो सफलयो नेत्रयो पथि मार्गे स्थिता । सोऽपि त्वया विना समुत्सुको भवेत् सो कथं त्वद्दर्शनलालसः स्यात् किमुत आर्द्रम् निरन्तरसहवासेन सरस सौहृदम् (सुहृद मित्रस्य भाव) यस्य स एवभूतस्ते सखीजनः । अवन्ध्ययोरित्यनेनोर्वशो दर्शनमेव नेत्रयो साफल्यकारणमित्युक्तम् । शाकुन्तलेऽपि "माढव्य अनात चक्षु'फलोऽसि यद्दर्शनीय त्वया न दृष्टम्" तथा "अये लब्ध नेत्रनिर्वाण-" मित्युक्त्याऽयमेव भाव प्रकाशित कविना । त्वया विनेत्यत्र "पृथग्विनानाना भिस्तृतीया-यतरस्यामिति (२ ३-३२) तृतीया । वशस्थवृत्तमिदम् । तल्लक्षणन्तु "जतौ तु वशस्थमुदीरित जरौ ॥११॥

त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेदिति सामान्योक्त्या आत्मनि प्रतीयमानमौत्सुक्यम् आरम्भो नाम प्रथमावस्था । अत्र बीजारम्भयो समन्वयान्मुख सन्धि' । उर्वशी—(आत्मगतम्) अमृतममृतयन्मधुरं ते राज्ञो वचनम् । अथवा चन्द्रादमृतमिति किमाश्चर्यम् । यदत्र मुखानि सरति मुख च चन्द्रतुल्यम् ।

पुरूरवसश्चन्द्रवंशीयत्वादपि कथनमेतत् सङ्गच्छते । (प्रकाशम्) सर्वंश्राव्य-रूपेणैं यथं: अतएव सखीजनस्य मा प्रति समुत्सुकत्वविचयैव तं प्रेक्षितुं द्रष्टुं त्वरते श्रौत्सुक्य मनते मे हृदयम् । राजा—(हस्तेन दर्शयन्) सुतनु सुन्दरि ! हेमकूटगताः हेमकूटगिरिशिखरमधिरूढा एतास्ते सख्य ते मुखं उपप्लवात् उपरागात् राहुग्रहणाद् वा मुक्त यम् तम् चन्द्रमिव पश्यन्ति । यथा राहु ग्रहणान्मुक्त चन्द्र जनाः श्रौत्सुक्येन पश्यन्ति तथैव दानवाभिभवान्मुक्ता त्वा सख्यः सोत्कण्ठ प्रतीक्षन्ते । उपमालङ्कारः । आर्याच्छन्दः । (उर्वशी साभिलाप सोत्कण्ठ पश्यति) चित्रलेखा—हला ! किं प्रेक्षसे ! उर्वशी—ननु इति निश्चयार्थे । समदुःखगत- मया सह समानकष्टभोगी जनः लोचनाभ्यां पीयते । उर्वश्या अस्मिन् कथने सखीजनं राजान चोभय प्रत्यपि तस्याः स्नेहो व्यज्यते, यतः उभावपि तस्या समानदुःखभागिनौ । अतएव चित्रलेखाऽनिश्चयेन पृच्छति सस्मित ता नृपासक्तचित्ता ज्ञात्वा 'अयि कः' इति । उर्वशी तु पुनरपि अविस्पष्टमेवोत्तर ददाति ननु प्रणयिजन इति । सखीजन. नृपश्च द्वावपि तस्या प्रणयिजनौ ।

अनुवाद—राजा—सहेलियाँ बड़े विषाद में हैं । आप देखिये तो— सुन्दरी ! तुम अनायास एक बार भी जिनके नेत्रों के सामने पड़ जाओगी उसके नेत्र सफल हो जायेंगे और वह तुम्हारे बिना बेचैन हो जायगा । फिर सरस मित्रता वाली सखियों का तो कहना ही क्या । ११ ।

उर्वशी—(मन में) तुम्हारा वचन तो सचमुच अमृत है । अथवा चन्द्रमा से अमृत टपके तो आश्चर्य क्या ! (प्रकट रूप से) इसीलिए मेरा हृदय देखने के लिये उतावला हो रहा है ।

राजा—(हाथ से दिखाता हुआ) हे सुन्दरि ! हेमकूट पर स्थित तुम्हारी ये सखियाँ उत्सुक नेत्रों से इस तरह तुम्हारा मुख देख रही हैं जैसे लोग ग्रहण से छूटे हुए चन्द्रमा को देखते हैं । १२ ।

(उर्वशी समागम की उत्कण्ठा से देखती है)

चित्रलेखा—अरे ! क्या देखती हो !

उर्वशी—अपने साथ समवेदना वाले को दोनों नेत्रों से पी रही हूँ।

चित्रलेखा—(मुस्कराती हुई) किसे ?

उर्वशी—प्रेमी जन को।

टिप्पणी—अमियं खु दे—किसी किसी पुस्तक में इसके स्थान पर "अभिजातं खलु अस्या वचनम्" यह पाठ है। अभिजात की परिभाषा यह है :—

प्रदानं प्रच्छन्नं, गृहमुपगते संभ्रमविधिः
निरुत्सेको लक्ष्म्या, अनभिभवगंधाः परकथाः
प्रियं कृत्वा मौनं, सदसि कथनं चाप्युपकृतेः
श्रुतेऽत्यन्तासक्तिः पुरुषमभिजातं कथयति ॥

यदृच्छया—यों ही अर्थात् बिना यत्न के, अनायास। समदुःखसुखः—इन उक्तिप्रत्युक्तियों में नाटकीयता है। प्रत्येक कथन राजा तथा सखीजन दोनों की ओर संकेत करता है। राजा को प्रणयी कहकर अनुराग भी व्यक्त किया गया है।

मूलपाठः—रम्भा—(सहर्षमवलोक्य) हला ! चित्तलेहा दुदीअ पियसही उव्वसी गेह्लिअ विसाहासहिदो विअ भअवं सोमो समुवट्ठिदो राएसी दीसदी। [हला ! चित्रलेखा-द्वितीया प्रियसखीमुर्वशीं गृहीत्वा विशाखा सहित इव भगवान् सोम. समुपस्थितो राजर्षिर्दृश्यते।]

मेनका—(निर्वर्ण्य) दुवेविरणो पिआरिण उवरणदारिण। इअं पच्चारणीदा पिअसही, अअं च अपरिक्खदसरीरो राएसी दीसदि। [द्वे अपि नः प्रिये उपनते। इय प्रत्यानीता प्रियसखी अय च अपरिक्षतशरीरो राजर्षिर्दृश्यते।]

सहजन्या—सहि ! सुट्ठु भरणासि दुज्जआ दारणआ त्ति। [सखि ! सुष्ठु भरणसि दुर्जया दानवा इति।]

राजा—सूत ! इद तच्छैलशिखरम्। अवतारय रथम्।

सूत—यदाज्ञापयत्यायुष्मान् (इति यथोक्तं करोति)

(उर्वशी रथावतार-क्षोभ नाटयन्ती सत्रासं राजानमवलम्बते)

राजा—(स्वगतम्) हन्त सफलो मे विषमावतारः।

यदिद रथ-सक्षोभादङ्गेनाङ्गं ममायतेक्षणया।

स्पृष्ट सरोमकण्टकमङ्कुरित मनसिजेनेव ॥१३॥

उर्वशी—हला किं वि परदो ओसर। [हला! किमपि परतः अपसर।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) णाहं सक्केमि। [नाहं शक्नोमि।]

व्याख्या—रम्भा—(हेमकूटशिखरात् अवलोक्योर्वशीं चित्रलेखां च नृपेण सहायान्तीम् दृष्ट्वा सती रम्भा कथयति) हला! चित्रलेखया सहोर्वशीं गृहीत्वा समुपस्थितः समीपमागतो राजर्षि पुरूरवाः विशाखया सहितः सोमः चन्द्र इव दृश्यते। विशाखेति नक्षत्रद्वयम्। अतएव चन्द्रलेखोर्वश्योः सङ्गतिरत्र युज्यते। तदुक्तं शाकुन्तले तृतीयाङ्के "किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखामनुवर्तेते" इति। अन्यत्र कविना चन्द्रमसा सह चित्राया योगो वर्णितो यथा "हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव" (रघु० १–४६) ग्रीष्मे चित्रा विशाखा चोभेऽपि चन्द्रसमीपे सविशेषं प्रकाशेते। अस्मिन् श्लोके चित्रलेखा-द्वितीयेति पदं प्रच्छन्नरूपेण चित्रानक्षत्रस्यापि सूचकम्। तेन चित्रलेखोर्वशी-सहितो नृप० चित्रा विशाखा सहितेन चन्द्रेणोप्रेक्ष्यते इत्यूह्यम्। मेनका—हले द्वे अपि नः प्रिये उपनते प्राप्ते। कार्यद्वयम् नः प्रियमेव प्राप्तम्। इयं सखी प्रत्यानीता पुनः प्रापिता अयं च राजर्षिः अपरिक्षत सुरक्षित न तु क्षयादिसहित शरीर यस्य स तादृशः स्वस्थशरीरो दृश्यते। सहजन्या—सखि! युक्तं समीचीनमेव मन्यसि कथयसि दुर्जया दानवा इति। राजा—इदं तच्छैलशिखरम्। अवतारय रथम्। सूत—यथाज्ञापयति आयुष्मान्। (इति रथं शैलशिखरे अवतारयति) सूतो राजानमायुष्मानित्येवं संबोधयति विप्रत्वात् ज्येष्ठत्वाच्च।

(उर्वशी रथस्य अवतारेणाभोगमनेन दोलायिता क्षोभं व्याकुलतां नाटयन्ती अभिनयेन प्रदर्शयन्ती सत्रासं भयेन सहितं राजानम् अवलम्बते साहाय्यार्थं हस्तेन गृह्णाति) राजा—(स्वगतम्) हन्तेति हर्षसूचकम्। सफलो मे विषये-ऽस्मिन् प्रदेशे अवतारः। यदिदमिति—यत् यस्मात् कारणात् रथस्य संक्षोभात् निम्नोन्नत-प्रदेशेषु स्यन्दनोपघातात् आयते अक्षिणी यस्याः तथा दीर्घनेत्रया अनया स्वीयेन अङ्गेन सरोमकण्टकितम् पुलकायमानं इदम् मम अङ्गं कामेन मन्मथेन अङ्कुरितम् इव अङ्कुरा सञ्जाता अस्येति "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इतीतच् प्रत्ययः। स्पृष्टम् स्पृश्धातो क्तप्रत्ययः। उर्वश्या अङ्गाना स्पर्श-मवाप्य मे अङ्गेषु जाताः पुलकाः कामस्य अंकुरा इव प्रतीयन्ते। अस्य पुलकस्य लाभेनास्मिन् निम्नोन्नतप्रदेशे मे रथावतारणं सफलं जातमित्यभिप्रायः। छन्दस्त्वार्या। अयमेवाशयः कालिदासेन मालविकाग्निमित्रे चतुर्थेऽङ्के "हस्त-स्पर्शे मुकुलित इव व्यक्त रोमोद्गमत्वात् कुर्यात् क्लान्तं मनसिजतरुर्मां रसज्ञंफल-स्य" इत्यनेन तथाऽऽर्यासप्तशत्यां "पाणिग्रहे पुलकितं वपुरैशं भूतिभूषितं जयति अङ्कुरित इव मनोभूर्यस्मिन् भस्मावशेषोऽपि" इतिच्छन्दसा प्रकटीकृतः। अत्र सरोमकण्टकितं स्पृष्टमित्यनेन बीजस्य बहुलीकरणात् परिकरो नाम सन्ध्यङ्गमुक्तं भवति ॥१३॥ उर्वशी—हला! किमपि स्वल्पमपि परतः दूर-मपसर। नायकाङ्गस्पर्शपीडितायाः नायिकाया उक्तिरियम्। चित्रलेखा—नाहं शक्नोमि दूरमपसर्तुमवकाशाभावात् (सर्वा उपसर्पन्ति राज्ञः समीपं गच्छन्ति)

अनुवाद—रम्भा—(प्रसन्नता के साथ देखकर) चित्रलेखा के सहित प्यारी सखी उर्वशी को लेकर आये हुए यह राजर्षि ऐसे लग रहे हैं जैसे विशाखा के साथ भगवान् चन्द्र हों।

सहेली—सखि ! ठीक कहती हो कि दानवों को जीतना कठिन होता है।

राजा—सूत, यह है वह शैल की चोटी। रथ उतारो।

सूत—जो आपकी आज्ञा। (रथ नीचे उतारता है।)

(उर्वशी रथ के नीचे उतरने के कारण घबडाने का अभिनय करती हुई डरी-सी राजा को पकड लेती है।)

राजा—(मन में) ओह, इस स्थान पर उतरना सफल हुआ—

रथ के हिलने-डुलने से इस दीर्घाक्षी का अंग जो मेरे अग से छू गया है तो इसमें रोमाच हो गया है। ऐसा लगता है कि इसमें ये (रोमाच) काम के अंकुर निकल आये हैं। १३।

उर्वशी—सखि, थोड़ा परे हट जाओ।

चित्रलेखा - (मुस्करा कर) और परे हटना सम्भव नहीं है।

टिप्पणी :—विशाखा दो नक्षत्रों का समूह है। यों चित्रा और विशाखा चन्द्रमा के पास होते हैं तो उनकी कान्ति अधिक दिखाई पडती है। यहाँ पर भी उर्वशी और चित्रलेखा दो हैं। चित्रलेखा चित्रा का स्मरण कराती है।' अङ्कुरितम्—अङ्कुराः सञ्जाता यस्य तत्। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' सूत्र से इतच् प्रत्यय हुआ है। स्वल्पमपि—इस कथन में सखियों का मधुर परिहास व्यञ्जित है।

मूल पाठ :—रम्भा—एध सभावेह्य पिअआरिण राएसिं। [एत सभावयामः प्रियकारिण राजर्षिम्।]

(सर्वा उपसर्पन्ति)

राजा—सूत ! उपश्लेषय रथम्—

यावत् पुनरियं सुभ्रूरुत्सुकाभिः समुत्सुका।
सखीभिर्याति सपर्कं लताभिः श्रीरिवार्तवी ॥१४॥

(सूतो रथं स्थापयति)

अप्सरस—दिट्ठिआ महाराओ विअएण वड्ढदि। [दिष्ट्या महाराजो विजयेन वर्धते।]

राजा—भवत्यश्च सखी-समागमेन। (सख्यः परस्पर प

उर्वशी—(चित्रलेखा-दत्त-हस्तावलम्बा रथादवतीर्य)
अधिश्र म परिस्सजध। ण खु मे आसी आसासो जहा पुणोि
पेक्खिस्सत्ति। [हला! एत। अधिक मा परिष्वजध्वम् न र
सीदाश्वासो यथा पुनरपि सखीजनं प्रेक्षिष्ये इति।]

(सख्यः परिष्वजन्ते)

मेनका—(साशसम्) सव्वहा महाराओ कप्पसदं पुहविं प
होदु। [सर्वथा महाराजः कल्पशतं पृथ्वी पालयन् भवतु।]

व्याख्या :—राजा—सूत! उपश्लेषय स्थापय रथम्। यावदि
यावत् यावता समयेन इयं। समुत्सुका शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः उत्
भिः द्रष्टुमुत्कण्ठिताभिः सखीभिः आर्तवी ऋतोरियम् ऋतुरस्याः प्राप्तः सा
इति अण् प्रत्ययः—ऋतुसम्बन्धिनी श्रीः शोभा लताभिरिव सम्पर्कं याति उपैति
यथा ऋतुसम्बन्धिनी शोभा लताभिः सम्बन्धं प्राप्नोति तद्वदेव सखीः द्रष्टु
मुत्कण्ठितेयमुर्वशी स्वसखीभिः सम्पर्कं यावत्प्राप्नोति तावत् रथमत्र स्थापय।
(सूतो रथं स्थापयति) अनुष्टुप् छन्दः॥१४॥ अप्सरसः—दिष्ट्या महाराजो
विजयेन वर्धते। दिष्ट्येत्यानन्दे। तदुक्तं "दिष्ट्येत्यानन्दने दिष्ट्या
पूर्वोवर्धतिरुत्सवे।" ततो महानयमुत्सवः, महानयमानन्दस्य वा विषयो यन्महा-
राजो विजयी जात इत्यर्थः। राजा—भवत्यश्च सखीसमागमेन। यथाऽहं
विजयेन भवतीनामभिनन्दनीयो जातस्तथा भवत्योऽपि सखी-समागमेनाभिनन्दनीयाः
(सख्यः परस्परं परिष्वजन्ते आलिङ्गन्ति) मेनका—(साशंसम् मङ्गलकामना-
पूर्वकम्) सर्वथा सर्वप्रकारेण महाराजः कल्पशतं बहुकालपर्यन्तं पृथ्वीं
पालयन् भवतु। कल्पशतपर्यन्तं जीवतु पृथ्वीं शासत्। कल्पश्च युगसहस्रतुल्यः
कालः स च ब्रह्मणः एकं दिनम्। शतमत्र बहुत्वसूचकम्।

अनुवाद :—रम्भा—यहाँ प्रिय करने वाले राजर्षि का सत्कार करें।
(सब समीप जाती हैं।)

राजा—सूत ! रथ पास ले आओ—

जिससे यह उत्सुक सुभ्रू (सुन्दर भौंहों वाली) अपनी उत्कण्ठित सहेलियों से इस प्रकार फिर से मिल सके जैसे उचित ऋतु प्राप्त होने पर प्राकृतिक शोभा लताओं से मिलती है ॥१४॥

(सूत रथ खड़ा करता है)

अप्सरायें--विजय के लिये महाराज का अभिनन्दन है।

राजा--और आप लोगों का सखी-समागम के लिये।

उर्वशी—(चित्रलेखा के हाथ के सहारे रथ से उतरकर) सखी, आओ। खूब मेरा आलिङ्गन करो। मुझे तो आशा ही नहीं थी कि फिर से सहेलियों को देखूँगी। (सखियाँ आलिङ्गन करती हैं।)

मेनका—(मङ्गल कामना के साथ) महाराज सौ कल्पों तक पृथ्वी का पालन करते हुए जीवित रहें।

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजानं दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकार पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान्।

राजा—अये गन्धर्वराजः! (रथादवतीर्य) स्वागतं प्रियसुहृदे।

(परस्पर हस्तौ स्पृशतः)

चित्ररथः—वयस्य! केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा। ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः। स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिः मघवन्तं द्रष्टुमर्हति। महत् खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता। पश्य—

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते।
दैत्य-हस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया॥१६॥

राजा—सखे! मैवम्—

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्
विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः।
वसुधाधर-कन्दरा-विसर्पी
प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान्॥१७॥

चित्ररथः—युक्तमेतत्। अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः।

चित्ररथः—(राजानं विक्रमं दृष्ट्वा बहुमानेन सह सादरम्) महेन्द्रस्य उपकारः तस्मै पर्याप्तेन समर्थेन विक्रमस्य पराक्रमस्य महिम्ना गौरवेन दिष्ट्या वर्धते भवान् अभिनन्दनीयोऽसि। विक्रमशब्दस्यात्र प्रयोगः साभिप्रायः। स च विक्रमादित्यस्य महाराजस्यापि प्रशंसासूचकः। अन्यत्रापि चातुर्येण कविना तस्य प्रशंसा कृता। यथा—"अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः"। राजा—अये गन्धर्वराज। रथादवतीर्य स्वागत प्रियसुहृदे (हस्तौ स्पृशतः) हस्तग्रहश्च प्राक्कालिकः परस्पर-दर्शनजन्य-हर्षव्यक्तिप्रकारः। यथोक्तं भागवते (१० ६५-५) समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः—विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः। परस्परं हस्तयोः स्पर्शः, न त्वाङ्गलजनोचितः हस्तस्य स्पर्शः ग्रहो वा। चित्ररथः—वयस्य! समानं वयः यस्य स वयस्यः तत्सम्बोधने। केशिना तन्नामकेन दानवेन हृतामुर्वशीं नारदात् उपश्रुत्य ज्ञात्वा अस्याः प्रत्याहरणार्थमिमां प्रत्यानेतुं शतं क्रतवः सोमयज्ञाः यस्य तेन इन्द्रेण गन्धर्वसेना समादिष्टा आज्ञप्ता। ततो वयमन्तरा मध्ये एव चारणेभ्यः स्तुतिपाठकेभ्यः त्वदीय जयस्य उदाहरणमाख्यानम् श्रुत्वा इहस्थम् अत्र वर्तमानं त्वाम् उपागताः। स भवानिमा-

(तत प्रविशति चित्ररथ)

चित्ररथ —(राजान दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकार-पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराज ! (रथादवतीर्य) स्वागत प्रियसुहृदे ।

(परस्पर हस्तौ स्पृशत)

चित्ररथ —वयस्य ! केशिना हृतामुर्वशी नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्या शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीय जयोदाहरण श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागता । स भवानिमा पुरस्कृत्य सहास्माभि मघवन्त द्रष्टुमर्हति । महत् खलु तत्रभवतो मघोन प्रियमनुष्ठित भवता । पश्य—

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्य-हस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया ॥१६॥

राजा—सखे ! मैवम्—

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्
विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्या ।
वसुधाधर कन्दरा विसर्पी
प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥१७॥

चित्ररथ —युक्तमेतत् । अनुत्सेक खलु विक्रमालङ्कार ।

व्याख्या —सूत —आयुष्मन् ! पूर्वस्या दिशि महता रथवेगेन उपदर्शित जनित शब्द । श्रूयत इति शेष । पूर्वा च ऐन्द्री दिक् । अयमिति—अय पुरोवर्ती कोऽपि तप्त चामीकर सुवर्ण तस्य (तन्निर्मिते) अङ्गदे बाहुभूषणे यस्यैतादृश शुद्धसुवर्णनिर्मिताङ्गदधारी । चमीकरे आकरे जातमिति चामीकरम् । "चामीकर जातरूप महारजतकाञ्चने" इत्यमर । तडित्वान् विद्युद्वान् तोयदो मेघ इव गगनात् शैलाग्र पर्वतशिखरमधिरोहति । उपमालङ्कार ॥१५॥

अप्सरस —(पश्यन्त्य —गगनात् शैलाग्रमधिरोहन्त जन निरीक्षमाणा) अहो इत्याश्चर्यें, चित्ररथो गन्धर्वाणा राजा ।

(तत प्रविशति चित्ररथ)

चित्ररथः—(राजानं विक्रमं दृष्ट्वा बहुमानेन सह सादरम्) महेन्द्रस्य उपकारः तस्मै पर्याप्तेन समर्थेन विक्रमस्य पराक्रमस्य महिम्ना गौरवेन दिष्ट्या वर्धते भवान् अभिनन्दतीयोऽसि। विक्रमशब्दस्यात्र प्रयोगः साभिप्रायः। स च विक्रमादित्यस्य महाराजस्यापि प्रशंसासूचकः। अन्यत्रापि चातुर्येण कविना तस्य प्रशंसा कृता। यथा—"अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः"। राजा—अये गन्धर्वराजः। रथादवतीर्य स्वागतं प्रियसुहृदे (हस्तौ स्पृशतः) हस्तग्रहश्च प्राक्कालिकः पारस्पर-दर्शनजन्य-हर्षव्यक्तिप्रकारः। यथोक्तं भागवते (१०-६५-५) समुपेत्याय गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः—विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः। परमयं हस्तयोः स्पर्शः, न त्वाङ्गुलजनोचितः हस्तस्य स्पर्शः ग्रहो वा। चित्ररथः—वयस्य! समानं वयः यस्य स वयस्यः तत्सम्बोधने। केशिना तन्नामकेन दानवेन हृतामुर्वशीं नारदात् उपश्रुत्य ज्ञात्वा अस्याः प्रत्याहरणार्थमिमां प्रत्यानेतुं शतं क्रतवः सोमयज्ञाः यस्य तेन इन्द्रेण गन्धर्वसेना समादिष्टा आज्ञप्ता। ततो वयमन्तरा मध्ये एव चारणेभ्यः स्तुतिपाठकेभ्यः त्वदीयं जयस्य उदाहरणमाख्यानम् श्रुत्वा इहस्थम् अत्र वर्तमानं त्वाम् उपागताः। स भवानिमामुर्वशीं पुरस्कृत्य गृहीत्वा अस्माभिः सह मघवन्तमिन्द्रं द्रष्टुमर्हति। भवता तत्र भवतः श्रीमतः मघोन इन्द्रस्य महत् प्रियमनुष्ठितं कृतं खलु इति निश्चये। पुरेति—पुरा प्राचीनकाले नारायणेन इयमुर्वशी मरुत्वते इन्द्राय अतिसृष्टा प्रदत्ता। प्रतिपूर्वकस्य सृजेः क्तान्तं रूपम्। सम्प्रति दैत्यहस्तात् अपाच्छिद्य मोचयित्वा सुहृदा भवता अतिसृष्टेति शेषः। एतेन पुरूरवसो नारायणतुल्यत्वं सूचितम्। अनुष्टुप् छन्दः ॥१६॥ राजा—सखे! मैवं वदेति शेषः। ननु इति—ननु निश्चयेन एतद् वज्रिणः वज्रधारिण इन्द्रस्यैव वीर्यं शक्तिः यद् अस्य इन्द्रस्य पक्षे भवाः पक्ष्याः पक्षपातिनो जनाः द्विषतः शत्रून् विजयन्ते अभिभवन्ति। द्विषन्तीति द्विषतः शत्रवः। हि यतः हरेः सिंहस्य वसुधा धारन्तीति वसुधाधराः पर्वताः तेषां कन्दराः गुहाः तासु विसर्पति प्रसरतीति वसुधाधर-कन्दरा-विसर्पी प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः नागान् दन्तिनः हिनस्ति नाशयति। नह्यसौ प्रतिध्वनेः प्रभावः, अपितु हरेरेव। एवमेवात्रापि शत्रुनाशे इन्द्रस्यैव प्रभावो न तु तत्पक्ष्याणाम्।

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजान दृष्ट्वा सबहुमानम्) दिष्ट्या महेन्द्रोपकार-पर्याप्तेन विक्रममहिम्ना वर्धते भवान् ।

राजा—अये गन्धर्वराजः ! (रथादवतीर्य) स्वागतं प्रियसुहृदे ।

(परस्परं हस्तौ स्पृशतः)

चित्ररथः—वयस्य ! केशिना हृतामुर्वशीं नारदादुपश्रुत्य प्रत्याहरणार्थमस्याः शतक्रतुना गन्धर्वसेना समादिष्टा । ततो वयमन्तराचारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः । स भवानिमां पुरस्कृत्य सहास्माभिः मघवन्तं द्रष्टुमर्हति । महत् खलु तत्रभवतो मघोनः प्रियमनुष्ठितं भवता । पश्य—

पुरा नारायणेनेयमतिसृष्टा मरुत्वते ।
दैत्य-हस्तादपाच्छिद्य सुहृदा सम्प्रति त्वया ॥१६॥

राजा—सखे ! मैवम्—

ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद्
विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः ।
वसुधाधर-कन्दरा-विसर्पी
प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागान् ॥१७॥

चित्ररथः—युक्तमेतत् । अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः ।

व्याख्या :—सूतः—आयुष्मन् ! पूर्वस्या दिशि महता रथवेगेन उपदर्शितः जनितः शब्दः । श्रूयत इति शेषः । पूर्वा च ऐन्द्री दिक् । अयमिति—अयं पुरोवर्ती कोऽपि तप्त चामीकरं सुवर्णं तस्य (तन्निर्मिते) अङ्गदे बाहुभूषणे यस्यैतादृशः शुद्धसुवर्णनिर्मिताङ्गदधारी । चमीकरे आकरे जातमिति चामीकरम् । "चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने" इत्यमरः । तडित्वान् विद्युद्वान् तोयदो मेघ इव गगनात् शैलाग्रं पर्वतशिखरमधिरोहति । उपमालङ्कारः ॥१५॥

अप्सरसः—(पश्यन्त्यः—गगनात् शैलाग्रमधिरोहन्तं जनं निरीक्षमाणाः) अहो इत्याश्चर्ये, चित्ररथो गन्धर्वाणां राजा ।

(ततः प्रविशति चित्ररथः)

चित्ररथः—(राजानं विक्रमं दृष्ट्वा बहुमानेन सह सादरम्) महेन्द्रस्य उपकारः तस्मै पर्याप्तेन समर्थेन विक्रमस्य पराक्रमस्य महिम्ना गौरवेन दिष्ट्या वर्धते भवान् अभिनन्दनीयोऽसि । विक्रमशब्दस्यात्र प्रयोगः साभिप्रायः । स च विक्रमादित्यस्य महाराजस्यापि प्रशंसासूचकः । अन्यत्रापि चातुर्येण कविना तस्य प्रशंसा कृता । यथा—"अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः" । राजा—अये गन्धर्वराजः । रथादवतीर्य स्वागतं प्रियसुहृदे (हस्तौ स्पृशतः) हस्तग्रहश्च प्राक्कालिकः पारस्पर-दर्शनजन्य-हर्षव्यक्तिप्रकारः । यथोक्तं भागवते (१० ६५-५) समुपेत्याथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः—विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुः पर्युपागताः । परमयं हस्तयोः स्पर्शः, न त्वाङ्गलजनोचितः हस्तस्य स्पर्शः ग्रहो वा । चित्ररथः-वयस्य ! समानं वयः यस्य स वयस्यः तत्सम्बोधने । केशिना तन्नाम्ना दानवेन हृतामुर्वशीं नारदात् उपश्रुत्य ज्ञात्वा अस्याः प्रत्याहरणार्थमिमां प्रत्यानेतुं शतं क्रतवः सोमयज्ञाः यस्य तेन इन्द्रेण गन्धर्वसेना समादिष्टा आज्ञप्ता । ततो वयमन्तरा मध्ये एव चारणेभ्यः स्तुतिपाठकेभ्यः त्वदीयं जयस्य उदाहरणमाख्यानम् श्रुत्वा इहस्थम् अत्र वर्तमानं त्वाम् उपागताः । स भवानिमामुर्वशीं पुरस्कृत्य गृहीत्वा अस्माभिः सह मघवन्तमिन्द्रं द्रष्टुमर्हति । भवता तत्र भवतः श्रीमतः मघोन इन्द्रस्य महत् प्रियमनुष्ठितं कृतं खलु इति निश्चये । पुरेति—पुरा प्राचीनकाले नारायणेन इयमुर्वशी मरुत्वते इन्द्राय अतिसृष्टा प्रदत्ता । प्रविपूर्वकस्य सृजेः क्तान्तं रूपम् । सम्प्रति दैत्यहस्तात् अपाच्छिद्य मोचयित्वा सुहृदा भवता अतिसृष्टेति शेषः । एतेन पुरूरवसो नारायणतुल्यत्वं सूचितम् । अनुष्टुप् छन्दः ॥१६॥ राजा—सखे ! मैवं वदेति शेषः । ननु इति—ननु निश्चयेन एतद् वज्रिणः वज्रधारिण इन्द्रस्यैव वीर्यं शक्तिः यद् अस्य इन्द्रस्य पक्षे भवाः पक्ष्याः पक्षपातिनो जनाः द्विषतः शत्रून् विजयन्ते अभिभवन्ति । द्विषन्तीति द्विषतः शत्रवः । हि यतः हरेः सिंहस्य वसुधा धरन्तीति वसुधाधराः पर्वताः तेषां कन्दराः गुहाः तासु विसर्पति प्रसरतीति वसुधाधर-कन्दरा-विसर्पी प्रतिशब्दः प्रतिध्वनिः नागान् दन्तिनः हिनस्ति नाशयति । नह्यसौ प्रतिध्वनेः प्रभावः, अपितु हरेरेव । एवमेवात्रापि शत्रुनाशे इन्द्रस्यैव प्रभावो न तु तत्पक्ष्याणाम् ।

दृष्टान्तालकरोऽत्र । इदं च औपच्छन्दसकं नाम वृत्तम् । तच्च वैतालीपच्छन्दसोऽन्ते गकारैकाधिक्येन भवति । तल्लक्षणन्तु पिङ्गले वैतालीयं द्विस्वरा अयुक्त पादे युग वसवोऽन्तेल् गाः । औपच्छन्दसकम् ।"
चित्ररथः—भवता यदुक्तं तत्सर्वथा साधु । अनुत्सेकोऽभिमानराहित्यं हि विक्रमस्य शौर्यस्य अलकारो भूषणम् । १७ ।

अनुवाद—सूत—आयुष्मन्, पूर्व दिशा में रथ के महान् वेग से उत्पन्न शब्द सुनायी पड़ रहा है ।

यह कोई व्यक्ति तपे हुए सोने का अङ्गद (बाहु-भूषण) पहने इस प्रकार शैल की चोटी पर चढ रहा है जैसे बिजली से युक्त बादल ही ।१५।

अप्सरायें—(देखती हुई) अरे चित्ररथ । (चित्ररथ प्रवेश करता है ।)

चित्ररथ—(राजा को देखकर सम्मान के साथ) महेन्द्र का उपकार करने में समर्थ पराक्रम की महिमा से आप विजयशील हैं ।

राजा—अरे ! गन्धर्व राज हैं । (रथ से उतर कर) स्वागत है प्रिय मित्र का । (आपस में दोनों हाथ मिलाते हैं ।)

चित्ररथ—मित्र ! इन्द्र ने, नारद से यह सुनकर कि केशी उर्वशी हर ले गया है, उसके वापिस लाने के लिये गन्धर्वों की सेना को आदेश दिया । फिर बीच में ही चारणों से तुम्हारी विजय का वर्णन सुनकर यहीं पर तुम से मिलने चला आया । उर्वशी को साथ लेकर आपको हम लोगों के साथ इन्द्र का दर्शन करना चाहिये । आपने इन्द्र का बहुत बड़ा प्रिय कार्य किया है । देखिये—

चित्ररथ—यह ठीक है। पराक्रम की शोभा गर्व न करने में ही है।

टिप्पणी—पूर्वस्यां दिशि—इन्द्र का निवास पूर्व दिशा में है और इसी ओर इन्द्र की पुरी अवस्थित बतलायी गयी है।

> यद्-रत्न काञ्चन-मयं शिखरत्रयं च
> मेरौ सुरारिक-पुरारि-पुराणि तेषु।
> तेषामधः शतमख-ज्वलनान्तकानां
> रक्षोऽम्बुपानिल-शशीश पुराणि चाष्टौ॥
>
> सिद्धान्तशिरोमणि, भुवनकोश।

विक्रम-महिमा—'पराक्रम की महिमा से' इस अर्थ के साथ विक्रमादित्य की ओर सङ्केत है। चारणेभ्यः—चारण (भाट) एक जाति है जिसका काम प्रतिष्ठित जनों का यशोगान कर जीविका कमाना है। यह जाति अनेक प्रदेशों में आज भी विद्यमान है। जयोदाहरण उस छन्द या काव्य को कहते हैं जिसका प्रारम्भ 'जयति' आदि शब्दों से हो, जिसमें अनुप्रासादि अलंकार तथा सब विभक्तियाँ हों। प्रताप रुद्र ने इसकी परिभाषा इस प्रकार दी है—

> येन केनापि तालेन गद्य-पद्य-समन्वितम्।
> जयत्युपक्रमं मालिन्यादि-प्रास-विचित्रितम्॥
> तदुदाहरणं नाम विभक्त्यष्टाङ्ग-संयुतम्॥

अनुत्सेकः खलु—यहाँ भी विक्रमादित्य की ओर संकेत है। उन्हें गर्वरहित बताकर प्रशंसित किया है। छन्द—सत्रहवाँ छन्द औपच्छन्दसक है। *यह अर्धसम वृत्त है और वैतालीय छन्द के आगे एक गुरु जोड़ देने से बनता है।* तप्तचामीकराङ्गदः—तपाये हुए शुद्ध सुवर्ण से बना बाजूबन्द पहने हुए। तप्तं यत् चामीकरं तस्य अङ्गदो यस्य सः। अनुत्सेकः—उत्सेक अर्थात् गर्व न होना। विक्रमालंकारः—इस शब्द के दो अर्थ हैं। पराक्रम की शोभा तथा विक्रमादित्य की शोभा।

मूलपाठ :—राजा—सखे ! नायमवसरो मम शतक्रतुं द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवती प्रभोरन्तिकं प्रापय ।

चित्ररथ —यथा भवान् मन्यते । इत इतो भवत्य. । (सर्वाः प्रस्थिता ।)

उर्वशी—(जनान्तिकम्) हला चित्तलेहे ! उवआरिण पि राएसिण सक्कणोमि आमन्तेदु । ता तुम एव्व मे मुहं होहि । [हला चित्रलेखे ! उपकारिणमपि राजर्षि न शक्नोमि आमन्त्रयितुम् । तत् त्वमेव मे मुख भव ।]

चित्रलेखा—(राजानमुपेत्य) महाराअ ! उव्वसी विण्णवेदि महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि पिअसहिं विअ महाराअस्स कित्ति महिन्दलोअणेदु त्ति [महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति—महाराजेनाभ्यनुज्ञाता इच्छामि प्रियसखीमिव महाराजस्य कीर्ति महेन्द्रलोक नेतुमिति ।]

राजा – गम्यता पुनर्दर्शनाय ।

(सर्वा सगन्धर्वा आकाशोत्पतन रूपयन्ति)

व्याख्या :—राजा—सखे ! नायमवसरः कालोऽनुकूलः मम शतक्रतुमिन्द्र द्रष्टुम् । अतस्त्वमेवात्रभवतीं श्रीमतीं प्रभोरिन्द्रस्य अन्तिक समीपं प्रापय । चित्ररथ —यथा भवान् मन्यते यद् भवतोऽभिप्रेतम् । इत इतो भवत्यः आगच्छन्तु इति शेषः ।

(सर्वा प्रस्थिता—चित्ररथेन सह ।)

उर्वशी—(जनान्तिकम् अन्यानपवार्य द्वयोर्मध्ये वार्तालापः) हला चित्रलेखे ! उपकारिणं राजर्षिं न शक्नोमि आमन्त्रयितुम् पराप्रष्टुम्, तत् त्वमेव मे मुख भव, त्वमेव मत्स्थाने समापृच्छस्व । अन्यानपवार्य द्वयो परस्परलापः जनान्तिकम् । तदुक्तं च "वचयित्वैकमन्योन्य द्वाभ्या यत्किल पठ्यते । जनान्तिक नु तत्कार्य त्रिपताकेन पाणिना ।" चित्रलेखा—(राज्ञः समीपं गत्वा) महाराज ! उर्वशी विज्ञापयति निवेदयति—महाराजेन भवताऽभ्यनुज्ञाता अनुमता इच्छामि प्रियसखीमिव

भवतः कीर्ति सुरलोकं नेतुम्। सुरलोके मा दृष्ट्वा सर्वेऽपि भवतो विक्रमस्य चर्चां करिष्यन्ति एव भवतः कीर्तिः सखीव सर्वत्र मया सहैव प्रसरिष्यति।, अतो भवतोऽनुमतिं लब्ध्वाऽहं सुरलोकं गन्तुमीच्छामि।

राजा—गम्यता पुनर्दर्शनाय। साम्प्रतं गच्छतु भवती परं पुनर्दर्शनं देयं भवत्या। (गन्धर्वैः सहिताः सर्वा अप्सरसः आकाशे उड्डयनं नाटयन्ति।)

अनुवाद :—राजा—इन्द्र से मिलने के लिये यह अवसर मुझे अनुकूल नहीं है। इसलिए आप ही इन्हें स्वामी के पास पहुँचा दीजिये।

चित्ररथ—जैसा आप ठीक समझें। आप इधर से चलिये। (सब जाती हैं)

उर्वशी—(एक ओर) अरी चित्रलेखा। मैं तो उपकारी राजर्षि से कह नहीं सकती। तो तुम्हीं मेरी ओर से कह दो।

चित्रलेखा—(राजा के पास जाकर) महाराज! उर्वशी ने कहलवाया है कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं प्रियसखी के समान आपकी कीर्ति को सुरलोक ले जाना चाहती हूँ।

राजा—फिर से दर्शन के उद्देश्य से आइये।

(सब अप्सरायें गन्धर्वों सहित आकाश में उड़ने का अभिनय करती हैं)

टिप्पणी—जनान्तिकम्—इसका लक्षण है :—

त्रिपताककरेणान्यान् अपवार्यान्तिरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत् स्याज जनान्ते,तज्जनान्तिकम्॥

अर्थात् कथा के बीच में और लोगों को बचाकर जब दो व्यक्ति परस्पर आमन्त्रण करते हैं तथा औरों को न सुनने देने के लिए त्रिपताक (तीन स्थान पर मोड़कर) हाथ मुख के पास लगाकर बोलते हैं, तब जनान्तिक होता है। शतक्रतुम्—शतं क्रतवः सोमयज्ञाः यस्य स इन्द्रः। सौ क्रतुओं का अनुष्ठान करने वाला—इन्द्र। आमन्त्रयितुम्—आ + मन्त्रि (गुप्त परिभाषणार्थक) + चुरादिगणीय णिच् (इ) + तुमुन्। अभ्यनुज्ञाता—अभि + अनु + ज्ञा + कर्मणि क्त। अनुमति प्राप्त की है जिसने। इस वाक्य में कथन शैली ध्यान देने योग्य है।

मूलपाठ—उर्वशी—(उत्पतन भङ्ग रूपयित्वा) अम्मो ! लदा विडवे एसा एग्रावली वैअग्रन्तिश्रा मे लग्गा। [अहो ! लताविटपे एषा एकावली वैजयन्तिका मे लग्ना।] (सव्याजमुपसृत्य राजान पश्यन्ती) सहि चित्तलेहे ! मोआवेहि दावराम्। [सखि चित्रलेखे ! मोचय तावदेनाम्।)

चित्रलेखा—(सस्मितम्) आम् दिढ खु लग्गा सा। असक्का मोआविन्दु। [आम्, दृढ खलु लग्ना सा। अशक्या मोचयितुम्।]

उर्वशी—अल पडिहासेरण। मोआवेदि दाव रण। [अलं परिहासेन। मोचय तावदेनाम्।]

चित्रलेखा—दुम्मोआ विअ मे पडिहादि। होदु जदिरस दाव। [दुर्मोचेव मे प्रतिभाति। भवतु, यतिष्ये तावत्।]

उर्वशी—(स्मित कृत्वा। पिअसहि ! सुमरेहि दाव एद अत्तरणो वअरण। [प्रिय सखि, स्मर तावदेतदात्मनो वचनम्।]

(चित्रलेखा मोचन नाटयति) उर्वशी राजानमालोकयन्ती सनि श्वास सखीजनमुत्पतन्त पश्यन्ति)

व्याख्या :—उर्वशी—(उत्पतनभङ्गम् उपरि गमने बाधा प्रदर्श्य) अहो लता-स्कन्धे एषा मे एकावली एकपङ्क्तिमयी आजानुलम्बिनी माला वैजयन्तिका मौक्तिकमाला लग्ना रुद्धा (सव्याजम् एकावली मोचन मिषेण समीपमागत्य राजान विलोकयन्ती) सखि चित्रलेखे ! मोचय तावदेनामेकावलीम्। चित्रलेखा—(विलोक्य सखी व्याज च परिज्ञाय विहसन्ती) आम् सत्य दृढ खलु लग्ना सा, अशक्या मोचयितुम्। भङ्ग्यन्तरेण सा "उर्वशी अपि विस्मयस्य हृदये दृढ लग्ना साऽपि मोचयितु न शक्यते" इत्याशयमपि प्रकटयति। उर्वशी—अल परिहासेन। मोचय तावदेनाम् एकावलीम्। चित्रलेखा—आम् दुर्मोच्या इव प्रतिभाति प्रतीयते तथापि मुक्ता करिष्ये तावत्। उर्वशी—(सस्मितम्) प्रियसखि ! स्मर खलु आत्मन एतद् वचनम्। कार्यकाले मा विस्मार्षी इद स्वीय वचनम्।

अनुवाद —उर्वशी—(उड़ने म रुकावट का अभिनय करके) अरे ! लता की शाखा में मेरी एक लड़ी वाली मोतियों की माला अटक गयी है।

(बहाने से पास आकर राजा को देखती हुई) सखि! चित्रलेखा इसे छुड़ाओ तो।

चित्रलेखा—(देखकर और हँसकर) हाँ, हाँ, बड़ी मजबूती से अटक गयी है। छुड़ाना सभव नहीं है।

उर्वशी—ठिठोली मत करो। छुड़ाओ इसे।

चित्रलेखा—हाँ, छुड़ाना तो कठिन मालूम होता है तो भी छुड़ाऊँगी ही।

उर्वशी—(मुस्कराकर) प्रिय सखी! अपनी इस बात को याद रखना।

टिप्पणी.—एकावली—एक लड़ की सोने या मोतियों की माला। यह घुटनों तक लम्बी, इसलिये टूटने की आशका लिये होती है। बदामी की गुफाओं में प्राचीन देवमूर्तियाँ एकावली धारण किये दिखायी गयी हैं। लता-विटपे—लता की डाली या टहनी। मूल के बाद पहली टूटी हुई डाल। उर्वशी के इस व्याज विलम्ब से काम की "चित्तासङ्ग" नामक द्वितीय अवस्था सूचित होती है। रतिविलास में इसका लक्षण कहा है—"विलम्बस्तु पथि व्याजात् परावृत्यापि दर्शनम्।" शाकुन्तल में भी "दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि दत्वा" से यही अवस्था सूचित की गयी है। दृढं खलु—उलझी हुई माला को छुड़ाने का अनुरोध करने वाली सखी के अन्तरङ्ग भाव को ताड़कर चित्रलेखा परिहास में यह बात कहती है और उर्वशी को प्रकट करती है कि मैं तुम्हारे मन की बात समझ रही हूँ। स्मर तावत्—नाटक में आगे चलकर उर्वशी अपनी सखी को इस बात का स्मरण दिलाती है। इसीलिये यहाँ पर इस बात को याद रखने पर जोर दिया है। सनिःश्वासम्—निर्गतः श्वासः निःश्वासः। तेन सहितं यथा स्यात् तथा। क्रिया विशेषण। लम्बी साँस छोड़ती हुई।

मूलपाठ—राजा—(स्वगतम्)

प्रियमाचरितं लते त्वया मे
गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा
परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा

सूतः—आयुष्मन् !

अदः सुरेन्द्रस्य कृतापराधान्
प्रक्षिप्य दैत्यान् लवणाम्बु-राशौ ।
वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते
महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम् ॥१६॥

राजा—तेन ह्युपश्लेषय रथम्, यावदारोहामि ।

(सूतस्तथा करोति । राजा नाट्येन रथमारोहति ।)

व्याख्या :—राजा—(स्वगतम्) लते ! अस्याः उर्वश्याः गमने क्षणं यावत् विघ्नं आचरन्त्या रचयन्त्या त्वया मे प्रियम् आचरितम् कृतम् । यत् येन मया अपाङ्गे कटाक्ष-युक्ते नेत्रे यस्याः सा एवंविधा परिवृत्तं ईषत् तिर्यक् कृतम् अर्धं मुखं यस्याः सा तादृशी इयमुर्वशी पुनरपि दृष्टा । अत्र औपच्छन्दसिकं छन्दः ।१८। (चित्रलेखा लतास्कन्धादेकावलीं वियोजयति । उर्वशी राजानमालोकयन्ती निःश्वासैः सह सखीजनम् आकाशे उद्गीममानं पश्यति । सूत —आयुष्मन् ! अदः एतत्ते वायव्यं वायुः देवता यस्य तत् अस्त्रं सुरेन्द्रस्य कृतः अपराधो यैस्तान् इन्द्रस्य अपकारिणः दैत्यान् लवणाम्बुराशौ क्षीरसागरे प्रक्षिप्य क्षिप्त्वा महोरगः कूपसर्पः श्वभ्रं बिलमिव पुनः ते शरधिं तूणीरं प्रविष्टम् । यथा सर्पः कश्चित् काल बहिरागम्य पुनरपि स्वबिलं प्रविशति तद्वत् तवास्त्रमपि बहिर्गत्वा शत्रून् प्रणाश्य पुनस्ते तूणीरं प्रविष्टम् । सर्वो वास्त्रशनो भवति शस्त्रं च वायव्यम् । शराः धीयन्ते यत्र स शरधिः । उरसा गच्छतीति उरगः । वायव्यमित्यत्र 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' इति यत् प्रत्ययः । "श्वभ्रं रन्ध्रं वपा शुषि" इत्यमरः । अत्रोपमालङ्कारः (१६) उपजातिश्च छन्दः ।

राजा—तेनहि उपश्लेषय गमनाय सज्जीकृत्य स्थापय, यावत् आरोहामि । (सूतः रथ स्थापयति । राजा नाट्येन रथमारोहति)

अनुवाद :—राजा—(मन में) हे लते ! इसके गमन में क्षण भर विघ्न उत्पन्न करके तुमने मेरा प्रिय किया है । जो मैंने आधा मुँह मोड़कर तिरछे देखती हुई इस उर्वशी को फिर से देख लिया । (चित्रलेखा छुड़ा देती है । उर्वशी महाराज को देखती हुई साँस छोड़ती हुई, ऊपर उड़ती हुयी सहेलियों को देखती है ।) ।१८।

सूत—आयुष्मन्! यह तुम्हारा वायव्य अस्त्र इन्द्र के अपकारी दैत्यों को खारे समुद्र में फेंककर फिर से इस प्रकार तरकस में प्रविष्ट हो गया है जैसे काला साँप बिल में घुस जाता है ।१६।

राजा—तो रथ को पास में लाकर खड़ा करो। मैं चढ़ जाऊँ। (सूत वैसा ही करता है। राजा अभिनय के साथ रथ पर चढ़ता है।)

टिप्पणी:—अपाङ्गनेत्रा—अपाङ्गे नेत्रे यस्याः सा। कटाक्ष युक्त नेत्र वाली। बहुव्रीहि समास। परिवृत्तार्धमुखी—परिवृत्तम् अर्धं मुखं यस्याः सा। जिसका आधा मुख घूम गया है। बहुव्रीहि। छन्द—इस १८वें श्लोक का छन्द औपच्छन्दसिक है। इसका लक्षण पीछे दिया जा चुका है। वायव्यम्—वायु देवता यस्य तद् वायव्यम्। "वाय्वृतु पित्रुषसो यत्" से यत् प्रत्यय हुआ। महोरग—उरसा गच्छति स उरगः सर्पः। महांश्चासौ उरग इति महोरगः। कर्मधारय। अलङ्कार-१६वें श्लोक में उपमालङ्कार है। अस्त्र की उपमा महोरग से एवं तूणीर की बिल से की गयी है। अस्त्र वायव्य है और उरग भी वायुभक्षक होता है। छन्द—१६वें श्लोक में उपजाति छन्द है जिसका लक्षण अन्यत्र दिया जा चुका है।

मूलपाठ—उर्वशी—(सस्पृह राजानमवलोकयन्ती) अवि णाम पुणो वि उवआरिणं एद पेक्खिस्सम्। [अपिनाम पुनरपि उपकारिणमेनं प्रेक्षिष्ये।]

(इति सगन्धर्वा सह सखीभिर्निष्क्रान्ता)

राजा—(उर्वशीवर्त्मोन्मुख)·अहो! दुर्लभाभिनिवेशी खलु मदनः।

एषा मनो मे प्रसभं शरीरात्
पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रात्
सूत्रं मृणालादिव राजहंसी ॥२०॥

(निष्क्रान्तौ)

इति विक्रमोर्वशीये प्रथमोऽङ्कः।

व्याख्या—उर्वशी—(स्पृहया लालसया सह राजानमालोकयन्ती) अपिः सम्भावनायाम् पुनरपि नाम उपकर्तारमेनं राजर्षि प्रेक्षिष्ये द्रष्टुमवसरं प्राप्स्यामि। (इति गन्धर्वैः सहिता सखीभिश्च सह निष्क्रान्ता)

राजा—उर्वश्याः वर्त्मनोऽभिमुख पश्यन्) अहो दुर्लभमप्राप्य जनमभिलषतीति तादृशो मदन कामः। कामो दुष्प्राप्यमिताम् अप्सरस कामयत इत्यर्थः।

एषेति—पितुः नारायणस्य मध्यम पद अन्तरिक्ष उत्पतन्ती एषा सुराङ्गना अप्सरा राजहंसी खण्डितमग्र यस्य तस्मात् मृणालात् कमलदण्डात् सूत्रमिव मे शरीरात् प्रसभं बलात् मन' कर्षतीव। मृणालदण्डस्याग्रभागे खण्डिते ततः सूत्रजाल राजहस्या नि सार्यते। एवमे शरीरमस्याः दर्शनानन्तर खण्डितमिवाशक्त जातम्। साम्प्रत दृष्टिपथाद् दूर यान्ती उर्वशी अस्मान्मे मनोऽपि प्रसभ हरतीव। आकाश नारायणस्य विष्णोर्वामध्यम पदमुच्यते 'वियद्विष्णुपद मित्यमरः। अत्रोपमालङ्कार। उपजातिवृत्तम्। २०।

कालिदासेनायमेव भावः शाकुन्तलेऽपि प्रकरान्तरेण प्रकटीकृत—
"गच्छति पुरः शरीर धावति पश्चादसस्तुत चेतः।
चीनाशुकमिव केतो प्रतिवात नीयमानस्य।"

(निष्क्रान्तौ राजा सूतश्च)

इति प्रथमोऽङ्क

अनुवाद—उर्वशी—(स्पृहा के साथ राजा को देखती हुई) फिर भी कभी इस उपकारी को देख पाऊँगी। (गन्धर्वों और सखियों के साथ चली जाती है।)

राजा—(उर्वशी के मार्ग की ओर मुँह उठाकर) ओह! काम दुर्लभ व्यक्ति की अभिलाषा कर रहा है।

अपने पिता के मध्यवर्ती लोक (अन्तरिक्ष) में उड़ती हुई यह अप्सरा मेरे शरीर से मन को इस प्रकार खींचे ले रही है जैसे राजहंसी आगे से टूटे हुए कमल-नाल से तन्तु खींचती है। (दोनों जाते हैं)। २०।

विक्रमोर्वशीय का प्रथम अङ्क समाप्त हुआ।

टिप्पणी—पितु पद मध्यमम्—अन्तरिक्ष लोक। परवर्ती साहित्य में नारायण ऋषि को नारायण विष्णु से मिला दिया गया है। नाम सादृश्य के कारण दोनों एक मान लिये गए और विष्णु के विशेषण नारायण ऋषि के साथ भी जोड़ दिये गये। ऋग्वेद में विष्णु को त्रिविक्रम कहा है। सब से पहले विष्णु सूर्य का नाम था। सूर्य के तीन पद हैं—१—प्रात. उदयाचल से उदय २—मध्याह्न में परमपद अर्थात् आकाश में सर्वोच्च स्थान की प्राप्ति, ३—सायकाल पश्चिम में अस्तमन। द्वितीय पद या विक्रम (क्रमण या

लायना) अन्तरिक्ष में होता है। यह विष्णु का मध्यम लोक कहा गया था। सूर्य-विष्णु और बाद में विष्णु-नारायण तथा अन्त में नारायण, विष्णु और ऋषि एक बन गये। इसलिये अन्तरिक्ष को नारायण ऋषि का मध्यम लोक कहा है। सस्पृहम्--स्पृहया सह इति। अव्ययी भाव समास। उत्कण्ठा के साथ। प्रेक्षिष्ये--प्र+ईक्ष् (देखना) धातु का लृट् लकार उत्तम पु० एक वचन का रूप। ईक्ष् धातु का प्रयोग आत्मने-पद में ही होता है। दुर्लभाभिनिवेशी--दुःखेन लब्धुं शक्यः इति दुर्लभः। तस्मिन् अभिनिविशते इति दुर्लभाभिनिवेशी। दुष्प्राप्य वस्तु के लिये आग्रह करने वाला। ताच्छील्ये णिनि प्रत्ययः। राजहंस--हंसानां राजा इति राजहंसः। "राजदन्तादिषु परम्" इस सूत्र से राजशब्द का प्रयोग पहले हुआ है। अन्यथा तत्पुरुष समास में इस शब्द का प्रयोग पहले होता।

प्रथमोऽङ्कः—अङ्क की परिभाषा इस प्रकार है—

प्रत्यक्षनेतृ-चरितो रस-भाव-समुज्ज्वलः।
भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णक-संयुतः॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित् संलग्नबिन्दुकः।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीज-संहृतिमान्न च॥
नाना - विधान - संयुक्तो नातिप्रचुर-पद्यवान्।
आवश्यकानां कार्याणामवि रोधाद् विनिर्मितः॥
नानेक-दिन-निर्वर्त्यः कथया संप्रयोजितः।
आसन्न नायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा।
देवी परिजनादीनाममात्य-वणिजामपि।
प्रत्यक्ष-चित्र-चरितैर्युक्तो भाव रसोद्भवैः॥
अन्तनिष्क्रान्त निखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः॥ साहित्यदर्पण
६-११ से १६

इससे स्पष्ट है कि नाटक में नायक, नायिका या देवी, परिजन आमात्यादि का चरित्र स्पष्ट होना चाहिये। शब्दार्थ स्पष्ट और रस एवं भाव विशद हों। कथा का एक भाग उसमें समाप्त होता है। बहुत से कार्यों की भीड़ उसमें नहीं होती। पद्य प्रचुर मात्रा में नहीं होने उसका अभिनय एक दिन में समाप्त हो जाता है। नायक तथा अन्य तीन चार पात्र उसमें होने हैं और अंक के अन्त में सारे पात्र रंगमंच से चले जाते हैं।

द्वितीयोऽङ्कः

(तत प्रविशति विदूषक)

विदूषक—अविद अविद भो, णिमन्तणिओ परमण्णेण विअ राअरहस्सेण फुट्टमाणो ण सक्कुणोमि जनाइण्णे अइण्णणेण अत्तणो जीह् धारिदुम्। ता जाव सो राआ धम्मासणगदो इदो आअच्छइ दाव इमस्सि विरल-जन-सवादे देव-च्छन्दअप्पासादे आरुहिअ चिट्ठिस्सम्। (परिक्रम्योपविश्य पाणिभ्या मुख पिधाय स्थित) [अविद अविद भो! निमन्त्रणिक परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोमि जनाकीर्णेऽकीर्तनेन आत्मनो जिह्वा धारयितुम्। तद्यावत् स राजा धर्मासनगत इत आयाति तावदेतस्मिन् विरल-जन सपाते देवच्छन्दकप्रासादे आरुह्य स्थास्यामि]

(तत प्रविशति चेटी)

चेटी—आणत्तम्हि देवीए कासिराअ पुत्तीए जधा हञ्जे णिउणिए! जदो पहुदि भअवदो सुज्जस्स उवथ्थाण करिअ पडिणिवुत्तो अज्जउत्त सदो आरहिअ सुण्णहिअओ विअ लक्खीअदि। ता तुम विदावतस्स पिअवअस्सादो अज्जमाणवआदो जाणाहि से उक्कण्ठा कालए त्ति। ता कह् खु मए स बम्हवधु अदिसधादव्वो। अहवा तणग्गलग्ग विअ अवस्साअ सलिल ण तस्सि राअरहस्स चिर चिट्ठदि ता जाव ण अण्णेसामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अम्मो! आलेरक-वाणरो विअ कि पि मतअतो णिहुदो अज्जमाणअओ चिट्ठदि। ता जाव ण उवसप्पामि (उपसृत्य) अज्ज, वन्दामि। [आज्ञप्ताऽस्मि देव्या काशिराजपुत्र्या यथा—हञ्जे निपुणिके! यत प्रभृति भगवत सूर्यस्य उपस्थान

कृत्वा प्रतिनिवृत्त आर्यपुत्रस्तत आरभ्य शून्यहृदय इव लक्ष्यते । तत् त्वमपि तावत्तस्य प्रियवयस्यादार्यमाणवकाज्जानीहि अस्योत्कण्ठाकारण-मिति । तत् कथं खलु मया स ब्रह्मबन्धुरतिसन्धातव्यः । अथवा तृणाग्र-लग्नमिवावश्याय-सलिलं न तस्मिन् राजरहस्यं चिरं तिष्ठति । तद्यावदेन-मन्वेषयामि । (परिक्रम्यावलोक्य च) अहो ! आलेख्य-वानर इव किमपि मन्त्रयन्निभृत आर्यमाणवकस्तिष्ठति । तद्यावदेनमुपसर्पामि (उपसृत्य) आर्य, वन्दे ।]

व्याख्या :—ततः इति—इदानीं विदूषकमुखेन अग्रिमकथा-सूचनार्थं विदूषक-प्रवेशमाह तत इति । पूर्वाङ्के राज्ञः सूतस्य च निष्क्रमणानन्तरं विदूषको रङ्गमञ्चमवतरति । विदूषक लक्षणञ्च—"विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकारी विदूषकः ।" तदुक्तं सागरे—'वयस्यश्चाटुपटुः स एव च विदूषकः—अन्तः-पुरचरो राज्ञ नर्मामात्यः प्रकीर्तितः ।' विश्वनाथेनाप्युक्तं—"कुसुम-वसन्ताद्य-भिधः कर्म-वपुर्वेषभाषाद्यैःहास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ।" विदूषक इति—अविद अविद भो. शायता शायताम् । यथा निमन्त्रणिक. निमन्त्रण प्राप्तवान् कश्चिद् ब्राह्मणः परमान्नेन पायसादिना कारणेन परि-स्फुटन् स्वहर्षातिरेकं विद्नोतुमशक्नुवन् जनानां मध्ये निमन्त्रणविषयिणीं चर्चां करोत्येव तद्वदहमपि राजरहस्येन विक्रमोवर्शीयरतिरूपेण जनाकीर्णे जनसम्मर्दे अनीतं नेन अकथनेन स्वीयां जिह्वा धारयितुं सयमितुं न शक्नोमि । राज रहस्यं स्वयमेव स्फुटदिव मम जिह्वातो बहिर्निष्क्रान्तुमिच्छति । तद् यावत् स राजा पुरूरवा धर्मासनगत. न्यायादिकार्याणि समाप्य इत आगच्छति ताव-त्काल एतस्मिन् विरलानां जनानां संपातो यत्र तस्मिन् नाधिकजनयुक्ते देव-च्छन्दक इति नाम्नि प्रासादे आरुह्य स्थास्यामि । एतेन विदूषकस्य रसना-लोलुपत्व व्यज्यते हृदय गाम्भीर्याभावश्च । देवच्छन्दक इति च प्रासादस्य नाम । परिक्रम्य किञ्चिदितस्ततः परिभ्रम्य हस्ताभ्यां मुखं पिधाय स्थितः । ततः इति—ततः काचन चेटी दासी प्रविशति । चेटी—देव्या काशि-राजपुत्र्या पुरुरवसो महिष्या आज्ञप्तास्मि । यथा हञ्जे अये निपुणिके । निपु-णिकेति चेट्याः नाम । यतः आरभ्य भगवतः सूर्यस्योपस्थानं पूजा कृत्वा प्रति-निवृत्त आर्यपुत्रः राजा ततः तस्मात् कालादेव स शून्यहृदयः सर्वेष्वपि विषये-

च्वनभिरुचिर्ट्श्यते । तदत्रमार्यमाणवकदेतनाम्नो विदूषकाज्जानीहि अस्योत्कण्ठायाश्चिन्तायाः कारणम् । तत् कथं स ब्रह्मबन्धुः ब्राह्मणब्रुवः दुष्टविप्रो या मया अतिसन्धातव्यो वञ्चनीयः । कथमहं मधुरालापेन तन्मनसि विश्वासमुत्पाद्य रहस्यमुद्घाटयामि । अथवा तृणाग्रे लग्नमवश्याय-सलिल हिमजल लव इव तस्मिन् राजरहस्य न चिरं तिष्ठति । यथा तृणाग्रे लग्नतुषार-जल-बिन्दुरचिरात् पतति तथैव अस्य मूर्खब्राह्मणस्य मुखे राजरहस्य न चिरं धर्तुं शक्यम् । तदन्वेषयामि तावदिमं विदूषकम् । इतस्ततोऽभ्रमित्वा । अहो ! अयमार्यमाणवकः आलेख्य वानरः चित्रलिखित. कपिरिव निभृतो निश्चलः किमपि मन्त्रयन् गम्भीरभावेन चिन्तयन् तिष्ठति । तद्यावदेनमुपसर्पयामि । उपसृत्य विदूषक—समीपं गत्वा—आर्य वन्दे प्रणमामि ।

(विदूषक प्रवेश करता है)

अनुवाद :—विदू०—अरे अरे भाई, जैसे निमन्त्रण देने या पाने वाला व्यक्ति खीर आदि श्रेष्ठ भोजन के लिये भीतर से टूटा पड़ता है और अपनी जीभ को नहीं सम्हाल पाता ऐसे ही मैं राज रहस्य से फूटा पड़ रहा हूँ और लोगों की भीड़ के बीच अपनी जीभ को रोक नहीं पा रहा हूँ । इसलिये न्याय-दरबार को गया हुआ राजा जब तक इधर न आ जाय तब तक इस देवच्छन्दक नाम के महल पर चढ़कर बैठूँ, जिसमें बहुत कम लोग आते-जाते हैं ।(मच पर इधर उधर घूमकर बैठ ज ता है और दोनों हाथों से मुँह ढक लेता है ।)

(तब चेटी प्रवेश करती है)

चेटी—काशिराज की पुत्री महारानी ने आज्ञा दी है—"अरे निपुणिके ! जब से महाराज भगवान् सूर्य का उपस्थान (सेवा-पूजा) करके लौटे हैं तब से खोये खोये से दिखायी देते हैं ? तो तुम जाकर आर्य माणवक से पता लगाओ कि उनकी उत्कण्ठा (चिन्ता) का क्या कारण है । तो किस प्रकार इस ब्राह्मण से भेद निकाला जाय । वैसे तो तिनके की नोक पर लगी हुई ओस की बूँद की तरह उसमें राजरहस्य अधिक देर तक टिक नहीं सकता । तो तब तक उसे

चेटी—देवी भणादि जधा-अज्जस्स मम उअरि अदक्खिण्णम्। ण मं अणुइदवेअणादुक्खिदं अवलोअदि त्ति। [देवी भणति यथा—आर्यस्य ममोपरि अदाक्षिण्यम्। न मामनुचित-वेदना-दुःखितामवलोकयतीति।]

विदू०—(सवितर्कम्) णिउणिए! किं वा पिअवअस्सेण तत्तभोदीए पडिउल किं वि समाचरिदम्? [निपुणिके! किं वा प्रियवयस्येन तत्रभवत्याः प्रतिकूलं किमपि समाचरितम्?]

चेटी—ज णिमित्त भट्टा उक्कण्ठिदो ताए इत्थिआए णामेण भट्टिणा देवी आलविदा। [यन्निमित्त भर्तोत्कण्ठितस्तस्याः स्त्रिया नाम्ना भर्त्रा देवी आलपिता।]

विदू०—(स्वगतम्) कह सअं एव्व तत्त भोदा वअस्सेण किदो रहस्स भेदो। किं दाणि अहं बम्हणो जीहं रक्खिदुं समत्थोम्हि। (प्रकाशम्) किं तत्त भोदा उव्वसी णामधेएण आमन्तिदा? [कथं स्वयमेव तत्र भवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः किमिदानीमहं ब्राह्मणः जिह्वां रक्षितुं समर्थोऽस्मि। (प्रकाशम्) किं तत्र भवता उर्वशी नामधेयेन आमन्त्रिता?]

चेटी—अज्ज! का सा उव्वसी? [आर्य! का सा उर्वशी?]

विदू०—अत्ति उव्वसि त्ति अच्छरा। ताए दंसणेण उम्मादिदो न केवल त आआसेदि मं वि बम्हणं असिदव्वविमुहं दिढं पीडेदि। [अस्ति उर्वशीत्यप्सराः। तस्या दर्शनेनोन्मादितो न केवलं तामायासयति मामपि ब्राह्मणं अशितव्य-विमुखं दृढं पीडयति।]

व्याख्या :—विदू०—स्वस्ति भवत्यै तव कल्याणं भूयात्। नमः स्वस्तीत्यादिना चतुर्थी। आत्मगतं स्वमनसि एव। एता दुष्टचेटिका प्रेक्ष्य दृष्ट्वा तदुर्वशीविषयकं राजरहस्यं हृदयं भित्वा निष्क्रामति बहिर्गच्छतीव। मुखं किञ्चित् संवृत्य पिधाय प्रकाशं स्पष्टं यथा सर्वे प्रेक्षकाः शृणुयुस्तथा। भवति इति सम्बोधने निपुणिके वेलेयं संगीतस्य। अस्मिन् काले संगीतमनुष्ठेयं तत्त्वं संगीतमुज्झित्वापरित्यज्य कुत्र प्रस्थिताऽसि। निपुणिका न केवला सामान्या

दासी प्रत्युत संगीतेऽपि निपुणेति सूच्यते। चेटी—देव्याः काशिराजदुहितुः वचनेन निदेशेन आर्यं त्वामेव प्रेषितुं द्रष्टुम्। विदू०—तत्रभवती माननीया देवी किमाज्ञापयति ? चेटी—देवी भणति कथयति यथा आर्यस्य राज्ञः ममोपरि अदाक्षिण्यमननुकूलता। अदाक्षिण्ये प्रमाणं किमित्याह—न मामनुचित-वेदनया, विनैवदोषं प्राप्तेन कष्टेन दुःखिता पीडिता मामवलकोयति। निर्दोषमेव पीडितायाः अपि मम चिन्तां न करोति। विदू०—सवितर्कं मनसि तर्कपूर्वकं किंचिद् स्मरन्—निपुणिके ! किं वा प्रियवयस्येन मम सुहृदा राज्ञा तत्रभवत्याः काशिराजपुत्र्याः किमपि प्रतिकूलमहितमाचरितमिति प्रश्नः। चेटी—यस्याः स्त्रियः निमित्त राज्ञो मनसि महतीउत्कण्ठा वर्तते तस्याः नाम तेन भर्त्रा देव्या सह आलपता गृहीतम्। तेन देवीति वक्तव्ये उर्वशीत्युक्तमिति प्रत्ययो विदूषकस्य मनसि जनयितुं निपुणिका तथा भणति। विदू०—स्वगतमात्मन्येव—कथं स्वयमेव तत्रभवता वयस्येन रहस्यभेदः कृतः गोपनीयं वृत्तमुद्घाटितम् अहं पुनर्ब्राह्मणः प्रकृत्या मुखरः कथं जिह्वा रक्षितुं रोद्धुं समर्थो भवामि। प्रकाशम्—किं तत्र भवता देवी राजमहिषी उर्वशीति नाम्ना आलपिता आहूता। किं स देवीं 'अयि उर्वशि' इति कृत्वा आचारितवान् ? अजानत्या अपि निपुणिकायाः समक्षं मूर्खतया विदूषकेन रहस्यभेदः कृतः। चेटी—आर्य ! सा उर्वशी का ? तद्विषये विशेषेण कथयतु भवान्। विदू०—उर्वशीतिनाम्नी काचनाप्सराः देवाङ्गना विद्यते। मम वयस्यः तस्याः दर्शनं प्राप्य उन्मादितः प्रमत्त इव जातः। तेन स साम्प्रतं न केवल तां देवीमेव आयासयति पीडयति मां ब्राह्मणमपि अशितव्य—विमुखं भोजन-पराङ्मुखं कुर्वन् दृढमधिकं पीडयति कष्टे निक्षिपति। अनेन विदूषकस्य भोजन-चिन्ताऽपि सूचिता।

अनुवाद—विदूषक—कल्याण हो आपका। (मन में) इस दुष्ट नौकरानी को देखकर राजा की गुप्त बात तो हृदय फाड़कर निकली-सी पड़ रही है। (कुछ मुँह बन्द कर—प्रकट रूप से) निपुणिके ! आप गाने-बजाने का काम छोड़कर कहाँ जा रही हैं ?

चेटी—देवी के कहने से आपको ही देखने। (निकली थी)

विदू०—सम्मान्या (महारानी) की क्या आज्ञा है ?

चेटी—देवी कहती हैं कि आर्य का व्यवहार मेरे प्रति अनुकूल नहीं है। मेरे अकारण पीड़ा से ग्रस्त होने पर भी मेरे दुःख की ओर ध्यान नहीं देते।

विदू०—निपुणिके ! क्या प्रियवयस्य ने कोई व्यवहार सम्मान्या (देवी) के प्रतिकूल किया है ?

चेटी—जिसके लिये मालिक उत्कण्ठित हैं उस स्त्री का नाम लेकर स्वामी ने देवी को पुकारा है।

विदू०—(मन में) कैसे सम्मान्य प्रिय मित्र ने स्वयं ही रहस्य खोल दिया ? अब मैं ब्राह्मण किस प्रकार जीभ को वश में रख सकता हूँ ? (प्रकट) क्या श्रीमान् ने उर्वशी, इस नाम से बुलाया ?

चेटी—आर्य ! वह उर्वशी कौन है ?

विदू०—उर्वशी एक अप्सरा है। उसके दर्शन से उन्मत्त बनकर न केवल उसे ही परेशान कर रहे हैं (अपितु) मुझ ब्राह्मण को भी भोजन से विमुख रखकर बहुत अधिक पीड़ा पहुँचा रहे हैं।

टिप्पणी—थदाक्षिण्यम्—दक्षिण नायक एक से अधिक स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखकर भी उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करता है कि ज्येष्ठा नायिका

(प्रकाशम्) कि दाव देवीए णिवेदेमि ? [उत्पादितो मया भेदो भर्तु रहस्यदुर्गस्य । (प्रकाशम्) तत् कि तावत् देव्यै निवेदयामि ?

विदू०—णिउणिए ! विण्णवेहि मम वअणेण कासिराअदुहिदरम्—परिस्सन्तम्हि इमाए सिअतिण्हिआए वअस्स णिअत्तावेदुम् । जई भोदीए मुहकमल पेक्खिस्सदि तदो णिअत्तिस्सदि त्ति । [निपुणिके ! विज्ञापय मम वचनेन काशिराज—दुहितरम्-परिश्रान्तोऽस्मि एतस्या मृगतृष्णिकाया वयस्य निवर्तयितुम् । यदि भवत्याः मुखकमल प्रेक्षिष्यते ततो निवर्तिष्यते इति] ।

निपु०—ज अज्जो आणवेदि । [यदार्य आज्ञापयति ।] (इति निष्कान्ता)

(नेपथ्ये वैतालिका)

जयतु जयतु देव —

आलोकान्त-प्रतिहत-तमोवृत्ति रासा प्रजाना
तुल्यो योगस्तव च सवितुश्चाधिकारो मतोन ।
तिष्ठत्येक क्षणमधिपतिर्ज्योतिषा व्योममध्ये
पष्ठे काले त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्न ।१।

विदू०—(कर्णं दत्त्वा) एसो उण पिअ वअस्सो धम्मासण-समुत्थिदो इदो एव्व आअच्छदि । ता जाव पासपडिवत्ती होमि । [एष पुन प्रिय-वयस्य धर्मासन-समुत्थित इत एव आगच्छति । तद्यावत् पार्श्वपरिवर्ती भवामि ।] (इति निष्कान्त)

(प्रवेशक)

व्याख्या—चेटी—स्वगतम्—मया भर्तु स्वामिनो रहस्यमेव दुर्गस्तस्य भेद भेदन उत्पादित कृत । मया भर्तु प्रीतिरहस्य ज्ञातम् । प्रकाशम्—विदूषक प्रति कथयति तदितोऽस्मात् स्थानाद् गत्वा देव्यैकिं निवेदयामि । मयाऽस्मिन् विषये देवीं प्रति किं वक्तव्यमिति भवान् निर्दिशतु । अत्र रहस्य

दुर्गरूपेणोक्तम्। यथा दुर्गप्रतिकाठिन्येन प्रवेशो भवति तथा रहस्यमपि कष्टे-नैवोद्घाटनीयं भवतीत्यभिप्रायः। विदू०—निपुणिके! मम वचनेन काशिराज-दुहितरं देवीं निवेदय—अहं वयस्यमेतस्या उर्वशीप्रणयतृष्णाया मृगतृष्णि-काया मृगमरीचिकारूपिण्याया निवर्तयितुं व्यावर्तयितुं परिश्रान्तोऽस्मि। उर्वशी-प्रणयं प्रति तन्मनसि विरक्तिं जनयितुमहं दृढं प्रयत्नं कृतवान् परं न साफल्य मुपगतः। साम्प्रतमेक एवोपायोऽवशिष्यते तच्च भवत्या साक्षात्कारः। यदि स भवत्या मुखकमलं प्रेक्षिष्यते द्रक्ष्यति तदा तत्सौन्दर्याकृष्ट प्रत्यय दर्शनेन सञ्जात लज्जोना ततः विरतो भविष्यति। इयं विदूषकस्य चाटूक्तिः। निपु०—यदार्यं आज्ञापयति तदेव देव्यै निवेदयिष्ये। इति रङ्गाद् बहिर्गता। अयं चेटी विदूषक-वार्तालाप प्रसङ्गाख्य वीथ्यङ्गं उपस्थापयति। तदुक्तं—'मिथोवाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः' इति। अत्र देवी उर्वशी नाम्ना आलिहितेति सर्वं तदद्भुतमेव। नेपथ्ये—अन्तर्यवनिका रचना स्थानात् वैतालिक समयसूचक पठति। 'वैतालिका बोधकरा" इत्यमरः। विविधेन तालेन शब्देन चरन्तीति वैतालिकाः। 'चरतेष्ठक्' इतिसूत्रेण ठक् प्रत्ययः। जयतु जयतु देव सर्वत्र विजयी भवतु महाराज—आलोकान्तादिति—आलोकान्तात् लोकालोकान्त इति लोकान्तं तं समन्तं यावद्

दिनमष्टभागेषु विभक्तं भवति । तत्र राज्ञा "षष्ठे स्वैरविहारो मन्त्रो वा सेव्यः" इति चाणक्यादयो नीतिशास्त्रज्ञाः । तत्र "दिवसस्याष्टम भागं मुक्त्वा भागत्रयं तु यत्—स कालो व्यवहाराय शास्त्रदृष्टः परः स्मृतः" इति वरदराजीय राजधर्मानुसारेण प्रथमकालेऽग्निहोत्रादि विधिः तदनन्तरं च भागत्रये व्यवहार-कार्याणि सम्पादनीयानि । ततश्च स्नान-भोजनादिकं स्वैरविहार-श्चान्तःपुरे । एवमेव सूर्यस्यापि उदयादारभ्य मध्याह्न-काल पर्यन्तं सततं गति-स्ततः कतिपय क्षणानि यावद् विरामस्ततः पुनरवतरणमिति ज्योतिः शास्त्रिणो मन्यन्ते ।

अत्र श्लेषालङ्कारो मन्दाक्रान्ता च वृत्तम् । तल्लक्षणं तु "मन्दाक्रान्ता जलधि षडगैर्म्भौ नतौ तान् गुरू चेत्" इति वृत्तरत्नाकरे ।१।

विदू०—कर्णं दत्त्वा श्रुत्वा—एषः प्रियवयस्यो राजा धर्मासनाद् उत्थितः व्यवहारकार्याणि समाप्य इत एवागच्छति । तद्यावद् अस्य पार्श्वपरिवर्ती समीपस्थो भवामि ।

एतदुक्त्वा विदूषको गतः ।

प्रवेशकः—विदूषक-प्रवेशादारभ्य पार्श्वपरिवर्ती भवामीतिपर्यन्तः सन्दर्भः प्रवेशक इत्याख्यायते । प्रवेशयति द्वितीयाङ्के इति प्रवेशकः । सः अर्थोपक्षेप-केष्वन्यतमः । तथोक्तम्—

द्विधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चित् दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥
अर्थोपक्षेकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भ-चूलिकाऽङ्कास्याङ्कावतार-प्रवेशकैः ॥

तत्राधमपात्रेण पात्राभ्यां वा प्राकृतभाषिभ्यां सूच्यस्य कथावस्तुनः सूचनं प्रवेशकः । तदुक्तं धनिकेन—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥

तद्वदेवेत्यनेन विष्कम्भलक्षणोक्तं भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वं संक्षिप्तार्थत्वं चात्रातिदिश्यते । अङ्कद्वयान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः ।

अनुवाद :—चेटी—(मन में) स्वामी के रहस्यरूपी दुर्ग को (तो) मैंने तोड़ दिया। अब जाकर देवी को यह (बात) बतलाऊँ। (जाती है)

विदू०—निपुणिके! मेरी ओर से काशिराज की पुत्री को बतला देना कि मैं वयस्य को इस मृगतृष्णा से वापिस लौटाने (के प्रयत्न) में थक चुका हूँ। यदि आपका मुख कमल देखेंगे तो निवृत्त हो जायँगे।

चेटी—जो आपकी आज्ञा (चली जाती है)।

(नेपथ्य मे वैतालिक गाता है)

देवी जय हो, जय हो—

हमारी समझ में आपका और सूर्य का कार्य एक ही जैसा है। सूर्य संसार के छोर तक तमोवृत्ति (अन्धकार के प्रसार) का नाश करता है और आप भी संसार के छोर तक प्रजाओं की तमोवृत्ति (तामसिक दुराचरण) का नाश करते हैं। प्रकाश का स्वामी सूर्य क्षणभर के लिए (मध्याह्न काल में) आकाश के बीच में रुकता है और आप भी दिन के छठे भाग में विश्राम पाते हैं।१।

विदू०—(कान लगाकर) धर्मासन से उठकर प्रिय वयस्य इधर ही आ रहे हैं। तो उनके पास पहुँचूँ। (जाता है)

प्रवेशक समाप्त।

टिप्पणी :—मृगतृष्णिका—मरुभूमि में प्यास का मारा मृग पानी के लिए इधर-उधर घूमता है। वह सामने बालू पर पड़ती तेज धूप से उठती हुई चमक को पानी समझ कर उसकी ओर दौड़ता है किन्तु ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, चमक दूर हटती जाती है और मृग उसके पीछे दौड़ता-दौड़ता तड़प कर मर जाता है। इसे ही मृगतृष्णा कहते हैं। मिथ्या आकर्षक वस्तु के लिये लाक्षणिक रूप में इसका प्रयोग होता है। निवर्तयितुम्—नि+वृत् धातु+णिच्+(प्रेरणार्थक) प्रत्यय+तुम्। लौटा लाने के लिए। वैतालिक—राजभवनों में गीतादि के द्वारा समय की सूचना देने वाला—स्तुतिपाठक। विविधेन तालेन चरति। 'चरतेष्ठक्' सूत्र से ठक् प्रत्यय। प्रतिहततमोवृत्ति

—प्रतिहता तमसो वृत्तिः येन। अन्धकार तथा तमोगुणी बातों, कलह, स्वार्थ आदि को नष्ट करने वाला। छन्दवर्ती—छन्देन इच्छया वर्तते इति। इच्छानुकूल कार्य करने वाला। षष्ठे भागे—शास्त्रविधि के अनुसार राजा को चाहिये कि वह दिन को आठ भागों में बाँटकर प्रथम शौच, अग्निहोत्र आदि करे। फिर व्यवहार सभा में प्रवेश करे। फिर स्नान भोजन, फिर अन्तःपुर में विहार करे। फिर राज्य कार्य देखे। षष्ठ भाग में स्वेच्छाविहार कर सकता है। छन्द—इस श्लोक में मन्दाक्रान्ता छन्द है। इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है।

(ततः प्रविशति उत्कण्ठितो राजा विदूषकश्च)

मूलपाठ :—

राजा—आदर्शनात् प्रविष्टा सा मे सुरलोक-सुन्दरी हृदयम्।
वाणेन मकरकेतोः कृतमार्गमवन्ध्यपातेन ॥२॥

विदू०—सपीडा खु जादा तत्तभोदी कासिराअ दुहिदा। [सपीडा खलु जाता तत्रभवती काशिराजदुहिता।]

राजा—(निरीक्ष्य) रक्ष्यते भवता रहस्यनिक्षेपः?

विदू०—(सविषादमात्मगतम्) वञ्चिदोम्हि दासीए णिउणिआए अण्णधा कध एव्वं पुच्छदि वअस्सो। [वञ्चितोऽस्मि दास्या निपुणिकया। अन्यथा कथमेव पृच्छति वयस्यः।]

राजा—(साशङ्कम्) किं भवांस्तूष्णीमास्ते?

विदू०—भो! एव्वं मए जीहा संजन्तिदा जेण भवदो वि णत्थि पडिवअणम्। [भो, एवं मया जिह्वा संयन्त्रिता येन भवतोऽपि नास्ति प्रतिवचनम्।]

राजा—युक्तम्। अथ केदानीमात्मानं विनोदयामि?

विदू०—भो! महाणस गच्छम्ह। [भो! महानसं गच्छाव।]

राजा—किं तत्र?

विदू०—तहिं पञ्चविहस्स अम्भवहारस्स उवणद-सम्भारम्म जोअणं पेक्खमाणेहिं सक्क उक्कण्ठां विणोदेदुम्। [तत्र पञ्चविधस्याभ्यवहारस्य उपनतसम्भारस्य योजनां प्रेक्षमाणाभ्यां शक्यमुत्कण्ठां विनोदयितुम्।]

व्याख्या :—तत इति—ततः प्रवेशकानन्तरमुर्वशीविषये उत्कण्ठितो राजा विदूषकेण सह रङ्गमुपमवतरति।

राजेति—दर्शनाद् आ दर्शनकालादारभ्य सा सुरलोकसुन्दरी देवाङ्गना मे हृदयं प्रविष्टा। देवाङ्गनाप्रवेशस्य अवकाशसापेक्षत्वाद् हृदयस्य च निरवकाशत्वात् कथ तत्र प्रवेश इति शङ्का निरसितुमुत्प्रेक्षते—मकरः मीनः केतौ-ध्वजे यस्य स तस्य कामस्य अवन्ध्यपातेन न बन्ध्यः विफलः पातः पतनं यस्य तादृशेन अमोघेन बाणेन कृतः मार्गः अवकाशः यत्र तत् कृतमार्गम् इव। तस्याः हृदये प्रवेशार्थं कामेन द्वारमिव कृतम्। यतः प्रभृति तस्याः दर्शनं जातं तत.प्रभृत्येव कामेन कृतविले मे हृदये सा प्रविष्टा। अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। आर्यावृत्तम् ।२।

विदू०—भवतः उर्वशी-विषयिण्या प्रीत्या तत्रभवती काशिराजपुत्री सपीडा पीडिता जाता।

राजा—निरीक्ष्य सविस्मय विदूषकं प्रति विलोक्य किं भवता विदूषकेण रहस्यमेव निक्षेपः उर्वशीप्रणयरूप रहस्य न्यासरूपेण भवति निहितं रक्ष्यते गोप्यते ! ममोर्वश्या प्रीतिः त्वया प्रकाशिता न वा ?

विदू०—आत्मगतम्—रहस्यमुद्घाटितमिति विचिन्त्य विषण्णमुद्रया स्वमनसि—निपुणिकया दास्या वञ्चितः प्रतारितोऽहम्। तयोक्त यद् राज्ञा देव्याः समक्षमुर्वश्याः नाम गृहीतम्। यद्येव स्यात्तर्हि मा रहस्य पृच्छेत्। तेन स्पष्टमेवाह दास्या प्रतारितः।

राजा—विदूषक-मुद्रा दृष्ट्वा रहस्य-रक्षण-विषये संशयापन्न सन् राजा पृच्छति—भवान् केन कारणेन नोत्तरं ददाति।

विदू०—मया एव जिह्वा सयन्त्रिता रहस्यप्रकटनविषये विरुद्धा येन भवतेऽपि रहस्यविषयके प्रश्ने प्रतिवचनमुत्तर न दीयते। विदूषकश्चातुर्येण निजापराध गोपयत्यत्र।

राजा—युक्तमुक्तमेव रहस्यरक्षणम्। अथ केनोपायेन उर्वश्यमावे खिन्न मनो विनोदयामि।

विदू०—भोः महानस पाकशाला गच्छावः। एतेन विदूषकस्य मनोविनोदकारण भोजनमेवेति सूचितम्।

राजा—किं तत्र ? तत्र मनोविनोदनाय कानि साधनानि विद्यन्ते ?

विदू०—तत्र महानसे पञ्चविधस्य लेह्य-चोष्य-पेय-भक्ष्य-भोज्यभेदेन पञ्चप्रकारकस्य उपनतसमारस्य उपनतः आनीय प्रस्तुतीकृतः सभारः सामग्री साधनानि वा यस्य तादृशस्य अभ्यवहारस्य अशनीयस्य योजना विधान प्रेक्षमाणाभ्या उत्कण्ठा विनोदयितु शक्यम्। महानसे पचनाय प्रस्तुता बहुविधसामग्रीं पाकक्रिया च बहुरूपामवेक्ष्य मनोविनोदयितुं शक्यम्।

'उत्कण्ठा विनोदयितुं शक्यमिति' प्रयोगो चिन्त्यः। तत्स्थाने च 'उत्कण्ठा विनोदयितुं शक्या' इति प्रयोगेण भाव्यम्। तथापि पतञ्जलेरारभ्यार्वाचीनग्रन्थपर्यन्तमेतादृशः प्रयोगोऽनेकधा दृश्यते रूढश्च जातो यथा 'शक्य यानेन श्वमांसदिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्' महाभाष्य आ० १। तथाचोक्त वामनेन काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ (५-२) *शक्यमिति रूप विधिलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधाया सामान्योपक्रमात्* इति। कालिदासेन कुमारसम्भवे (८-६२), शाकुन्तले (३-६) चापि एतादृश एव प्रयोगः कृतः।

अनुवाद :—

(उत्कण्ठित राजा और विदूषक आता है)

राजा—जब से उस सुरलोक की सुन्दरी को देखा है तभी से वह मेरे हृदय में प्रवेश कर गयी है। मानो कामदेव के कभी व्यर्थ न जाने वाले बाण ने (उसके प्रवेश के लिये मेरे हृदय में) रास्ता बना दिया हो।२।

विदू०—श्रीमती काशिराज-पुत्री अवश्य ही पीड़ित हो रही हैं।

राजा—(ध्यान से देखकर) आपके पास रखा हुआ रहस्य तो सुरक्षित है ?

विदू०—(दुःख के साथ मन में) दासी निपुणिका ने धोखा दिया है, नहीं तो वयस्य इस प्रकार कैसे पूछ रहे हैं ?

राजा—आप चुप क्यों हैं ?

विदू०—अरे ! मैंने इस प्रकार जिह्वा को बाँध दिया है कि आप को भी उत्तर नहीं (मिलेगा)।

राजा—ठीक है। अब किस से अपना मन बहलाऊँ ?

विदू०—रसोईघर चलें।

राजा—वहाँ क्या है ?

विदू०—वहाँ तैयार की जाती हुई पाँच प्रकार की रसोई की योजना को देखकर हम दोनों उत्कण्ठा (मानसिक चिन्ता) को शान्त कर सकते हैं।

टिप्पणी :—अवन्ध्यपातेन—न वन्ध्यः पातो यस्य सः अवन्ध्यपातः तेन। रहस्यनिक्षेपः—रहस्यमेव निक्षेपः इति रहस्यनिक्षेपः। पञ्चविधाभ्यवहार—भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य और पानीय। पाँच प्रकार का भोजन। अभिसंहति—अभि+सम्+धा धातु+क्त प्रत्यय।

मूलपाठ :—राजा—(सस्मितम्) तत्रेप्सित-सन्निधानाद् भवान् रंस्यते। मया खलु दुर्लभ-प्रार्थनः कथमात्मा विनोदयितव्यः ?

विदू०—न भवं वि तत्तभोदीए उव्वसीए दसणपहं गदो। [ननु भवानपि तत्रभवत्या उर्वश्याः दर्शनपथं गतः।]

राजा—तत किम् ?

विदू०—ण खु दे दुल्लह त्ति तक्केमि। [न खलु ते दुर्लभेति तर्कयामि।]

राजा—पक्षपातोऽपि तस्यां सद्रूपस्यालौकिक एव।

विदू०—एत्तिअ मन्त अन्तेण भवदा वड्ढिदं मे कोदूहलं। किं तत्तभोदी उव्वसी अदुदिआ रूवेण अहं विअ विरूवदाए ! [एतावन्मन्त्रयमाणेन भवता वर्धितं मे कौतूहलम्। किं तत्रभवती उर्वशी अद्वितीया रूपेण अहमिव विरूपतया ?]

राजा—माणवक ! प्रत्यवयमशक्यवर्णनां तामवेहि। तेनहि समाहित श्रूयताम्।

विदू०—अवहिदो म्हि। [अवहितोऽस्मि।]

राजा—आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधन-विशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥३॥

विदू०—अदो दाव तुए दिव्य-रसाहिलासिणा चादअव्वद गहिद । ता दाव तुम कहि पत्थिदो ? [अतस्तावत्त्वया दिव्यरसाभिलाषिणा चातकव्रत गृहीतम् । तत्तावत्त्व कुत्र प्रस्थित ?]

राजा—विविक्ताद् ऋते नान्यदुत्सुकस्य शरणमस्मि । तद् भवान् प्रमद-वन-मागमादेशयतु ।

विदू०—(आत्मगतम्) का गई (प्रकाशम्) इदो इदो भव । [का गतिः (प्रकाशम्) इत इतो भवान्]

(इति परिक्रामत)

व्याख्या :—राजा—तत्र ईप्सितस्य मनोऽनुकूलस्य भोजनस्य सन्निधानात् सामीप्याद् भवान् रस्यते आनन्दमनुभविष्यति परमह तु दुर्लभ मार्थन दुर्लभा प्रार्थना याचित वस्तु यस्य स तादृश कथमात्मान विनोदयिष्यामि ?

विदू०—ननु भवानपि तत्र भवत्या उर्वश्या दर्शनपथ दृष्टिविषयता गत प्राप्त । यदि सा भवन्तमेकवारमपि दृष्टवती तदाऽवश्य साऽपि त्वा प्रत्येवमेवोत्कण्ठिता भविष्यति । तेन च सङ्गमोऽवश्यंभावी ।

राजा—को लाभस्तस्या मद्दर्शनेन ?

विदू०—यदि तया त्व दृष्टस्तदा न सा ते दुर्लभा भविष्यति । अवश्यमे वैकवार दर्शनेन साऽपि त्वा प्रति समाकृष्टा सङ्गमोपाय चिन्तयिष्यति ।

राजा—तद्रूपस्य सौन्दर्यस्य तस्यामलौकिक विलक्षण एव पक्षपात आत्मीयत्वेन स्थिति । साऽलौकिक-सौन्दर्य-शालिनीत्यर्थ ।

विदू०—एव पूर्वोक्तरीत्या तस्या सौन्दर्य वर्णयता तथा मे कौतूहल वर्धितम् । किं सा रूपेण तथाऽद्वितीया अनुपमा यथाऽह विरूपतया कुरूपत्वेन अद्वितीयोऽस्मि ।

राजा—माणवक ! अवयव अवयव प्रतीति प्रत्यवयव प्रत्यङ्गम् अशक्य वर्णन यस्या तादृशी तामवेहि जानीहि । तस्या अङ्गानि सर्वाण्यपि विलक्षण सौन्दर्यवन्ति । पर तेषा सर्वेषा वर्णनं कर्तुं दुष्करम् । अत समासत सक्षेपेण वर्णन क्रियते । तच्च श्रूयताम् ।

विदू०—अवहित सावधानोऽस्मि वर्ण्यताम् ।

आभरणस्येति—तस्या उर्वश्याः वपुः शरीरमाभरणस्य कटक-कुण्डला-द्यलङ्काराणामपि आभरणं भूषणम्। नहि आभरणैस्तस्याः शरीरस्य शोभा वर्धते प्रत्युत तच्छरीरस्य संपर्कमवाप्य आभूषणानि शोभाविशेषं पुष्णन्ति। प्रसाधनस्य लेपाञ्जनादेः विधिः क्रियेति प्रसाधनविधिस्तस्य प्रतिकर्मणः प्रसाधन-विशेषः समधिककान्तिप्रदम्। नहि तस्याः शरीरं लेपाञ्जनाऽङ्गरागादिना वर्धितकान्ति भवति, अपितु तच्छरीरसंसर्गं लब्ध्वा एतानि प्रसाधनानि अनुपमशोभामयानि जायन्ते। तथैव तस्याः वपुः चन्द्र-कमल-खञ्जनादि वस्तु-जातस्य उपमानरूपेण प्रसिद्धस्योपमानमस्ति न तु उपमेयम्। तच्छरीरमुप-मानपदार्थेभ्योऽप्यतिशयकान्तिमद् वर्तते। तेनैतेषां चन्द्रादीनां वर्णने उर्वशी-शरीरमुपमानत्वेन स्थाप्यते। प्रसाध्यतेऽनेन इति प्रसाधनम्। "प्रतिकर्म प्रसाधनमित्यमरः।" उपमीयतेऽनेन इत्युपमानम्। अत्र नायिकायाः दीप्ति-नामायत्नजोभावः। तदुक्तं दशरूपके—"दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः।" उपमाना-दपि च वपुषः आधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः। "उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः" इति लक्षणात्। आर्याच्छन्दः।३।

विदू०—अत उर्वश्या निरतिशय-शोभा-शालित्वात् दिव्यरसाभिलाषिणा दिवि भवो दिव्यः अपार्थिवोऽलौकिको यो रसः प्रेमानन्दः जलं वा, तमभि-लषतीति दिव्यरसाभिलाषी तेन त्वया चातकस्य व्रतं नियमः गृहीतम्। यथा दिव्यजलाभिलाषी चातकः स्वातिनक्षत्रे वर्षितं जलं भूमौ पतनात् पूर्वमेव चञ्च्वा गृहीत्वा पिबति, न भू-पतितम्। तदभावे च तृषार्त एव क्रन्दन् तिष्ठति तद्वत् त्वयाऽपि दिव्याङ्गनाप्रेमव्रतं गृहीतम्। नहि मर्त्यायां कस्यामपि ते स्नेहबन्धः। तदप्राप्तौ च त्वं आर्त इव विलपस्तिष्ठसि। उक्तञ्च मल्लिनाथेन रघुवंशव्याख्यायाम् (५-१७) "धरणीपतितं तोयं चातकानां रुजाकरम्।" "दिव्य रसा" इत्यत्र श्लेषः। तत् तावत् साम्प्रतं क्व त्वं प्रस्थितः।

राजा—नहि विविक्तादेकान्तप्रदेशाद् ऋते उत्सुकस्य स्नेहानुभवविषये उत्कण्ठितस्य जनस्यान्यत् शरणमाश्रयोऽस्ति। तद् भवान् प्रमदवनस्य प्रासाद-सन्निहितोपवनस्य मार्गम् आदेशयतु दर्शयतु। राजभवनसन्निहितं मनोविनोद-साधनमुपवनं प्रमदवनं कथ्यते। तदुक्तममरकोषे "स्यादेतदेव प्रमदवन-पुरोचितम्।"

विदू०—का (आत्मगतम्) गतिर्नोपायान्तर विद्यत इत्यर्थः। (प्रकाशम्) इत इतोभवान् अनेन मार्गेणागच्छतु। (इति परिक्रामतः गच्छतः)

अनुवाद :—राजा—यहाँ यथेच्छ वस्तुओं के सामीप्य से आपका मन बहल जायगा किन्तु मैं दुर्लभ वस्तु को चाहने वाला हूँ। मैं स्वयं को कैसे बहलाऊँगा ?

विदू०—क्या आप भी श्रीमती उर्वशी की नजर के सामने पड़े हैं ?

राजा—इससे क्या ?

विदू०—(तो) मैं समझता हूँ कि वह तुम्हारे लिये दुर्लभ नहीं है।

राजा—सौन्दर्य का भी झुकाव उसके प्रति विलक्षण ही है।

विदू०—(उर्वशी के विषय में) इस प्रकार चर्चा करके आपने मेरा कौतूहल बढ़ा दिया है। क्या श्रीमती उर्वशी रूप में उसी प्रकार अद्वितीय हैं जैसे कुरूपता में मैं ?

राजा—माणवक ! यह समझो कि उसके प्रत्येक अङ्ग का वर्णन करना सम्भव नहीं है। इसलिए संक्षेप में सुनो।

विदू०—मैं (सुनने के लिए) एकाग्रचित्त हूँ।

राजा—हे मित्र ! उसका शरीर आभूषण का भी आभूषण है और प्रसाधन क्रिया (साज सज्जा) की भी शोभा बढ़ाने वाला है। वह उपमान (के रूप में प्रसिद्ध) भूत वस्तु का भी उपमान है।

विदू०—इसीलिए दिव्य रस चखने की अभिलाषा से तुमने यह चातक का मत ग्रहण किया है। तो आप आ कहाँ रहे हैं ?

राजा—उत्सुक व्यक्ति के लिए एकान्त को छोड़कर और सहारा नहीं होता। इसलिए आप प्रमदवन का मार्ग दिखलाइये।

विदू०—(मन में) और चारा ही क्या है ! (प्रकट) इस ओर से, आप इस ओर से चलिए।

जिसका अर्थ है पाने की इच्छा करना। ईप्स्+क्त=ईप्सित। रंस्यते—आत्मनेपदी रम् (क्रीडार्थक) धातु का लृट् लकार का अन्य पुरुष एकवचन का रूप। प्रत्ययवयम्—अवयवम् अवयव प्रति इति प्रत्यवयवम्। अव्ययीभाव समास। अलङ्कार—तृतीय श्लोक में उपमेय उर्वशी को उपमानों से भी बढ़ाकर बतलाया है। अत यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। काव्यप्रकाश में कहा है—"उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।" दिव्यरसाभिलाषिणा—इस शब्द में श्लेष है—(१) दिव्य अप्सरा के प्रेम रस की अभिलाषा करने वाला (२) दिव्य अर्थात् आकाश से गिरने वाले जल की कामना करने वाला। चातकव्रतम्—चातक एक छोटा-सा पक्षी है जो धरती पर गिरा हुआ जल नहीं पीता। प्यास लगने पर आकाश की ओर देखकर करुण स्वर में चिल्लाया करता है। कहा है "धरणीपतित तोय चातकानां रुजाकरम्।"

मूलपाठ —विदू०—एसो पमदवण परिसरो। आश्रमिय पच्चुद्गदो भव आअन्तुओ दक्खिण मारुदेण। [एष प्रमदवन परिसर। आनम्य प्रत्युद्गतो भवानागन्तुको दक्षिणमारुतेन।]

राजा—(विलोक्य) उपपन्नं विशेषणमस्य वायो.। अय हि—

निषिञ्चन् माधवीं लक्ष्मीं लतां कौन्दीं च लासयन्।
स्नेह-दाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति मे ॥४॥

विद०—सरिसो एव्व से अहि णिवेसो (इति परिक्रामन्) एद पमदवण दुवार। पविसदु भव। [एतत्प्रमदवन-द्वारम्। प्रविशतु भवान्।]

राजा—वयस्य प्रविशाग्रत। (उभौ प्रवेश नाटयत।)

राजा—(त्रास रूपयित्वा) वयस्य! साधु मनसा समर्थित आपत्प्रतीकार किल ममोद्यान-प्रवेशः। तच्चान्यथैवोपपन्नम्।

विषक्तोर्यदिद नूनमुद्यान नाथशान्तये।
स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीप-तरण महत् ॥५॥

व्याख्या:—विदू०—एष प्रमदवनस्य परिसरः समीपस्था भूमिः। "वभू परिसरः" इत्यमर.। आगन्तुकोऽतिथिर्भवान् दक्षिणः दक्षिण-

प्रदेशादागतो वायुस्तेन आनम्य प्रणतेन भूत्वा प्रत्युद्गतः सादर गृहीतः। "आगन्तुरतिथिर्ना गृहागत" इत्यमरः। दक्षिणानिलः प्रणतोभूत्वा अतिथेर्मवतः प्रत्युद्गम्य स्वागत करोति। अतिथौ गृहमागते गृहपतिः कानिचित्पदानि अग्रे गत्वा स्वागत करोतीति नियमः। तच्चाग्रे गन्वा सन्मान-प्रदर्शन प्रत्युद्गमन-मिति कथ्यते। प्रति+उद्+गम्+क्तः=प्रत्युद्गतः।

राजा—(विलोक्य) वायुगतिं निरूप्य—अस्य वायोरिदं दक्षिण इति विशे-षणमुपपन्नम् युक्तम्। अयं वायुर्हि मधोर्वसन्तस्येव माधवी वासन्ती वा लक्ष्मी शोभा निषिञ्चन् पुष्पन् तथा कुन्दस्येव कौन्दी ताम् लता लासयन् नर्तयन् स्नेहश्च दाक्षिण्य चेति स्नेह-दाक्षिण्ये तयोर्योगात् सद्भावात् कामी प्रणयीव मे प्रतिभाति दृश्यते। यथा कश्चित् कामुकः एका नायिका निषिञ्चति गर्भा-धानवती करोति अन्या ज्येष्ठा प्रति च केवल दाक्षिण्येन व्यवहरति तथैव वायु वासन्तीं लता स्नेहेन विवर्धयति कौन्दीं च दाक्षिण्येन केवल नर्तयति। निषिञ्चन् माधवीमेत मिति पाठे एवा माधवीं लता निषिञ्चन् प्रसवाधानवतीम् अति मधुवपना वा कुर्वन्। कौन्दी च माधवी लता—"माध्य कुन्दमि-त्यमरत्।" दाक्षिण्य च "चेष्टया वाचा परच्छन्दानुवर्तनम्" इति साहित्य-दर्पणे।४।

विदू॰—अस्य वायोरभिनिवेशः प्रतावाग्रहः सदृशः योग्य एव। परि-क्रामन् राजान प्रति—इद प्रमदवनम्। प्रविशतु भवान्।

राजा—वयस्य मित्र, अग्रतः प्रथम त्व प्रविश। नाटयतःउभावपि प्रमदवन प्रवेश।

राजा—श्वास भय रूपयित्वा प्रदर्श्य—वयस्य मम मनसा उद्याने प्रवेशः आरदः प्रतीकारः खेदनिराकरणहेतुर्भविष्यतीति साधु समर्थित. किल। तच्च अन्यथैव विहितःदः दु.खराकरण भूतमेवउपपन्नम् सिद्धम्।

निरुत्तोरिति—यद् यस्मात् कारणाद् निवचो. प्रवेष्टुमिच्छोर्मम इद उद्यान अस्य पीडायाः शान्तये निराकरणाय न। इद मा शान्तयितु न शक्नोति। तत् स्रोतसा जलप्रवाहेण नीयमानस्योह्यमानस्य महत् प्रतीपतरण विरुद्ध-दिशाया प्लवनमिव क्लेशावहम्। यथा जलप्रवाहे विरुद्ध-तरण क्लेशायैव न तु क्लेशशान्तये तद्वत् ममोपवनप्रवेशः पीडायै न तु खेद शान्तये।

अघशब्दो दुःखवाची "अघ दुःखे व्यसनैनसोरिति हैम.।" विवक्षोरिति विशघातो सन्नन्ताद् उ. प्रत्यय । अनुष्टुप्छन्दः ।

अनुवाद :—विदू०—यह प्रमद वन का परिसर (समीप की भूमि) है। अतिथि रूप में आये हुए आपका प्रणत दक्षिण वायु ने आगे होकर स्वागत किया है।

राजा—इस वायु का 'दक्षिण' यह विशेषण उचित है। क्योंकि यह वासन्ती लता को शोभा प्रदान करता और कुन्द लता को नचाता हुआ, स्नेह और दाक्षिण्य दोनों से युक्त होने के कारण दक्षिण कामी सा प्रतीत हो रहा है। अर्थात् जिस प्रकार कामी कनिष्ठा नायिका से प्रीति जोड़ता और ज्येष्ठा की भावना का ध्यान भी रखता है वैसे ही दक्षिण वायु वासन्ती लक्ष्मी में निषेध करता और कौन्दी को नचाता है।४।

विदू०—इसका यह प्रेमाग्रह इसके अनुकूल ही है। (टहलता हुआ) यह प्रमदवन है। आप भीतर चलिये।

राजा—मित्र! तुम पहले चलो।

(दोनों प्रवेश का अभिनय करते हैं)

राजा—(भय प्रदर्शित करके) मित्र! मैंने मन में समझा था कि उद्यान में आने से पीड़ा का निराकरण होगा। सो यह उलटा ही हो गया। क्योंकि जैसे नदी की धारा द्वारा बहाकर ले जाये जाते हुए व्यक्ति का धारा के विरुद्ध तैरना उसके कष्ट को शान्त नहीं करता वैसे ही सचमुच मेरा यह उद्यानप्रवेश पीड़ा को दूर करने का कारण नहीं है।५।

टिप्पणी :—प्रमदवनम्—राजभवन से सम्बद्ध उद्यान जिसमें भवन की स्त्रियाँ बिना दूसरों से देखे स्वच्छन्द विहार कर सकें। सामान्यतः राजभवनों से सटा हुआ प्रमदवन होता था। "स्यादेतत्प्रमदवनमन्तःपुरोचितम्।" प्रत्युद्गतः—प्रति+उद्+गम् धातु+क्त प्रत्यय। दक्षिण—इस शब्द के दो अर्थ हैं—दक्षिण दिशा से आने वाला वायु और छोटी तथा बड़ी नायिकाओं को एक समान प्रसन्न रखने वाला व्यवहारकुशल नायक। दक्षिण नायक के व्यवहार को दाक्षिण्य कहते हैं। "दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परच्छन्दानुवर्तनम्।" सा० दर्पण। निवेशयन—अति मधुयुक्त बनाता हुआ तथा कर्माधानयुक्त बनाता हुआ। कवि दक्षिण वायु को प्रेमी मानता है जिससे

दो प्रेयसियाँ हैं। बड़ी कौन्दी या माघी लता है जो माघ और फाल्गुन में फूलती है। छोटी माधवी या वासन्ती है जो चैत-वैशाख में फूलती है। इस दृष्टि से कौन्दी बड़ी और माधवी छोटी है। वासन्ती-वायु बड़ी को केवल बातों में बहला कर छोड़ देता है किन्तु छोटी को गर्भाधान द्वारा पुष्पित करता है। पुरुरवा की भी यही स्थिति है। श्लोक में दोनों ओर सकेत है। शाकुन्तल में इससे मिलता जुलता श्लोक है :—

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमुञ्जरीम् ।
कमल-वसतिमात्र-निर्वृत्तो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥

प्रतीपम्—प्रतिगता आपो यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात्तथा प्रतीपम् = विरुद्धम् ।

मूलपाठ :—विदू०—कथं विअ। [कथमिव]

राजा— इदमसुलभ-वस्तु-प्रार्थना-दुर्निवारं
प्रथममपि मनो मे पञ्चवाणः क्षिणोति ।
किमुत मलय-वातोन्मूलिता पाण्डुपत्रै
रुपवन-सहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ॥६॥

विदू०—अलं। भवदो परिदेविदेण। अदूरेण इट्ठसंपादइत्तओ अणंगो एव्व दे सहाओ भविस्सदि। [अलं भवतः परिदेवितेन। अचिरेणइष्टसम्पादयिताऽनङ्ग एव ते सहायो भविष्यति।]

राजा—प्रतिगृहीतं ब्राह्मण-वचनम्। (इति परिक्रामतः)

विदू०—पेक्खदु भवं वसन्तावदारसूइदं से अहि रामत्तणं पमदवणस्स। [प्रेक्षतां भवान् वसन्तावतार-सूचकमस्याभिरामत्वं प्रमदवनस्य।]

राजा—ननु प्रतिपदमेव तावदवलोकयामि। अत्रहि—

अग्रे स्त्री नख-पाटलं कुरवकं श्यामं द्वयोर्भागयो-
र्बालाशोकमुपोढ-राग-सुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति ।
ईषद्-बद्ध-रजः-कणाग्र-कपिशा चूते नवा मञ्जरी,
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिता ॥७॥

व्याख्या :—विदू०—कथमिव कथ भवान् एव मन्यते ?

राजा—पञ्च बाणाः यस्य स पञ्चबाणः कामः इद मे मदीय असुलम-वस्तु-प्रार्थनादुर्निवारम् असुलमे दुर्लमे वस्तुनि या प्रार्थना तस्याः दुर्निवार निरोद्धु दुष्कर मन. प्रथमम् अतः पूर्वमपि क्षिणोति कृशयति किमुत मलयवातेन दक्षिणवायुना उन्मूलितानि आपाण्डूनि पीतानि पत्राणि येषा तैः उपवनस्य सहकारै. आम्रवृक्षै अङ्कुरेषु दर्शितेषु । मे मनो दुर्लभवस्तु प्रार्थयते, न च ततो विरमति । अतः काम. सुतरामिदं कृशीकरोति । साम्प्रत तु वसन्तकाले मलयवातेन पीतेषु पक्वेषु आम्रवनेषु पातितेषु नूतनेष्वङ्कुरेषु चोद्गच्छत्सु मानस्या. पीडायाः कथैव का ? "आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽति सौरभ." इत्यमरः । कामस्य पञ्चबाणास्तु "अरविन्दमशोक च चूतं च नवमल्लिका-नीलोत्पल च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ।" अन्यत्र तु "उन्मादनस्तापनश्च शोषण स्तम्भनस्तथा सम्मोहनश्च कामस्य पञ्चबाणा. प्रकीर्तिताः ।"

अत्र विधानाख्यं मुखसन्ध्यङ्गम् । तदुक्त दशरूपके 'विधान सुखदुःख-कृत्' इति । मालिनीवृत्तम् । तल्लक्षण तु "न न म य य युतेय मालिनी भोगिलोकै" ।६।

विदू०—अल भवत. परिदेवितेन विलापेन । अचिरेण शीघ्रमेव इष्टस्य अभीप्सितस्य वस्तुनः सपादयिता प्रदाता अनङ्ग. काम एव ते सहायः भविष्यति ।

राजा—प्रति गृहीत स्वीकृत मया तव ब्राह्मणस्य इष्ट-संगमरूप वचनम् ।
(इति परिक्रामतः)

विदू०—भेदता भवान् वसन्तस्य अवतारः आगमनं तस्य सूचकमभि-शापक अस्य प्रमदवनस्याभिरामत्व प्रमदवनमधिकतर शोभते साम्प्रतम् । तेनानुमीयते यत् वसन्त आगत इति ।

राजा—ननु पदे पदे इति प्रतिपद स्थाने स्थानेऽवलोकयामि । अत्रहि—अग्रे स्त्रीति—अग्रे पुरतः प्रथम स्त्रीणा नखानि तद्वत् पाटलमीषद्रक्तं कुरवक मेतन्नामकं पुष्प (तिष्ठति) । कुरवकमीषद्रक्तम् । । तदुक्तं "तत्र शोणे कुरवकम्" इत्यमरः । द्वयोः पार्श्वभागयोः श्यामं श्वेतश्चासौ रागस्तेन सुभगं सुन्दरं बालश्च तदशोर सद्योमुकुलितमशोकपुष्पं भेदो-मुख प्रस्फुरमोत्सुकं (तिष्ठति)

चूते आम्रे च नवा मञ्जरी ईषदल्प बद्ध सलग्नं यद् रजः पांसुस्तस्य कणा-परागास्तैरग्रेऽग्रभागे कपिशा श्यामरक्ता (दृश्यते) एवं मधुश्रीः वसन्तलक्ष्मीः मुग्धत्वस्य यौवनस्य च मध्ये स्थिता।

अत्र कविना विशेषण सामर्थ्यान्मधुश्रियः मुग्धत्वस्य यौवनस्य च मध्ये स्थितिः कथिता। एतस्या मध्यावस्थाया नारीणां शरीर-कान्तौ विशेषो जायते। नखे प्रेमाऽङ्कुरितौ भवति रक्तिमाधिक्य, स्तनयोरग्रभागयोः श्यामता, रजस आविर्भावः कविना 'स्त्रीनख', 'मदोन्मुख', 'द्वयो-र्भागयोः [illegible]', 'उपादे रागे', 'ईषद्बद्धरजः', इत्येतै. विशेषणैः छाऽवस्था सूचिता। [illegible]-गत विशेषणैर्मुग्धावस्था तृतीयपादचतुष्टयत्या यौवनमवर्णि कविना।

स्त्रीनखपाटलमित्यत्रोपमालङ्कारः। श्लोके च [illegible]. "स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्व-क्रिया-रूप वर्णनम्।" [illegible] पुंल्लिङ्गे एव प्रयुज्येते तथापि पुष्पार्थेऽत्र नपुंसकम् ।८।

अनुवाद :—विदू०—कैसे !

है। यह आम में नयी नयी मंजरी निकली है जो थोड़े-थोड़े पराग-कणों के लग जाने से आगे-आगे कपिश रङ्ग की दिखायी देती है। इस सब से ऐसा लगता है कि इस समय वसन्तश्री यौवन और मुग्धता के बीच में स्थित है।७।

टिप्पणी :—पञ्चबाण—पञ्च बाणाः यस्य सः = कामदेव। काम के पाँच बाण हैं—अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका (जूही), नीलोत्पल। कुछ लोगों के मत से पाँच बाण हैं—उन्मादन, तापन, शोषण, स्तम्भन, और सम्मोहन। असुलभ दुर्निवारम्—न सुलभमिति असुलभम। असुलभ यद् वस्तु, तस्मिन् प्रार्थना, तस्याः दुर्निवारम्। मलयवातो पत्रैः-मलयस्य वातः इति मलयवातः। तेन उन्मूलितानि आपाण्डूनि पत्राणि येषां ते, तैः। मलय पर्वत दक्षिण भारत में है और चन्दन के वृक्षों के लिए प्रसिद्ध है। इसीलिए मलय वायु शीतल और सुगन्धित कही जाती है क्योंकि वह मलय पर्वत से बहकर आती है। अनङ्गः—कामदेव। शिव ने तृतीय नेत्र खोलकर काम को भस्म कर दिया था। "तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार" कुमारसम्भव। बाद में रति के अनुनय पर उसे पुनर्जीवन तो मिल गया किन्तु शरीर नहीं। इसीलिए उसे अनङ्ग (न अङ्ग-शरीर यस्य) कहते हैं। अलङ्कार—सातवें श्लोक में स्वभावोक्ति अलङ्कार है और शार्दूल् विक्रीडित छन्द। इसमें कवि ने वसन्तश्री का वर्णन नारी के समान किया है।

मूलपाठ :—विदूषकः—एसो मणि-सिला पट्टअ सणाहो अदिमुत्त लदा-मण्डवो भमर-सङ्ग-विहडिदेहिं कुसुमेहिं किदोवआरो विअ अत्त-भवदो वट्टदि, ता अणुग्गहीअदु दाव एसो। [एष मणि-शिला-पट्ट-सनाथोऽतिमुक्त लता-मण्डपो भ्रमर-सङ्ग-विघटितैः कुसुमैः कृतोपचार इवात्रभवतो वर्तते, तदनुगृह्यताम् तावदेषः।]

राजा—यदभिरोचते भवते। (इत्युपविशतः)

विदू०—दाणिं इहासीणो ललिद-लदा-विलोहीअमाण-णअणो उव्वसीगदं उक्कण्ठं विणोदेदु भवं। [इदानी मिहासीनो ललित-लता-विलोभ्यमान-नयन उर्वशीगतामुत्कण्ठां विनोदयतु भवान्।]

राजा—(निःश्वस्य)

बहु कुसुमितास्वपि सखे नोपवनलतासु नम्रविटपासु ।

चक्षुर्बध्नाति धृतिं तदङ्गनालोकदुर्ललितम् ॥८॥

तदुपायश्चिन्त्यतां यथा सफलप्रार्थनोऽहं भवेयम् ।

विदू०—(विहस्य) भो ! अहल्ला कामुअस्स इन्दस्स वज्ज सचिवो; उव्वसी पज्जुस्सुअस्स भवदो वि अहम् । दुवे वि एत्थ उम्मत्तआ । (भोः ! अहल्या कामुकस्येन्द्रस्य वज्रं सचिवः, उर्वशीपर्युत्सुकस्य भवतोऽप्यहम् । द्वावप्यत्रोन्मत्तौ ।)

व्याख्या :—विदू०—एष मणिशिलाया. पट्टस्तेन सनाथः मणिशिलामया-सनयुक्त अतिमुक्तलतायाः मण्डपो वितानम् । अतिमुक्ता माधवी लता। मोगरा इति भाषायाम् । तदुक्तं 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद् वासन्ती माधवी लता" इत्यमरः । "अस्मिन्नतिमुक्तलतामण्डपे भ्रमरसङ्घै विघट्टितानि प्रच्याव्य पातितानि कुसुमानि पूजोपचारद्रव्यमिव प्रतिभान्ति। अथ मण्डप एतैः कुसुमैः सह भवन्तं प्रतीच्छति स्वागतार्थं प्रतीक्षते । (प्रति + इष्) । तद्भवानेत-मनुगृह्णातु ।

राजा—यद्भवते वयस्याय रोचते । "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति चतुर्थी । (इति उपविशतः)

विदू०—इदानीम् इह आसीनो वासन्ती-लता-विताने विश्राम्यन् ललितया मनोहरया लतया विलोभ्यमाने ह्रार्यमाणे लोचने यस्यैवंभूतः उर्वशीविषयिणी-मुत्कण्ठां विनोदयतु भवान् । एताः लताः सौन्दर्येणोर्वशीं किञ्चिदनुकुर्वन्ति । तेनैता. पश्यतो भवतः उर्वशीगता लालसा किञ्चिच्छान्तिं गमिष्यति । शाकुन्तले-प्युक्तं कविना—"सखे ! क्वोपविष्टः प्रियायाः किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टिं विलोभयामि ।" (अङ्क ६)

राजा—सखे बहूनि कुसुमानि इति बहुकुसुमानि तानि सञ्जातानि यासु ता बहुकुसुमिताः तासु बहुपुष्पयुक्तासु अपि नम्रविटपासु नम्राः नता. विटपा. क्षुद्रशाखा. यासां तासु उपवनलतासु सा चासौ अङ्गना इति तदङ्गना उर्वशी तस्या आलोकः दर्शनं तेन दुर्ललितदृप्तं, मे चक्षुः धृतिं न बध्नाति स्थिरता न गृह्णाति । तासु .मम चक्षुर्न सज्जते इत्यर्थः । दुर्ललितं दुराग्रह-

प्ररतम् । दृष्ट ललित यस्य । अनेन नायिकाया अलौकिकरूपतालित्व व्याप्यते । अत्र कुसुमान्याभरणस्थानीयानि, विटपा बाहुस्थानीया:, लता यद्रूयष्टिस्थानीया: । तस्मादासा एतानामुर्वशीरूपसादृश्ये विद्यमानेऽपि तथाविध-सौन्दर्याभावात् प्रीत्यभाव इत्यभिप्राय: । अत्र अरतेर्विद्यमानत्वाद् विधुत नाम सन्ध्यङ्गमुक्त भवति । आर्या जाति: ।

तदुपायदिचिन्त्यता यथा सफला प्रार्थना यस्य स सफलकामो भवेयम् । अत्र प्रयत्नो नाम द्वितीयाऽवस्था सूचिता । तदुक्त दशरूपके—"प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित: ।" विन्दुप्रयत्नयोश्च साम्यात् प्रतिमुख-सन्धिरित्यनुसन्धेयम् ॥८॥

विदू०—भो यथा अहल्याया गौतम-पत्न्या, कामुकस्य इन्द्रस्य सचिव. वैद्य ओषधीपति: चन्द्र सचिवोऽभूत् तथा उर्वशीपर्युत्सुकस्य उर्वशीप्राप्तिसमुत्सुकस्य तव अहम् । द्वौ अपि चन्द्र: अह च उन्मत्तौ विवेकरहितौ । यथाऽहल्याया: कामुकस्येन्द्रस्य कामव्याधिर्न चन्द्रेण शमित प्रत्युत उद्दीपित एव येन स ब्राह्मे मुहूर्ते मुनौ स्नानार्थं गत तद्रूप परिगृह्याहल्या समगच्छत् तद्वदहमपि तव व्याधिरूपशमस्य कमप्युपाय चिन्तयितुमक्षम: । चन्द्रस्तु स्वयमेवोन्मत्तो भूत्वा गुरुपत्नीमुपागच्छत् । यथा स इन्द्रस्य साचिव्ये परामर्शदानेऽयोग्योऽभवत्तद्वदहमपि तव साहाय्यकरणे । यतोऽहमुन्मत्त एव जातस्त्वदीयामेता दशा निरीक्ष्य ।

यत्र च 'वज्ञ सचिव' इति पाठस्तत्र तु नार्थ-सङ्गतिर्वज्रस्योन्मत्तत्वाभावात् ।

अनुवाद .—विदू०—यह अतिमुक्त लता का मण्डप है जिसमे स्फटिक मणि की शिला का आसन भ्रमर-समूह द्वारा तोडकर गिराये हुए पुष्पो से आपका स्वागतोपचार-सा कर रहा है । तो आइये इसी को उपकृत किया जाय ।

राजा—जैसी आपकी इच्छा । (बैठते हैं)

विदू०—अब यहाँ बैठकर सुन्दर लताओ से अपने नेत्रो को तृप्त करते हुए उर्वशी विषयक उत्कण्ठा को शान्त कीजिए ।

राजा—(लम्बी साँस छोडकर) उस देवागना को देखकर आँख कुछ ऐसी बिगड गयी है कि झुकी हुई डालियो वाली, खूब फूली-फूली लताओ को

देख कर भी शान्त नही होती। इसलिये कोई उपाय सोचिये जिससे मेरी प्रार्थना सफल हो ॥८॥

विदू०—जैसे अहिल्या से प्रेम करने वाले इन्द्र का सहायक चन्द्र था उसी प्रकार उर्वशी के प्रति आसक्त आपका सचिव मैं हूँ। इस विषय मे हम दोनो ही उन्मत्त हैं।

टिप्पणी.—मणिशिलापट्ट—सगमरमर की पटिया। अतिमुक्तलता—इस वासन्ती या माधवी लता (मोगरा) भी कहते हैं। "अतिक्रान्तामुक्तो शौक्यात्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार। इसका पुष्प अत्यन्त श्वेत होता है और पूजा के कार्य मे आता है। इदानीमिहासन०—शाकुन्तल मे भी ऐसा ही कहा है।—'सखे! क्वोनविष्टः प्रियाया किञ्चिदनुकारिणीषु लतासु दृष्टि विलोभयामि। कुसुमितासु—कुसुमानि सजातानि यासु ता कुमुमिताः तासु। "तदस्य सजात तारकादिभ्य इतच्" से इतच् प्रत्यय होता है।

तद्रूपालोक०—तस्या रूप तद्रूपम्, तस्य आलोकः दर्शन तेन दुर्ललितन् दृष्टम्।

बहुकुसुमितास्वपि—इस श्लोक मे पुष्पों को आभरण, लता को अङ्गयष्टि मान लिया है। यहाँ अरति की प्रतीति होने से 'विधूत' नामक सन्ध्याङ्ग है। "तदुपायश्चिन्त्यताम्" मे प्रयत्न नाम द्वितीय अवस्था स्पष्ट है और विन्दु तथा प्रयत्न के मेल के कारण प्रतिमुख सन्धि है।

अहल्याकामुकस्य—जिस प्रकार अहल्या के कामुक इन्द्र का सहायक ओषधीपति चन्द्र था उसी प्रकार मैं तुम्हारा हूँ। जैसे चन्द्र काम-व्याधि शान्त नहीं कर पाता उल्टे उसे बढा देता है उसी प्रकार मैं भी तुम्हारी काम-पीडा को कम नही कर सकता। चन्द्र स्वय उन्मत्त था जो गुरु-पत्नी के गमन के लिये कलङ्कित माना जाता है। इस प्रकार पुरुरवा और विदूषक की इन्द्र और वैद्य चन्द्रमा से सगति बैठ जाती है। कुछ लोग 'वेज्जो' के स्थान पर 'वज्जो' (वज्र) पाठ मान कर वज्र को इन्द्र का सचिव बतलाते हैं किन्तु इससे अर्थ स्पष्ट नहीं होता, उल्टा और उलझ जाता है।

मूलपाठ : राजा—न खलु चिन्तयति भवान्।

विदू०—एसो चिन्तेमि। मा उण परिदेविदेहि समाधि भंजस्ससि। [एष चिन्तयामि। मा पुनः परिदेवितैः समाधि भङ्क्ष्यसि।] (चिन्ता रूपयति)

राजा—(निमित्त सूचयित्वा—आत्मगतम्)

असुलभा सकलेन्दुमुखी च सा
किमपि चेदमनङ्ग-विचेष्टितम्।
अभिमुखीष्विव वाञ्छित-सिद्धिषु
व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः ॥६॥

(इति मदनोत्सुकस्तिष्ठति)

(ततः प्रविशत्याकाशयानेनोर्वशी चित्रलेखा च)

चित्रलेखा—सहि उव्वसि ! कहिं खु अणिद्दिट्ठ-कालण गदुदीहअदि। [सखि उर्वशि ! कुत्र खलु अनिर्दिष्टकारणं गम्यते।]

उर्वशी—(मदनवेदनामभिनीय सलज्जम्) सहि तदा हेमऊड-सिहरे लदा-विडवान्दरे लग्गा वैजअन्तिआ मोआवेहित्ति मए भणिदा उवहसिअ मं भणासि दिढ खु लग्गा न सक्का मोआविदुं दाणिं पुहसि कहिं अणिद्दिट्ठ काल गच्छीअदित्ति। [सखि ! तदा हेमकूट-शिखरे लताविटपान्तरे लग्ना वैजयन्तिका। मोचयेति भणिता उपहस्य मा भणसि दृढ खलु लग्ना न शक्या मोचयितुम्। इदानीं पृच्छसि कुत्रानिर्दिष्टकारण गम्यते इति।]

व्याख्या : राजा—न खलु चिन्तयति भवान् मम उर्वश्या सह सङ्गतिम्।

विदू०—एषोऽहं चिन्तयामि उपायम्। मा पुन. परिदेवितैः वृथा विरह-विलापै. मम समाधि ध्यानैकाग्रता भङ्क्ष्यसि विनाशयिष्यसि (चिन्तनं रूपयति नाटयति)

राजा—(निमित्त दक्षिणाक्षि-स्पन्दनादि सूचयित्वा स्वगतम्)

सकलेन्दुमुखी इत्यादि—सकलः कलाभिः सहितश्चासौ इन्दु सकलेन्दु, स इव मुख यस्या सा पूर्णचन्द्रानना सा उर्वशी सुलभा सुखेन प्राप्या न, तथापि कुतोऽपि कारणात् इदम्। अनङ्गस्य कामस्य विचेष्टितम् दक्षिणाक्षिस्पन्दनादि कामचेष्टा च मयि वर्तते। अपि च मनः वाञ्छितस्य अभीप्सितस्य सिद्धिषु अभि-

मुखीषु अभिमुखानि यात्रा तानु अनुकूलानु इव एकपदे सपदि निर्वृ ति शान्तिमुपैति भजते। यद्यपि मे प्रिया सौकर्येण लभ्या न इत्यत्र तथा मे मनसि विलक्षणा कामेच्छा बलवती विद्यत एव। मनोऽपि तथा शान्ति लभमान वर्तते यथा कोऽपि सिद्धिषु सम्मुखावस्थितासु भवति। सकलेन्दुमुखीत्यत्र धर्मवाचकलुप्तोपमालङ्कारः। विलासो नाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्गन। द्रुतविलम्बितं च छन्दः।

"तत्क्षणैकपदे तुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्" इति हलायुधः। इति मदनोत्सुकः कामलालस. निष्ठति) शाकुन्तलेऽपि—"शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य" (१–१५)।९।

(ततः प्रविशति आकाश-यानेन गगनमार्गेण उर्वशी चित्रलेखा च)

चित्र०—सखि उर्वशि! कुत्र खलु न निर्दिष्ट कारण यस्य तद् यथा स्यात्तथा गम्यते? कुत्रचित्तु "किं नु खलु तस्य राजर्षे पुरुरवसः सकाश प्रस्थिताऽसि?" इति पाठः

उर्वशी—(लज्जासहित यथास्यात्तथा मदनस्य वेदना कामपीडाम् अभिनीय) सखि! तदा हेमकूटशिखरे लताविटपान्तरे वैजयन्तिका लग्ना। मोचय इति भणिता कथिता सती मयि त्व मामुपहस्य भणसि दृढ खलु लग्ना न शक्या मोचयितुम्। इदानीं च पृच्छसि कुत्र गम्यते। एतेन राजर्षेरेव सकाश गच्छामीति भङ्ग्यन्तरेण सूचितम्।

अनुवाद राजा०—तो आप नहीं सोच रहे हैं।

विदू०—लो, सोच रहा हूँ। आप रो-पीट कर मेरी समाधि को भग कर देना। (नाचने का अभिनय करता है)

राजा—(शकुन को सूचित करता हुआ मन में) पूर्णचन्द्र के समान मुखवाली वह (उर्वशी) सरलता से मिलनेवाली नहीं है और उस पर काम की यह विचित्र चेष्टा! फिर भी मेरा मन इस प्रकार शान्ति की ओर प्राप्त हो रहा है जैसे इच्छित वस्तु की प्राप्ति बिलकुल पास ही हो।९।

(राजा कामोत्कठित होकर बैठता है)

(तब आकाशयान से उर्वशी और चित्रलेखा आती हैं।)

चित्र०—सखि उर्वशी, बिना ही कारण बतलाये कहाँ जा रही हो?

उर्वशी—(कामपीडा का अभिनय करती हुई लज्जा के साथ) सखि! उस समय हेमकूट के शिखर पर लता की डालियों में मेरी वैजयन्ती माला फँस गयी थी। मैंने कहा था, "छुडा दो" तो तुमने उपहास करके मुझसे कहा था, "खूब मजबूती से फँस गयी है, छुडायी नहीं जा सकती।" और अब पूछती हो, "बिना कारण बताये कहाँ जा रही हो ?"

टिप्पणी। समाधि—समाधीयतेऽनेन इति समाधिः। यमनियमादि आठ योगाङ्गों में अन्तिम। यहाँ इस शब्द का प्रयोग 'गम्भीर चिन्तन' के लिये हुआ है।

निमित्त—शुभ शकुन जैसे दाहिनी आँख या भुजा का फड़कना।

अभिमुखीषु—अभित मुखानि यासा ताः अभिमुख्यः तासु।

सकलेन्दुमुखी—कलाभिः सहित सकल। सकलश्चासौ इन्दु इति सकलेन्दु। स इव मुख यस्याः सा।

न सुलभा०—इस श्लोक में द्रुतविलम्बित छन्द है। इसमें नगण, भगण, भगण और रगण क्रमश होते हैं। इस श्लोक से मिलता हुआ शाकुन्तल में भी है—"शान्तमिदमाश्रमपद स्फुरति च बाहु कुत फलमिहास्य।"

एकपदे—यह अव्यय है। सहसा, अचानक।

अनिर्दिष्टकारणम्—न निर्दिष्ट कारण यस्य तत् यथा स्यात्तथा।

मूलपाठ चित्र०—किं णु तस्स राएसिणो पुरुरवस्स सआस पत्थिददा सि। [किं नु तस्य राजर्षेः पुरुरवस सकाश प्रस्थितासि ?]

उर्वशी०—एसो मे अवहत्थिद-लज्जो ववसाओ। [एष ममापहस्तित-लज्जो व्यवसाय।]

चित्र०—सहि! तधावि सपधारीअदु दाव। को उन सहीए तहिं पढम पेसिदो। [सखि! तथापि सम्प्रधार्यता तावत्। क पुन. सख्या तत्र प्रथम प्रेषित ?]

उर्वशी—ण हिअअम्। [ननु हृदयम्।]

चित्र०—को णु तुम णिओजेदि ? [को नु त्वा नियोजयति ?]

उर्वशी—मअणो णु म णिओजेदि। [मदन ननु मा नियोजयति।]

चित्र०—अदो अवरं णत्थि मे वअणम्। [अतः अपरं नास्ति मे वचनम्।]

उर्वशी—तेण आदेसदु मे सही मग्गं जेण तहिं गच्छन्तीए न अन्तराओ भवे। [तेन आदिशतु मे सखी मार्गं येन तत्र गच्छन्त्याः नान्तरायो भवेत्।]

चित्र०—सहि! वीसध्वा होहि। णं भवअदा देवगुरुणा अवराइदं णाम सिहावन्धणं विज्जं उवदिसन्तेण तिदसपडिवस्खम्स अलङ्घणिज्जा कदम्ह। [सखि! विस्रब्धा भव। ननु भगवता देवगुरुणा अपराजिता नाम शिखाबन्धिनी विद्यामुपदिशता त्रिदश-प्रतिपक्षस्यालङ्घनीये कृते स्वः।]

उर्वशी—(सलज्जम्) ताए पओअं सव्वं सुमरेसि? [तस्या. प्रयोगं सर्वं स्मरसि?]

चित्र०—सहि! हिअअं एदं सव्वं जानादि। [सखि! हृदयमेतत् सर्वं जानाति।]

(उभे भ्रमणं रूपयतः)

व्याख्या : चित्र०—चित्रलेखया सर्वं स्मृतम्। अतः सा कथयति किं नु तस्य राजर्षे. पुरुरवसः सकाश प्रस्थितासि?

उर्वशी—एष मेऽपहस्तिताऽर्धचन्द्र दत्वा निष्कासिता नारीजनोचिता लज्जासङ्कोचः येन तादृशो व्यवसाय. उद्योग.। अहं निर्लज्जा भूत्वा स्वयमेव तत्सकाश प्रस्थितास्मि।

चित्र०—तथापि सम्प्रधार्यताम् सम्यग् विचार्यताम् तावत्। तत्र गमने औचित्यानौचित्ये ज्ञायताम्। भवत्या स्वागमनसूचनाय कस्तत्र प्रथम प्रेषितः? कस्यापि दर्शनकामेन प्रथम तस्यानुज्ञा लब्धव्या। तदर्थं च कश्चिन् सन्देश हरः प्रेषितव्य:। भवत्या तत्र कः प्रेषित इति प्रश्नः।

उर्वशी—मया हृदयमेव पूर्वत. प्रेषितम्।

प्रश्नस्य साधूत्तर न प्राप्य पुन. प्रश्न करोति चित्रलेखा—पुरुरवस समीपे गमनाय भवन्त को नियोजयति प्रेरयति?

उर्वशी—कामो मदन एव तत्र गन्तुं मा नियोजयति।

चित्र०--(सर्वथा वयस्यामुचितानुचितविवेकेऽशक्ता मदनपरवशा विज्ञाय कथयति)--अतः पर प्रतिवचन त्वदुत्तरानन्तरमन्यत् किमपि वक्तव्य नावशिष्यते ।

उर्वशी—तेन तस्मात् कारणात्, यतस्त्वमनुत्तरा सवृत्ता तस्मात् त मार्गम आदिशतु प्रदर्शयतु भवती येन मार्गेण तत्र नृप-सन्निधौ गच्छन्त्याः मम कोऽपि अन्तरायो विघ्नो न भवेत् ।

चित्र०—सखि विस्रब्धा विश्वस्ता भव। भगवतो पूज्येन देवगुरुणा बृहस्पतिना अपराजिता नाम यस्य अधिगमेन कस्मादपि पराजयो न जायते तथाविधा, शिखा बध्नातीति शिखाबन्धिनी ता विद्याम् उपदिशता प्रयच्छता त्रिदशः शैशव-कैशोर्य-तारुण्याख्या दशा येषा ते त्रिदशाः देवा. तेषा प्रतिपक्षस्य प्रतिकूलस्य विरोधिनो दैत्यादे अलङ्घनीयो जेतुमशक्ये स्व आवाम् जाते। बृहस्पतिना शिखाबन्धिनी अपराजिता विद्या उभाभ्याम् आवाभ्या प्रदत्ता तस्याः बलेनावा सर्वेषामपि शत्रूणामभिभवनीये सवृत्ते स्वः। शिखाबन्धिनी नाम विद्या सा यस्या शिखा बद्ध्वा मन्त्राः पठ्यन्ते। कालिदासेन शाकुन्तले षष्ठाङ्केऽस्या उल्लेखः कृत.। सर्वदमनोऽप्यस्या निष्णात आसीत्।

उर्वशी०--(सलज्जम्) तस्याः विद्याया प्रयोगम् विधि सर्वं स्मरसि किम् ? यथा सा प्रयुज्यते तत् स्मर्यते त्वया किम् ?

चित्र०--सखि ! एतन्मे हृदय सर्वं प्रयोगविधि जानाति।

(उभे उर्वशी चित्रलेखे भ्रमणम् आकाशे चङ्क्रमण रूपयत नाटयतः)

अनुवाद :—

चित्र०—क्या उस राजर्षि पुरुरवा के पास जा रही हो ?

उर्वशी—हाँ, मैं लज्जा को अपहस्तित करके (बाहर निकाल कर) यही कर रही हूँ।

चित्र०—तो भी यह तो विचारिये। आपने पहले वहाँ किसको भेजा है ?

उर्वशी—हृदय को।

चित्र०—इसके लिए तुम्हे कौन प्रेरित करता है ?

उर्वशी—निश्चय ही कामदेव मुझे प्रेरित करता है।

चित्र०—इसके आगे कहने के लिये कुछ नही है।

उर्वशी—तो मुझे मार्ग बतलाओ जिससे वहाँ जाने मे बाधा न हो।

चित्र०—विश्वास रखो। भगवान् बृहस्पति ने अपराजिता नाम की शिखा-बन्धिनी विद्या का उपदेश देकर हम दोनों को ऐसा बना दिया है कि देवताओं के विरोधी हमें आक्रान्त नहीं कर सकते।

उर्वशी—(लज्जा के साथ) उसका सारा प्रयोग याद है ?

चित्र०—सखि ! हृदय यह सब जानता है। (दोनों भ्रमण का अभिनय करती हैं)

टिप्पणी :—अपहस्तितलज्जः—अपहस्तिता दूरीकृता लज्जा यस्मात्। निरस्तत्रपः। मृच्छकटिक में भी कहा है—"न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति।"

संप्रधार्यताम्—सम् उपसर्ग+धृ (धारण करना)+णिच् (इ)+कर्म-वाच्य लोट्=चिन्त्यताम्।

अपराजिता—विद्या का नाम है जो बृहस्पति (देवगुरु) ने दानवों के आक्रमण के बाद अप्सराओं को शिक्षा दी थी। इसके प्रभाव से व्यक्ति अजेय बन जाता था। शाकुन्तल में सर्वदमन (शकुन्तला के पुत्र) को भी ऐसी ही "शिखाबन्धन विद्या" दी गयी थी। इसमें मन्त्र पढ़ते हुए शिखा बाँधी जाती है।

अलङ्घनीये—न लङ्घितुं पराजेतुं योग्ये। अपराजेय। अन्यत्र भी कहा है, "नास्ति विधेरलङ्घनीयम्"।

मूलपाठ :—चित्र०—सहि ! पेक्ख पेक्ख। एद भअवदीए भाईरहीए जमुना-सङ्गम-पावणेसु सलिलेसु पुण्णेसु ओलो अन्तस्स विअ अत्ताणअं पइट्ठाणस्स सिहाभरणभूतं विअ तस्स राएसिणो भवणं उवगदम्ह। [सखि, प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एतद् भगवत्या भागीरथ्या यमुना-संगम-पावनेषु सलिलेषु पुण्येषु अवलोकयत इवात्मनं प्रतिष्ठानस्य शिखाभरणभूतमिव तस्य राजर्षेर्भवनमुपगते स्व.।]

उर्वशी—(सस्पृहमवलोक्य) णं वत्तव्वं ठाणन्तरगदो सग्गो त्ति। [ननु वक्तव्यं स्थानान्तरगत स्वर्ग इति।] (विचार्य) हला ! कहिं खु सो आवण्णाणुकम्पी भवे। [हला क्व खलु स आपन्नानुकम्पी भवेत्।]

चित्र०—एदस्सिं णन्दण-वनेक्क-पदेसे विअ पमदवणे ओदरिअ जाणिस्सामो। [एतस्मिन् नन्दनवनैकप्रदेशे इव प्रमदवने अवतीर्य ज्ञास्यामः।]

(उभे अवतरतः)

चित्र०—(राजानं दृष्ट्वा सहर्षम्) सहि ! एसो पठमोदिदो विअ भवअं चन्दो कोमुदिं विप्रपडिट्ठद्दि तुमं । [सखि ! एष. प्रथमोदित इव भगवान् चन्द्रः कौमुदीमिव प्रतीक्षते त्वाम् ।]

उर्वशी—(विलोक्य) हला ! दाणिं पदम दंसणादो वि सविसेस पिअ-दसणो मे महाराओ पडिभादि । [हला ! इदानीं प्रथमदर्शनादपि सवि-शेष प्रियदर्शनो मे महाराज प्रतिभाति ।]

चित्र०—जुज्जदि । ता एहि उवसप्पम्ह । [युज्यते । तदेहि उप-सर्पाव ।]

उर्वशी—ण दाव उवसप्पिस्सम् । तिरक्खरिणी-पडिच्छण्णा पास-वत्तिणी भविअ सुणिस्स दाव पासवत्तिणा वअस्सेण सह विअणे किं मन्त-अन्तो चिट्ठदि त्ति । [न तावदुपसर्पिष्यामि । तिरस्करिणी-प्रतिच्छन्ना पार्श्ववर्तिनीभूत्वा श्रोष्यामि तावत्पार्श्ववर्तिना वयस्येन सह विजने किं मन्त्रयन् तिष्ठतीति ।

चित्र०—जह दे रोअदि । [यथा ते रोचते ।] (उभे यथोक्तमनुतिष्ठत ।)

व्याख्या :—चित्र०—सखि ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, पश्य पश्य । कौतूहल प्रदर्शनाय वीप्सा । एतद् भगवत्याः पूज्यायाः भागीरथ्या गङ्गाया यमुनायाः सङ्गेन पावनेषु पुण्येषु जलेषु आत्मान स्वीय रूपम् अवलोकयत प्रतिष्ठानस्य एतन्नामकस्य नगरस्य शिखाभरणभूत चूडामणिरिव तस्य महर्षेः पुरुरवस भवन प्रासादम् उपगते स्व. प्राप्ते स्व ।

पुरूरवसो राजधानी गङ्गातटे आसीत् । तस्या प्रासादाना प्रतिबिम्ब जले स्पष्ट दृश्यते स्म । राजप्रासादस्तु राजधान्या श्रेष्ठ चूडामणिरिव व्यराजत प्रतिष्ठान नाम स्थान प्रयागसमीपे गङ्गायमुनासङ्गमे स्थित आसीत् । तच्च साम्प्रत 'झूसी' इति कथ्यते । उत्प्रेक्षालङ्कार ।

उर्वशी—(स्पृहया लालसया सहेति सस्पृहम् अवलोक्य) ननु वक्तव्य वचनीय यदय प्रदेश अन्यत् स्थानमिति स्थानान्तरम् तत् (द्वितीयैकवचने) गतः प्राप्तः स्वर्ग एव साक्षात् । तदुक्तमन्यत्रापि या गतिर्योगयुक्तस्य तत्त्वज्ञस्य

मनीषिणः । सा गतिस्त्यजतः प्राणान्, गङ्गा-यमुना-सङ्गमे । (विचार्य) क्व कस्मिन् स्थाने नु इति वितर्के खलु स आपन्नान् अनुकम्पते इति आपन्नानुकम्पी शरणागतवत्सलो भवेत् । क्व स प्राप्यते ।

चित्र०—एतस्मिन् प्रमदवने नन्दनवनस्य एकप्रदेशे एकप्रान्त इव अवतीर्य नास्यान. क्व लभ्यः स महाराज इति । यथा राजधानी स्वर्ग इव दृश्यते तथैवास्या. प्रमदवन नन्दनवनमिव मनोरमम् । अस्य एकप्रदेशे अवतीर्य नृपानुसन्धान करिष्यामः । (उभे अवतरतः प्रमदवने)

चित्र०—(राजान दृष्ट्वा सहर्षम्) सखि ! एष राजा प्रथमम् उदित भगवान् चन्द्रः कौमुदी ज्योत्स्नामिव त्वाम् अवेक्षते प्रतीक्षते । कौ पृथिव्या मोदन्ते जना यस्या सा कौमुदी । कुमुदानामियम् कौमुदीति वा । यथा नवोदित-श्चन्द्र ज्योत्स्ना प्रतीक्षते तथैवाय राजा त्वा प्रतीक्षमाण इव तिष्ठति । एतेन चन्द्रकौमुद्योरिव तयोरपि विरहासहत्व सूचितम् ।

उर्वशी—(विलोक्य) हलेति सम्बोधने । इदानीं प्रथमदर्शनादपि विशेषेण सखि यथा स्यात्तथा सविशेषम् अधिकतरम् प्रिय दर्शन यस्य स प्रियदर्शनो मनोहारी मे महाराजः प्रतिभाति लक्ष्यते । साम्प्रतमनुराग-वश गता सा स्वस्यामनुरक्त राजानमधिकतर मनोरम पश्यति । यतः "वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु ।"

चित्र०—युज्यते यथार्थं वदसि त्वम् । तदेहि । उपसर्पावः तन्निकट गच्छावः ।

उर्वशी—न तावत् उपसर्पिष्यामि । समीप गमिष्यामि । तिरस्करिण्या एतन्नाम्न्या विद्यया प्रतिच्छन्नाऽऽच्छादिता सती तस्य पार्श्ववर्तिनी समीपस्था भूत्वा श्रोष्यामि तावत् अय विजने एकान्ते पार्श्ववर्तिना निकटस्थेन वयस्येन मित्रेण विदूषकेन सह किं मन्त्रयन् विचारयन् तिष्ठति ।

लेखा वा इष्टु क्षमो । नाटकेषु एवविधानामुपायाना प्रयोग सर्वेष्वपि देशेषु दृश्यते । दर्शकाश्च तिरस्करिणीप्रतिच्छन्न दिव्य जन पश्यन्त्येव । शेक्सपियर नाटकेषु हैमलेट-टेम्पेस्ट प्रभृतिषु वेङ्ओ (Banguo), वर्जिन मार्टरा (Virgin Martyr) दिषु चास्य विधे: प्रयोगो दृश्यते ।

चित्र०—यथा ते तुभ्य रोचते । ते इत्यन 'हृच्यर्याना प्रीयमाण." इति चतुर्थी ।

(उभे उर्वशी चित्रलेखे यथोक्त पूर्वोक्तप्रकारेण प्रमदवने निभृतश्रवण-मनुतिष्ठत: कुरुतः ।)

अनुवाद —

चित्र०—सखि, देखो, देखो । ये हम दोनो राजर्षि के उस भवन के पास आ गये जो प्रतिष्ठान नगर की चूडामणि के समान है और यमुना के सगम से पावन बनी हुई भगवती भागीरथी की पुण्य जलधारा मे अपनी आकृति को देखता-सा प्रतीत हो रहा है ।

उर्वशी—(उत्कण्ठा के साथ देखकर) सचमुच कहना तो यह चाहिये कि स्वग ही दूसरे स्थान पर आ गया है । (सोचकर) न जाने वह शरणागत-वत्सल (राजा) कहाँ होगा ।

चित्र० –नन्दनवन के एक खण्ड जैसा यह जो प्रमदवन है उसमें उतर कर मालूम करें ।

(दोनो उतरती हैं)

चित्र०—(राजा को देखकर हर्ष के साथ) सखि ! जैसे द्वितीया का चन्द्रमा चाँदनी की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही यह राजा तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ।

उर्वशी—(देखकर) अरे ! इस समय तो ये मुझे देखने मे प्रथम बार से भी अधिक सुन्दर मालूम होते हैं ।

चित्र०—ठीक है । तो आओ पास चलें ।

उर्वशी—पास नहीं जाऊँगी । मैं तिरस्करिणी विद्या द्वारा छिपकर इनके पास खडी रह कर सुनूँगी कि ये अपने पार्श्ववर्ती विदूषक के साथ एकान्त मे क्या-क्या सलाह करने बैठे हैं ।

चित्र०—जैसी तुम्हारी इच्छा (दोनो वैसा ही करती हैं) ।

टिप्पणी :—'अवलोकयत इवात्मानम्' मे उत्प्रेक्षाऽलङ्कार है। "भवेत् सभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परेण यत्"।

प्रतिष्ठानम्—गङ्गा और यमुना के संगम पर बसा हुआ एक नगर जो पुरुरवा की राजधानी थी। इसी स्थान पर आजकल 'भूसी' स्थित है।

स्थानान्तरगत—अन्यत् स्थानमिति स्थानान्तरम्। तद्‌गत इति स्थानान्तर गतः।

कौमुदी—कौ (पृथिव्यां) मोदन्ते जना यस्याम्। अथवा कुमुदानाम् इय कौमुदी। कुमारसभव मे भी चन्द्र-कौमुदी के साथ का वर्णन है—"शशिना सह याति कौमुदी।"

तिरस्करिणीप्रतिच्छन्ना—तिरस्करिणी अन्तर्धान विद्या है जिसके बल से व्यक्ति स्वय तो औरो को देख सकता है पर उसे कोई नही देख पाता। पात्र को दर्शक तो देखते हैं पर मानो मञ्चस्य अन्य पात्र नही देख पाते। यह शिखाबन्धनी अपराजिता विद्या से भिन्न है। उत्तररामचरित आदि अन्य नाटको मे भी इसका आश्रय लिया गया है। शिखाबन्धन विद्या सीखने से प्राप्त होती है, तिरस्करिणी दिव्य-देव-सिद्ध आदि को स्वतःसिद्ध होती है।

ते रोचते—'ते' मे चतुर्थी "रुच्यर्थाना प्रीयमाणः" सूत्र से हुई है।

मूलपाठः विदूषकः—भो चिन्तिदो मए दुल्लह-प्पण इ जनम्स समाअमोवाओ। [भोः चिन्तितो मया दुर्लभप्रणयिजनस्य समागमोपाय.।] (राजा तूष्णीमास्ते)

उर्वशी—का उणधण्णा इत्थिआ जा इमिणा पड्मिग्गमाणा अत्ताणअं विणोदेदि। [का पुनर्धन्या स्त्री या अनेन परिमृग्यमाणा आत्मानं विनोदयति।]

चित्र०—झाणस्स किं विलम्बीअदि? (ध्यानाय किं विलम्ब्यते?)

उर्वशी—सहि! भीआमि सहसा पहावादो विण्णादुम्। (सखि! बिभेमि सहसा प्रभावतो विज्ञातुम्।)

विदू०—भो! णं भणामि चिन्तिदो मए दुल्लह-पणइजन-समागमोवाओ। (भोः! ननु भणामि चिन्तितो मया दुर्लभ-प्रणयिजन-समागमोपायः।)

राजा—वयस्य ! कथ्यताम् ।

विदू०—सिविण-समागम-आरिणं णिद्दं सेवदु भवं । अहवा तत्तमोदीए पडिकिदि चित्तफलए अलिहिअ आलोअन्तो अत्ताणअं विणोदेहि । (स्वप्न-समागम-कारिणी निद्रा सेवताम् भवान् । अथवा तत्रभवत्या. उर्वश्या. प्रतिकृति चित्रफलके आलिख्य आलोकयन् आत्मान विनोदय ।)

उर्वशी—(सहर्षम्) हीणसत्त हिअअ ! समस्सस समस्सस । [हीन-सत्व हृदय ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।]

राजा—तदुभयमप्यनुपपन्नम् ।

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिद सदा
कथमुपलभे निद्रा स्वप्ने समागमकारिणीम् ।
न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य ता
मम नयनयोरुद्बाष्पत्वं सखे न भविष्यति ॥१०॥

व्याख्या : विदू०—भोः चिन्तितो मया दुर्लभश्चासौ प्रणयिजन अनुराग-पात्र तेन समागमः संगति तस्य उपाय. । (विदूषकः चिर चिन्तयित्वा राजान उर्वशीसमागमोपाय ब्रूते ।)

(राजापुरुरवाः तूष्णी न किञ्चिदभिभाषमाण आस्ते)

उर्वशी—का पुनर्धन्या सौभाग्यवती स्त्री या अनेन राज्ञा परिमृग्यते इति परिमृग्यमाणा अन्वेष्यमाणा मनसि चिन्त्यमाना सती आत्मान विनोदयति प्रसन्ना नयति ।

चित्र०—ध्यानाय ध्यानेन ज्ञातु किं केन कारणेन विलम्ब्यते । ध्यानेन नु सर्वं ज्ञातु शक्यम् । तच्छीघ्र ध्यानावस्थिता भूत्वा जानीहि का सा धन्या स्त्री इति ।

उर्वशी—सखि बिभेमि भीतास्मि सहसा प्रभावत ध्यानवशात् ता ज्ञातुम् । यदि ध्यानेन काचिद् मदन्या तदनुरागपात्र ज्ञास्यते तदा मे ताप एव भविष्यतीति भयम् ।

विदू०—यदा विदूषकस्य पूर्वोक्तवचनान्तरमपि राजा नातुरता दर्शयति केवल तूर्ष्णीमास्ते तदा विदूषकः पुनरपि स्ववचन द्रढयति—भोः ! ननु भणामि

इत्यन्त ध्यानाकर्षणाय चिन्तितो विचारितो मया दुर्लभ-प्रणयिजनस्य समागमोपाय. ।

राजा—*वयस्य मित्र कथ्यताम्, यदि चिन्तितस्त्वया कश्चिदुपाय* इति शेष: ।

विदू०—स्वप्ने समागम कारयतीति स्वप्नसमागमकारिणी ता तादृशी निद्रा भवान् सेवताम् । भवान् स्वपितु अथवा तत्रभवत्या: उर्वश्या: प्रतिकृति प्रतिच्छवि चित्रफलके अभिलिख्य रचयित्वा ता प्रतिकृतिमालोकयन् पश्यन् आत्मान विनोदय रञ्जय ।

उर्वशी—(सहर्षम्) राज्ञा चिन्त्यमाना प्रियाऽहमेवेति ज्ञात्वा प्रसन्नाया उर्वश्या उक्तिरियम्—हीन सत्व यस्य तदधीरहृदय समाश्वसिहि शान्ति लभस्व ।

राजा—तदुभयमपि अनुपपन्नम् अयुक्तम् कर्तुमशक्यत्वात् ।

हृदयमिति—हे सखे कामस्य अनङ्गस्य इषुभिर्बाणै: इदं मम हृदय सदा शल्येन सहितमिति सशल्य पीडितमास्ते । तेन निद्रा न सुलभा, प्रियाया दर्शनमपि च न सम्भवति। स्वप्ने समागमकारिणी निद्रामहं कथमुपलभे प्राप्नुयाम् । नहि पीडाया सत्या निद्राया: सम्भव. । सुन्दर वदन मुख यस्या: सा तादृशी सुमुखी प्रिया आलेख्ये चित्ररचनायाम असमाप्य मम नयनोरुद्वाष्पत्वम् उद्गतानि वाष्पाणि अश्रूणि ययोस्ते उद्वाष्पे लोचने तयोर्भाव: उद्वाष्पत्व न भविष्यतीति च न, अपितु भविष्यत्येव । यद्यहं चित्रफलके प्रियामालिखितुम् आरभे तदा लेखन समाप्ते: पूर्वमेव मम नेत्राभ्यामश्रुपात: प्राप्स्यते तेनाह चित्रगतामपि प्रियामालोकयितु न पारयिष्यामि । अनेन द्वितीयोऽप्युपायो-ऽपाकृत: । हरिणीवृत्तमिदम् । तल्लक्षण तु—"रस-युग हयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा" इति ।

अयमेव भाव: कविना मेघदूतेऽपि "त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागै: शिलाया"मित्यादिना व्यक्तीकृत: ।१०।

अनुवाद :—विदू०—लो, मैंने दुर्लभ प्रेमी से मिलने का उपाय सोच लिया । (राजा मौन बैठा रहता है)

उर्वशी—वह कौन धन्य स्त्री है जो इनके द्वारा खोजी जाती हुई अपना मनोविनोद कर रही है।

चित्र०—ध्यान लगाने मे देरी क्यो करती हो?

उर्वशी—सखि! सहसा ध्यान के प्रभाव से मालूम करने मे डर लगता है।

विदू०—अरे! मैं कह रहा हूँ कि मैंने दुर्लभ प्रेमी से मिलने का उपाय ढूंढ लिया है।

राजा—मित्र! कहिये

विदू०—आप तो स्वप्न मे समागम कराने वाली निद्रा का सेवन कीजिये अथवा श्रीमती उर्वशी की प्रतिकृति (तसवीर) चित्रफलक (चित्र बनाने की तख्ती) पर बना कर उसे देखते हुए अपना मनोविनोद कीजिये

(उर्वशी)—(हर्ष के साथ) अरे दुर्बल हृदय! धीरज धर, धीरज धर।

राजा—ये दोनो बातें सम्भव नही है।

मेरे हृदय म सदा भीतर ही भीतर काम के बाण कसकते रहते हैं। फिर स्वप्न मे समागम कराने वाली निद्रा कैसे पा सकता हूँ और चित्र बनाऊँ तो उस सुमुखी का चित्र समाप्त करने से पहले ही मेरी आँखो मे आँसू न भर आयें, यह भी नही हो सकता है।

टिप्पणी :—दुःखेन लभ्यु शक्य इति दुर्लभ। प्रणयोऽनुराग. अस्ति यस्य स प्रणयी चासौ जन इति प्रणयिजन। दुर्लभश्चासौ प्रणयिजन इति दुलभ-प्रणयिजन: तस्य।

परिमृग्यमाणा—परिमृग्यते अन्विष्यते इति। परि+मृग्+कर्मणि शानच्।

प्रभावत:—देवों एव सिद्ध आदिक जनों को प्राप्त सिद्धि प्रभाव कहलाती है। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती है—अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्ति: प्राकाम्यमीशित्व वशित्व चाष्टसिद्धय.।

प्रतिकृति चित्रफलके: मेघदूत मे भी यही भाव वर्णित है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्

अस्रैस्ताव मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूर न सहते सङ्गम नौ कृतान्त ।

उद्वाष्पत्वम्—उद्गतानि वाष्पाणि ययोस्ते उद्वाष्पे (नेत्रे) तयोर्भाव उद्वाष्पत्वम् ।

तदुभयमप्यनुपन्नम्—शाकुन्तल मे भी यही बात कही गयी है—

प्रजागरात् खिलीभूतस्तस्या स्वप्ने समागम ।
वाष्पस्तु न ददात्यना द्रष्टु चिनगतामपि ॥

मूलपाठ : चित्र०—सहि, सुद तुए वअणम् ? (सखि ! श्रुत त्वया वचनम् ?)

उर्वशी—सुद । ण उपा पज्जत्त हिअअस्स । (श्रुत । न पुन पर्याप्त हृदयस्य ।)

विदू०—एत्तिओ मे मदिविहओ । (एतावान् मम मतिविभव ।)

राजा—(सनि श्वासम्)

नितातकठिना रुज मम न वेद सा मानसी
प्रभावविदितानुरागमवमन्यते वाऽपि माम् ।
अलब्ध फल-नीरस मम विधाय तस्मिञ्जने
समागममनोरथ भवतु पञ्चबाण कृती ॥११॥

चित्र०—सुद तुए ? (श्रुत त्वया ?)

उवशी—हध्धी हध्धी ! म वि एव्व अवगच्छदि । सहि ! असमत्थम्हि अग्गदो भविअ अत्ताणअ दसिदुम् । ता पहावणिम्मिदेण मुज्जवत्तेण लेह सपादिअ अन्तरा खिविदुमिस्सामि । (हा धिक् हा धिक ! मामप्येवमवगच्छति । सखि ! असमर्थाऽस्म्यग्रतो भूत्वात्मान दर्शयितुम् । तत् प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण लेख सम्पाद्यान्तरा क्षेप्तुमिच्छामि ।)

चित्र०—अणुमद मे । (अनुमत मे)

(उर्वशी नाट्येनाभिलिख्य क्षिपति)

व्याख्या चित्र०—सखि ! श्रुत त्वया राज्ञो वचनम् त्वत्प्रेमव्यञ्जिका उक्ति ?

उर्वशी—श्रुतम् । न पुनः पर्याप्तं हृदयस्य । मे हृदयमतोऽप्यधिकतर किञ्चित् श्रोतुमिच्छति ।

विदू०—एतावान् एतन्मात्रो मे मति-विभवः विचारणाशक्तिः । नाहमतोऽधिकं चिन्तयितुं शक्नोमि ।

राजा—(सनिःश्वासम् व्यथा प्रकटीकुर्वन्)

नितान्तकठिनामिति—सा उर्वशी मम नितान्तमत्यन्तं कठिना दुःसहा मनसि भवा इति मानसी तां रुजं व्यथां न वेद न जानाति । यदि अज्ञास्यत् तदा अवश्यं सा मह्यं दर्शनमदास्यत् । वा अथवा सा देवागनाप्रभावेण दिव्यशक्त्या विदितं अनुरागो यस्य तं अपि मां अवमन्यते उपेक्षते । अथवा दिव्यशक्त्या सा मम त्वां प्रति अनुरागं जानाति तथा ममावहेलनां करोति । पञ्चबाणाः यस्य सः पञ्चबाणः कामः तस्मिन् जने उर्वशीरूपे मम समागमस्य संयोगस्य मनोरथमभिलाषम् अलब्धमप्राप्तं यत् फलं तेन नीरसम् आनन्दविरहितं विधाय कृती कृतमनेनेति सकामः भवतु । अथोपायान्तर-दर्शनाभावात् तपनं नाम प्रतिमुखसन्ध्यंगम् । तदुक्तम्—"उपायादर्शनं यच्च तपनं नाम तद् भवदिति" ।११।

चित्र०—श्रुतं त्वया । जातं नाम साम्प्रतं पर्याप्तं तव हृदयस्येति भावः ।

उर्वशी—हा धिक्, हा धिगिति विगर्हणे । मामपि तद्वियोगव्याकुलामपि एवम् अज्ञात-मदनुरागा ज्ञात्वाऽपि वोपेक्षमाणाम् प्रवगच्छति जानाति । सखि ! अस्या स्थितौ अग्रतः भूत्वा सम्मुखे गत्वा आत्मानं दर्शयितुम् असमर्थाऽस्मि । तत् तस्मात् प्रभावेण निर्मितेन उत्पादितेन भूर्जपत्रेण लेखं सम्पाद्य स्वभावं भूर्जपत्रे लिखित्वा अन्तरा अनयोर्नृपविदूषकयोर्मध्ये क्षेप्तुमिच्छामि ।

चित्र०—अनुमतं मे । अहमस्य विचारस्य समर्थिकाऽस्मि ।

(उर्वशी नाट्येन अभिलिख्य क्षिपति तयोर्मध्ये भूर्जपत्रम्)

अनुवाद—चित्र०—सखि ! तुमने बात सुनी ?

उर्वशी—सुनी किन्तु मेरे हृदय के लिए काफी नहीं है ।

विदू०—मेरी बुद्धि का वैभव तो इतना ही है ।

राजा—(निःश्वास के साथ) उसे मेरे मन की अत्यन्त कठिन पीडा मालूम नहीं है अथवा अपनी दिव्य शक्ति से उसे मेरे अनुराग का ज्ञान है,

फिर भी वह मेरी उपेक्षा करती है। इस व्यक्ति के प्रति मेरे मन मे निष्फल होने के कारण रसविहीन मिलन-कामना पैदा करके कामदेव सफल हो।

चित्र०—सुना तुमने ?

उर्वशी—हाय हाय ! मुझे भी ऐसा समझते हैं। सखि ! मैं सामने जाकर स्वय को प्रदर्शित करने मे असमर्थ हूँ। तो अपनी दिव्य-शक्ति द्वारा निर्मित भोजपत्र पर लेख लिख कर बीच मे फेंक देना चाहती हूँ।

चित्र०—मुझे स्वीकार है। (उर्वशी अभिनय के साथ लिखकर फेंक देती है)

टिप्पणी—प्रभाव...रागम्—प्रभावेण स्वीकीय-सिद्धया विदित. ज्ञातः अनुरागः यस्य स., तम्। अवमन्यते—राजा उर्वशी की उपेक्षा के कारणो की कल्पना करता है—(१) या तो वह मेरी मनोव्यथा को जानती न हो अथवा (२) जानकर भी दिव्य नारी होने के कारण मुझ जैसे पार्थिव जन से प्रेम करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल न समझती हो और इसलिए मेरी उपेक्षा कर रही हो। अलब्ध .. .नीरसम्—न लब्ध फल येन स अलब्ध-फल। एवभूतश्चासौ नीरसः। सफल न होने के कारण नीरस (फीका)। कृती—कृतमनेन इति कृती=सफल। शाकुन्तल मे भी कहा है—"काम इदानी सकामो भवतु।" प्रभावनिर्मितेन—पत्र लिखने के लिए कोई वस्तु समीप न होने से अपनी दैवी शक्ति के बल से भूर्जपत्र उत्पन्न करती है। भूर्जपत्र भूर्ज नामक वृक्ष की पतली छाल होती है। यह वृक्ष हिमालय पर अधिकता से पाया जाता है। कागज का निर्माण प्रारम्भ होने से पूर्व भूर्जपत्र का ही प्रयोग होता था। अन्तरा=बीच म, दो के बीच। यह अव्यय है।

मूलपाठ—विदू०—(दृष्ट्वा) अविद अविद भो, किं णु एदम्। भुअग-णिम्मोओ किं म खादिदुं णिवडिदो ? [अविद अविद भो। किं त्विदम् ? भुजङ्ग-निर्मोक किं मा खादितु निपतित ?]

राजा—(विभाव्य) नाय भुजङ्ग निर्मोक। भूर्जपत्रगतोऽयमक्षर-विन्यास.।

विदू०—न खु अदिट्ठाए उव्वसीए भवदो परिदेविअं सुणिअ भुज्जवत्ते

समाणाणुराअ-सूअआइं अक्खराइं अहिलिहिअ विसज्जिआइं भवे। [न खलु अदृष्टया उर्वश्या भवतः परिदेवितं श्रुत्वा भूर्जपत्रे समानानुराग-सूचकानि अक्षराणि अभिलिख्य विसर्जितानि भवेयुः।)

राजा—नास्त्यगतिर्मनोरथानाम्। [गृहीत्वाऽनुवाच्य च सहर्षम्] सखे! प्रसन्नस्ते तर्कः।

विदू०—ज एत्थ अहिलिहिदं त सुणिदु इस्सामि। [यदत्राभिलिखितं तत् श्रोतुमिच्छामि।]

उर्वशी—साहु, साहु अज्ज! णाअरोसि। (साधु साधु आर्य! नागरोऽसि।)

राजा—श्रूयताम्। (वाचयति)

सामिअ सभाविआ जह अह तुए अणुमिआ
तह अ अणुरत्तस्स सुहअ एअमेअ तुह ॥१२॥
णवरि अ मेलतिअ-पारिआअ-सअणिज्जम्मि
होन्ति सुहा णदण-वण-वाआ वि सिहिव्व सरीरे ॥१३॥

[स्वामिन् सम्भाविता यथाऽहं त्वयाऽज्ञात्री
तथा चानुरक्तस्य सुभग एवमेव तव ॥१२॥
अनन्तर च मे ललित-पारिजात-शयनीये
भवन्ति सुखा नन्दन-वन-वाता अपि शिखीव शरीरे]॥१३॥

उर्वशी—किं णु खु सपद भणिस्सदि? [किं नु खलु साम्प्रतं भणिष्यति?]

व्याख्या—विदू०—(दृष्ट्वा) अविद अविद भो. ज्ञायतां ज्ञायतामिति। "अदृष्टाश्रुतसम्प्राप्तावविदाविदभोः पदम्।" इति सागरः। किं नु एतत् इति आश्चर्ये। भुजङ्गस्य निर्मोकः कञ्चुकः किं मा खादितु निपतितः? निर्मोकः 'केंचुली' इति हिन्दीभाषाया कथ्यते।

राजा—(विभाव्य सम्यग् निरीक्ष्य) नायं भुजङ्गनिर्मोकः। भूर्जपत्रगतो-[illegible]राणां विन्यासः। भूर्जपत्रे लिखिताः शब्दाः इति तात्पर्यम्। अक्षराणां

विशेषप्रकारको न्यासः अक्षरविन्यासः । क्रमविशेषपूर्वकं लिखिता-न्यक्षराणि ।

विदू०—ननु इति वितर्के । सम्भाव्यते इद यत् खलु अदृष्टया भवता पर भवन्त दृष्टवत्या उर्वश्या भवत. परिदेवितं विलाप श्रुत्वा मूर्जपत्रे अनुरागस्य प्रेम्णः सूचकानि अक्षराणि अभिलिख्य विसर्जितानि अत्र निक्षिप्तानि भवेयु ।

राजा—नास्ति अगतिः अविषयः मनोरथानामिच्छायाः । मनोरथाना प्रवेशः सर्वत्रास्तीतिभाव । यस्मिन् विषये कस्यचिदभिलापो भवति तद्विषये स. शक्यमशक्य वा सर्वमपि कल्पन करोति । उक्त कुमारसम्भवेऽपि 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' इति (५—६४)

(गृहीत्वा पत्रमनुवाच्य मनस्येव पठित्वा सहर्षम्) सखे, प्रसन्नः क्षुद्रः ते तर्कोऽनुमानम् । मालविकाग्निमित्रे तृतीयेऽङ्केऽपि "नैतावता भवन्त प्रसन्नतर्कं मन्ये।"

विदू०—यदत्र अभिलिखित तत् श्रोतुमिच्छामि । वाचयतु भवान् येनाहमपि शृणुयामित्यर्थः ।

उर्वशी—साधु-साधु सम्यगुक्तम् भवता । आर्य ! नागरः नगरे भवः परिष्कृत-रुचिः असि भवान् । नागरग्राम्यात् प्राकृताद् वा विरुद्धः शिक्षितः कलाऽभिज्ञ कलाविलासी च जनः कथ्यते । बहूक्तमस्मिन् विषये कामसूत्रे ।

राजा—श्रूयताम् । (इति वाचयति लेख पठति)

सामिअ इति—हे स्वामिन् प्राणेश्वर ! यथा त्वयाऽहं अज्ञात्री त्वदीयानुराग तज्जन्या वेदना चाजानती सम्भाविता कल्पिता अनुमान-विषयी-कृता वा तत् तथाविधमनुमानमनुरक्तस्य मयि प्रीतिवतस्तत्र एवमेव तथा सत्यम् । मया तव विरहवेदना न ज्ञाता इति यदुक्तं भवता (२-११ श्लोके) तत् सत्यमेव । कञ्चित् काल नाहं ज्ञातवती यद् भवान् मयि अनुरक्त इति । अनन्तरमधुना ज्ञाते च तत्रानुरागे ललित सुकोमल पारिजाताना पारिजातकुसुमाना शयनीय पारिजातकुसुमरचितशय्या यस्य यदर्थं तत् ललित-पारिजात-शयनीय तस्मिन् मम शरीरे सुखाः सुखकराः सुखयन्तीति सुखाः चन्दनवनस्य वाताः अगरवनकुसुमगन्धमादाय वान्तः शीतलानिलाः अपि

शिखा ज्वालाऽस्ति यस्य स शिखी अग्नि स इव दाहका भवन्ति भविष्यन्ति। वर्तमानसामीप्ये लट्। एवं स्वानुराग प्रकाशयन्ती नृपस्योपालम्भ निराचकार। शिखीवेत्यत्र धर्मलुप्तोपमा। चतुष्पदीच्छन्द। अत्र स्वानुरागप्रकाशकस्य वाक्यस्योपपत्तिमत्वात् 'उपन्यास' इति सन्ध्यङ्गमुक्त भवति।१२।१३।

उर्वशी—किं नु खलु साम्प्रत भविष्यति। पत्र पठित्वा किं कथयिष्यति? अनेन औत्सुक्यातिशयो व्यज्यते।

अनुवाद—विदू० (देखकर) अरे देखो देखो! क्या है यह? क्या यह साँप की केंचुली मुझे खाने के लिए गिरी है?

राजा—(ध्यान से देखकर) यह साँप की केंचुली नहीं है। यह तो भूर्जपत्र पर लिखा हुआ लेख है।

विदू०—ऐसा तो नहीं कि छिपे-छिपे उर्वशी ने आपका विलाप सुनकर भोजपत्र पर समान प्रेम को प्रकट करने वाले अक्षर लिख कर छोड़ दिये हों?

राजा—मनोरथो की पहुँच कहाँ नहीं है? (लेकर, और पढकर प्रसन्नता के साथ) मित्र! तुम्हारा अनुमान ठीक ही है।

विदू०—इसमे जो लिखा है वह सुनना चाहता हूँ।

उर्वशी—बहुत ठीक आर्य! तुम चतुर हो।

राजा—सुनो। (पढ़ता है)

हे सुभग स्वामिन्! तुमने जो यह सम्भावना की है कि तुम मुझपर अनुरक्त हो और मैं तुम्हारे जैसे अनुरक्त (के अनुराग) को जानती नहीं, यद्यपि यह सच है तो भी तुम्हारा प्रेम जानने के बाद से पारिजात के कोमल शयन पर भी नन्दन वन की सुखद वायु मेरे शरीर मे अग्नि बन कर लगती है।१२-१३।

उर्वशी—न जाने अब क्या कहेंगे?

टिप्पणी—अविद—अदृष्ट और अश्रुत विचित्र वस्तु के आ जाने पर 'अविद अविद' इस पद का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है, देखो देखो, मालूम

करो। आक्रोश अर्थात् सहसा चीख उठने के लिए "अविहा अविहा" आता है। नास्त्यगति०—कुमारसभव मे भी कहा है—"मनोरथानामगतिर्न विद्यते।" प्रसन्नस्ते तर्कः—ठीक अनुमान के लिए कालिदास ने प्रायः 'प्रसन्न' विशेषण का प्रयोग किया है। मालविकाग्निमित्र मे भी आया है—"नैतावता भवन्त प्रसन्नतर्क मन्ये।" लुलित शयनीये—लुलित पारिजातशयनीय येन तस्मिन्। जिसमे पारिजात के फूलो का बिस्तर बिखर गया है। स्वामिन् संभाविता—इस श्लोक मे अपने अनुराग की प्रकाशक बात तर्क (उपपत्ति) के साथ कही गयी है। इसलिए यहाँ "उपन्यास" नामक सन्ध्यङ्ग है। शिखीव—इसमे धर्मलुप्तोपमा है। शिखाः सन्ति यस्य सः शिखी=ज्वालाओ या लपटो वाली अग्नि।

मूलपाठ—चित्र०—किं णु। भणिद एव्व एदेण मलाण-कमल-णालोवमेहिं अंगेहिं। [किं नु। भणितमेवैतेन म्लान-कमल-नालोपमैरङ्गैः।]

विदू०—दिट्ठिआ मए विअ बुभुखिदेन सोत्थि-वाअणिअं लद्धं भवदा समस्सासण-कालणम्। [दिष्ट्या मयेव बुभुक्षितेन स्वस्तिवाचनिकमिव लब्धं भवता समाश्वासनकारणम्।]

राजा—समाश्वासनमिति किमुच्यते—

तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थ-बन्धं
पत्रे निवेशितमुदाहरणं प्रियायाः।
उत्पक्ष्मलं मम सखे मदिरेक्षणाया-
स्तस्याः समागतमिवाननमाननेन ॥१४॥

उर्वशी—एत्थ णो समभाआ मदी। [अत्रावयो समभागा मतिः।]

राजा—वयस्य! अंगुली-स्वेदेन मे लुप्यन्तेऽक्षराणि। धार्यतामयं स्व-हस्ते निक्षेपः प्रियायाः।

विदू०—(गृहीत्वा) तदो किं तत्तभोदी उव्वसी भवदो मणोरह-तरु-कुसुमं दसिअफले विसंवदिस्सदि? [ततः किं तत्रभवती उर्वशी भवतो मनोरथ-तरुकुसुमं दर्शयित्वा फले विसंवदिष्यति?]

व्याख्या—चित्र०—किंनु इति सन्देह-निरसनाय। भणितं व्यक्तीकृतमेव एतेन राज्ञा म्लानानि यानि कमलनालानि तानि उपमा येषां तैः तथाविधैः अङ्गैः। कमल-नालवत् म्लानैरस्याङ्गैरन्तर्गूढा प्रेमव्यथा स्पष्टैवेति भावः।

वस्तुतस्त्वत्र 'कमलनालायमानैरङ्गै'रिति पाठ एव वरीयान्। तत्र कमलनालवत् सुकुमारैरपि कण्टकितैरङ्गैरित्यर्थः। उर्वश्या 'किं भविष्यती'ति औत्सुक्यप्रदर्शने पार्श्वस्था चित्रलेखा पत्रपठनाज्जात रोमाञ्चं नृपशरीरे वीक्ष्य कथयति नाधुना भणनस्यावश्यकता, तत पत्र-प्राप्ति-जात-सहर्षेण तस्य शरीरे यो रोमाञ्च आविष्कृतः स स्वयमेव तस्य हर्ष-प्रकर्षमभिव्यनक्ति।

विदू०—*दिष्ट्या भाग्येन मया खलु भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा सजाता यस्मिन्* स बुभुक्षितः तेन, स्वस्तिवाचनाल्लब्धम् उपायन स्वस्तिवाचनिकम्-स्वस्तिवायनमिति पाठे स्वस्त्यर्थं वायनमुपहारो दक्षिणा वा इव लब्ध प्राप्त भवतः समाश्वासनस्य धैर्यस्य कारण साधनभूतं भूर्ज पत्रम्। यथा कोऽपि बुभुक्षितो ब्राह्मणः मोदकादिक स्वस्तिवायन प्राप्य सन्तुष्टो भवति तथैव भवानिदम् पत्रं प्राप्य जातः।

राजा—समाश्वासन सान्त्वमिति किमुच्यते; कोऽत्र सन्देहः समाश्वासने। यतः—

तुल्यानुरागेति—सखे! तुल्यः समानो योऽनुरागः तस्य पिशुनम् सूचकम् समानप्रेमसूचकम्। "पिशुनौ खलसूचकौ" इत्यमरः। ललितः सुन्दरः अर्थस्य बन्धः नियोजन यत्र, यद्वा ललितौ अर्थबन्धौ अभिधेय-वाक्यरचने यत्रेति ललितार्थबन्धम् मधुरार्थयुक्तम् सुन्दरशब्दार्थमयम् पत्रे निवेशित लिखित प्रियाया उदाहरणमुक्तिः काव्यखण्ड वा उद्गते पक्ष्मणी नेत्रलोमानि यस्याः सा उत्पक्ष्मा तस्याः मदिरे ईक्षणे यस्या सा तस्याः मदघूर्णितनेत्रायाः आनन मम आननेन समागत सगतमिव। अस्य पत्रस्य प्राप्तिः प्रियासमागम-तुल्यैव। अतः कथ न पत्र समाश्वसनकारण भवेत्। मदिरा दृष्टिस्तु सगीतकलिकायाम् "सौष्ठवेन परित्यक्ता स्मेरापाङ्गमनोहरा। वेपमानान्तरा दृष्टिर्मदिरा परिकीर्तिते"ति परिभाषिता। अत्र वसन्ततिलकावृत्तम्। उक्त च 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।"१४।

उर्वशी—*अत्र आवयोः समभागा समाना मतिः*। इय चित्रलेखा प्रति उर्वश्याः उक्तिः। चित्रलेखया यदुक्त "भणितमेवैतेन म्लानकमलनालोपमैरङ्गै"रिति तदेव समर्थयति उर्वशी।

राजा—वयस्य अगुलीस्वेदेन मे लुप्यते परिमृष्टानि भवन्ति अस्य पत्रस्य अक्षराणि। स्वेदोऽनानुरागजन्यः सात्विकभाव.। धार्यताम् अय स्वहस्ते निक्षेपः न्यासः प्रियायाः। निक्षेपरूपेण गृह्यतामिति कथनेन पुनरपि पत्रस्य देयता प्रतिपादयति।

विदू०—(गृहीत्वा राज्ञो हस्तात् पत्रमादाय) तत. अनन्तर किं तत्भवती मान्या उर्वशी भवतस्तव मनोरथ एव तरु. तस्य कुसुम कुसुमरूप स्नेहाङ्कितपत्र दर्शयित्वा फले समागमरूपे फले विसवदिष्यति मिथ्या भविष्यति। यथा तरुः पुष्प प्रदर्श्य फलमपि जनयति तथैव उर्वशीमनोरथरूपस्य तरोः कुसुमतुल्य पत्र प्रेषयित्वा समागममवश्य साधयिष्यति।

राजा अक्षर रक्षणाय विदूषकस्य हस्ते पत्र ददाति। विदूषकस्तु मूर्ख इव राज्ञोऽभिप्रायमन्यथैव गृह्णाति। स चिन्तयति यद् राज्ञा प्राप्ते समये प्रमाणरूपेण समुपस्थापनायैतत् पत्र तद्धस्ते न्यस्तमिति। अतएवेयमुक्तिः।

अनुवाद—चित्र०—क्या कहेंगे ? मलिन पड़े हुए कमल-नाल जैसे अङ्गो से कह ही दिया है।

विदू०—जैसे भूखे भुक्खड को स्वस्तिवाचनिक (मगल कार्य के बाद बाँटी जाने वाली मिठाई) मिल जाय वैसे ही आपको यह (पत्र) समाधान का साधन मिल गया है।

राजा—समाधान का साधन क्यो कहते हो ? मित्र ! मेरी प्रिया का पत्र पर लिखा हुआ वक्तव्य (गीत) पाकर जो मेरे समान ही उसके अनुराग को सूचित करता है और जिसमे मनोरथ अर्थ गुम्फित है, ऐसा लग रहा है मानो मदिर नेत्रो वाली मेरी प्रिया का ऊपर उठी हुई पलको वाला मुख ही आकर मेरे मुख से मिल गया हो।१४।

उर्वशी—इस विषय मे हम दोनो का विचार एक-सा ही है।

राजा—मित्र ! मेरी उँगलियो के पसीने से इसके अक्षर मिटे जा रहे हैं। इसलिये मेरी प्रिया की यह धरोहर अपने हाथ मे रख लीजिये।

विदू०—(लेकर) तब क्या माननीया उर्वशी आपके मनोरथ के वृक्ष मे फूल खिला कर फल के विषय मे उससे उलटा व्यवहार करेंगी ?

टिप्पणी—म्लानकमलनालोपमैः—म्लानानि कमलनालानि उपमा येषां तानि तैः। वास्तव में यहां पर 'कमलनालायमानैरङ्गैः' पाठ अधिक समीचीन है। उर्वशी के यह प्रश्न करने पर कि "मेरा पत्र देखकर अब न जाने क्या कहेगा?" चित्रलेखा का यह उत्तर देना कि "कमलनाल जैसे कुम्हलाये हुए अङ्गों ने बता ही दिया है।" ठीक नहीं। उसके स्थान पर "इसके रोमाञ्चित (तुम्हारा पत्र देख कर इसके शरीर में ऐसे हर्षजन्य रोंगटे खड़े हो गये हैं जैसे कमलनाल पर होते हैं) शरीर ने बता तो दिया है" यह उत्तर अधिक उपयुक्त है। स्वस्तिवाचनिकम्—स्वस्तिवाचनात् लब्धम् (उपायनम्) आशीर्वाद प्रदान तथा स्वस्तिवाचन के उपलक्ष में मिली हुई भेंट या दक्षिणा। ललितार्थबन्धम्—ललित. सुन्दरः अर्थस्य बन्धः यस्मिन् तत्। उदाहरणम्—उत् + आ + हृ + ल्युट्—गीत या कविता। मदिरेक्षणा—मदिरे ईक्षणे लोचने यस्या. सा। मदिर दृष्टि की परिभाषा 'सगीतकलिका' में यों दी है—सौष्ठवेन परित्यक्ता स्मेरायाङ्गमनोहरा—वेपमानान्तरा दृष्टिर्मदिरा परिकीर्तिता।

मूलपाठ —उर्वशी—हला जाव उवगमण-कादर हिअअ पज्जवत्थावेमि दाव तुम से अत्ताण दसिअ ज मे खम त भणाहि। [हला यावदुपगमन-कातर हृदय पर्यवस्थापयामि तावत्त्वमस्मै आत्मान दर्शयित्वा यन्मम क्षमं तद् भण।]

चित्र०—तह। [तथा] (इति तिरस्करिणीमपनीय राजानमुपसृत्य) जेदु जेदु महाराओ! [जयतु जयतु महाराज.।]

राजा—(ससम्भ्रममादरगर्भम्) स्वागत भवत्यै। (पार्श्वमवलोक्य) भद्रे!

न तथा नन्दयसि मा सख्या विरहिता तया।
सङ्गमे पूर्वदृष्टेव यमुनागङ्गया यथा॥१५॥

चित्र०—ण पढम मेहराई दीसदि, पच्छा विज्जुल्लदा। [ननु प्रथम मेघराजिर्दृश्यते पश्चाद्विद्युल्लता]

विदू०—(अपवार्य) कह ण एसा उव्वसी उवगदा। तत्तभोदीए उव्वसीए सहअरीए एदाए होदव्वम्। [कथ नैषा उर्वश्युपगता। तत्रभवत्या उर्वश्याः सहचर्या तया भवितव्यम्।]

राजा—एतदासनमास्यताम् ।

चित्र०—उव्वसी महाराअं सिरसा पणमिअ विण्णवेदि । [उर्वशी महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति ।]

राजा—किमाज्ञापयति ?

चित्र०—मम तस्सिं सुरारि-संभवे दुण्णए महाराओ एव्वं सरणं आसी । संपदं मा अहं तुह दंसणसमुत्थेण आआसिणा वलिअं बाधिअमाणा मअणेण पुणोवि महाराअस्स अणुकंपणीआ होमि । [मम तस्मिन् सुरारि-सम्भवे दुर्नये महाराज एव शरणमासीत् । साम्प्रतं साऽहं तव दर्शनसमुत्थेनायासिना बलवद् बाध्यमाना मदनेन पुनरपि महाराजस्या-नुकम्पनीया भवामि ।]

राजा—अयि सखि !

पर्युत्सुकां कथयसि प्रियदर्शना ता-
मार्तं न पश्यसि पुरूरवसं तदर्थे ।
साधारणोऽयमुभयोः प्रणयो स्मरस्य
तां कौमुदीमिव समागमयेन्दु-बिम्बे ॥१६॥

व्याख्या—उर्वशी—सखि ! यावत् यावता कालेन अहम् उपस्थानो राज्ञः समीपे स्थितौ उपगमने समीपगमने कातर भीत स्वमात्मानं समवस्थापयामि दृढीकरोमि—तत्सन्निधाने स्थातुं स्वमनसि शक्ति सचिनोमि तावत् त्वम् आत्मानं दर्शयित्वा तिरस्करिणीमपनीय प्रकटित-स्वरूपा सन् मे अनुमतमनुकूलं तद् नए कथय ।

चित्र०—तथा एवमेव करिष्यामि । (तिरस्करिणीमपनीय दर्शिताकृतिः राजानमुपसृत्य राज्ञः समीपे गत्वा) जयतु-जयतु विजयेन वर्धताम् महाराजः ।

राजा—(ससम्भ्रमाद् विस्मय जन्य-भयात् आदरगर्भम् प्रियायाः वयस्येति आदर प्रदर्शयन्) स्वागतं भवत्यै । (पार्श्वमवलोक्य इत आस्यतामिति बोधनाय) भद्रे !

न तथेति—तथा सख्या उर्वश्या विरहिता विहीना त्वं मां तथा न नन्दयसि न मोदयसि यथा गङ्गया विना सङ्गमे पूर्वदृष्टा पूर्वं प्रथम दृष्टा

यमुना न नन्दयति । यथा सङ्गमे प्रयागे गङ्गया मिलिता यमुना दृष्टवान् कश्चित् पश्चादेकाकिनी यमुना पश्यन् न तथा आनन्द भजते तथैव उर्वश्या सह दृष्टा त्वमेकाकिनी न पूर्ववदानन्द साम्प्रत प्रयच्छसि । उपमालङ्कार। अनुष्टुब्वृत्तम ।१५।

चित्र०—ननु प्रथम मेघराजि घनपक्ति दृश्यते पश्चाद् विद्युल्लता। राज्ञा पूर्व चित्रलेखा यमुनारूपेण उर्वशी च गङ्गारूपेण वर्णिता। यमुना श्यामला गङ्गा च शुभ्रा। चित्रलेखाऽपि तदेव वर्णसादृश्यमनुसृत्यात्मान मेघराजि, सखी च विद्युल्लतामिव वर्णयति।

विदू०—मूर्खो विदूषकश्चित्रलेखासीन्दयमेव बहुमन्यमानस्तामेव उर्वशीमनुमिनोति। अत साश्चर्य कथयति—कथमित्याश्चर्ये, नैषा उर्वशी आगता। तर्हि एनया तत्रभवत्या उर्वश्या सहचर्या सख्या भवितव्यम्।

राजा—एतदासनम् विस्तीर्णमिति शेष। आस्यताम् अस्मिन् उपविश्यताम ।

चित्र०—उर्वशी महाराज शिरसा प्रणम्य विज्ञापयति स देश प्रहिणोति।

राजा—उर्वश्या विज्ञापनामाज्ञामिव गृह्णन् पृच्छति—किमाज्ञापयति देवी उर्वशीति।

चित्र०—मम तस्मिन् सुरारे सम्भव उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् केशिदानवकृते दुनये दुराचारे विप्लवे वा महाराज एव शरण रक्षक आसीत्। साम्प्रत साऽहमुर्वशी तव दर्शनात् समुत्तिष्ठतीति दर्शनसमुत्थ अवलोकनजन्य तेन आयासिना कष्टप्रदेन मदनेन कामेन बलवत् प्रसह्य बाध्यमाना पीड्यमाना पुनरपि महाराजस्य अनुकम्पनीयाऽनुग्राह्या भवामि। एकदाऽह भवता दैत्यबाधातो रक्षिता साम्प्रत पुनरपि मदनबाधातो रक्षणीया। शाकुन्तलेऽप्येतादृशी उक्तिर्लभ्यते—"बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला" (तृतीयेऽङ्के)

राजा—अयि सखि! पर्युत्सुकामिति—ता प्रियदर्शना सुन्दरी, प्रिय दर्शन यस्या सा ता पर्युत्सुका मुत्कण्ठिता कथयति वर्णयति पर तस्यै इयमिति मन्यों ताम् तन्निमित्तां पुरूरवस आर्ति मदनपीडा न पश्यसि। अयम् प्रणयो·

नुराग: उभयो: सदृश: समान:। ग्रत. कौमुदीमिव ता नेत्राह्लादकरो इन्दुबिम्बे इव मयि तदाश्रयभूते समागमय सम्मेलय। यतस्व तदर्थं प्रयत्न कुरुष्व। शाकुन्तलेऽपि समार्था उक्ति: तृतीयेऽङ्के लभ्यते—"तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मा पुनर्दहत्येव" तथा "राजा—भद्रे! साधारणोऽयं प्रणयः।" इति वसन्ततिलका वृत्तम्।१६।

अनुवाद—उर्वशी—सुनो। जब तक मैं पास जाने मे डरते हुए हृदय को स्थिर करती हूँ तब तक तुम स्वय को प्रकट करके जो मेरे अनुकूल बात हो वह कहो।

चित्र०—ठीक है (तिरस्करिणी को हटाकर राजा के पास जाकर) महाराज की जय हो, जय हो।

राजा—(हडबडाकर आदरपूर्वक) आपका स्वागत है (बगल की ओर देखकर) भद्रे!

अपनी उस सखी से अलग होकर तुम मुझे ऐसे ही उतना आनन्दित नही कर रही हो जैसे सगम के स्थान पर पहले देखी हुई यमुना गगा के बिना अकेली उतना आनन्दित नही करती।

चित्र०—पर पहले मेघमाला दिखाई देती है और बाद मे विद्युत्-लता।

विदू०—(एक ओर)—क्या? यह उर्वशी नही आई है? तो श्रीमती उर्वशी की सहचरी होगी।

राजा—यह आसन है। बैठिये।

चित्र०—उर्वशी सिर से महाराज को प्रणाम करके सूचित करती है—

राजा—क्या आज्ञा कर रही है?

चित्र०—दानव से किये जाने वाले अत्याचार मे महाराज ही मेरे रक्षक थे। इस समय मैं फिर से आपके दर्शन से उत्पन्न, कष्टकारक कामदेव से अत्यन्त पीडित हूँ और आपकी अनुकम्पा की पात्र हूँ।

राजा—सखि! तुम उस प्रियदर्शना को कामोत्सुक बता रही हो

उसके निमित्त पीड़ित पुरूरवस् को नहीं देख रही हो। यह प्रणय तो हम दोनों का एक-सा है। इसलिये प्रयत्न करो और चांदनी जैसी उर्वशी को इन्दुबिम्ब जैसे मुझसे मिला दो।

टिप्पणी —पर्यवस्थापयामि—परि + अवपूर्वक णिजन्त स्था धातु का लट् उत्तम पु० का रूप। धैर्य बँधाती हूँ, ढाढस देती हूँ या स्थिर करती हूँ। तत्रभवत्या भवितव्यम्—यह वाक्य भाववाच्य में है। अकर्मक धातु का प्रयोग या तो कर्तृवाच्य में होता है या भाववाच्य में जब कि सकर्मक धातु का कर्तृवाच्य या कर्मवाच्य मे होता है। भू-धातु अकमक है। इस वाक्य का कर्तृवाच्य रूप होगा—"तत्रभवत्या उर्वश्याः सहचरी एषा भवेत्।" किमाज्ञापयति—चित्रलेखा कहती है "उर्वशी ने कहलाया है" किन्तु राजा नम्रता-पूर्वक उसके सन्देश का आज्ञावत् सम्मान करता हुआ पूछता है— 'क्या आज्ञा दी है ?" बलवद् बाध्यमाना—बहुत अधिक पीड़ित। बाध् धातु से कर्मवाच्य में शानच्। शाकुन्तल में भी बलवत् का प्रयोग इसी प्रकार क्रियाविशेषण के रूप में हुआ है—"बलवदस्वस्थशरीरा शकुन्तला।" (तृतीय अङ्क) साधारणोऽ प्रणय —शाकुन्तल के तृतीय अङ्क में भी ऐसी ही बात कही है—तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव।' तां कौमुदीमिव बिम्बे—किसी किसी पुस्तक में श्लोक का चतुर्थ चरण इस प्रकार है "तप्तेन तप्तमयसा घटनाय योग्यम्।" गर्म लोहा गर्म लोहे से जोडना ठीक होता है। पर्युत्सुकाम्—इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है। साधारणोऽयम्—शाकुन्तल में भी दुष्यन्त यही कहता है—"राजा—भद्रे! साधारणोऽयं प्रणयः।"

मूलपाठ —चित्र०—(उर्वशीमुपेत्य) हला इदो एहि। णिमुअदर भीसण मअण पेक्खिअ पिअदमस्स द दूदिम्हि संवुत्ता। [सखि, इत एहि। निभृततर भीषण मदन प्रेक्ष्य प्रियतमस्य ते दूत्यस्मि संवृत्ता]

उर्वशी—(तिरस्करिणीमपनीय) अयि अणवट्ठिद! लहु एव्व तुए उम्भिदम्हि। [अयि अनवस्थिते! लघु एव त्वया उज्झिताऽस्मि।]

चित्र०-(सस्मितम्) इदो मुहुत्तादो जाणिस्स का क उज्झिन्स्सदित्ति।

आआरं दाव पडिवज्ज। [इतो मुहूर्ताज्ज्ञास्यामि का कामुज्झिष्यतीति। आचारं तावत् प्रतिपद्यस्व।]

उर्वशी—(सपाध्वसमुपसृत्य सव्रीडम्) जेदु जेदु महाराओ। [जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—(सहर्षम्) सुन्दरि !

मया नाम जितं यस्य त्वयाऽयं समुदीर्यते।
जयशब्द. सहस्राक्षादागतः पुरुषान्तरम् ॥१७॥

(हस्ते ग्रहीत्वैनामुपवेशयति।)

चित्र०—(उर्वशीमुपेत्य) सखि, इतः एहि मत्समीप आगमन निभृततर गुरुतर पर भीषण बहुकष्टकर मदन प्रेक्ष्य दृष्ट्वा ते प्रियतमस्य पुरुरवसो दूतो सवृत्ता जाताऽस्मि। अनस्तत्पक्षमाश्रित्य त्वां वक्ष्यामि।

उर्वशी—(तिरस्करिणीम् अपनीय प्रत्यक्षमागत्य) अयि अनवस्थिते अस्थिरे उत्साह-विशेषात् क्षिप्रकारिणि! लघु शीघ्रम् एव त्वया उज्झिता त्यक्ताऽस्मि। "लघु क्षिप्रमर द्रुत"मित्यमर। स्वीयोत्साह गोपायितु चातुर्येण उर्वशी चित्रलेखामेव भणति।

चित्र०—(उर्वश्या अभिप्राय विदित्वा सस्मितम्) इतो मुहूर्तात् ज्ञास्यामि का काम् उज्झिष्यति परित्यज्य गमिष्यति। राज्ञो प्रीतौ निमग्ना त्वमेव मा विस्मृत्य गन्त्राऽसीति भावः। आचार राज्ञ. समक्षे उपस्थितो जयादि-शिष्टाचार प्रतिपद्यस्व आचर। अत्र नर्म नाम तन्त्र्यङ्गम् परिहासस्य गम्य-मानत्वात्।

उर्वशी—(साध्वस सभयमुपसृत्य चित्रलेखा समीप गत्वा व्रीडया लज्जया सहितमिति सव्रीडम्) जयतु-जयतु महाराज।

राजा—(सहर्षम् उर्वशीदर्शनेन सजातहर्षः) सुन्दरि!

मया महेन्द्र—सहस्रम् अक्षीणि यस्य स सहस्राक्ष इन्द्रस्तस्मात् अन्यः पुरुष इति पुरुषान्तरम् आगतः न प्राप्तः अय जयशब्द जय इति शब्द त्वया यस्य मम विषये उदीर्यते उच्चार्यते तेन मया जित नाम। त्व न कदाचिदपि

महेन्द्रादृतेऽन्यस्य कस्यापि जयमुदीरितवती। तथा यत्साम्प्रतं मे विजयाशंसा क्रियते तत्सत्यमेवाहं जयी भविष्यामि। इन्द्रः गौतमशापवशात् शरीरे सहस्र छिद्राणि प्राप्तवान् पश्चात् तानि छिद्राणि प्रसादवशात् अक्षीणि जातानीति पौराणिकी कथा। वस्तुतस्तु वेदे पुरुषसूक्ते यत् कथितम् "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" तत एवेयं कल्पना। अत्र प्रगमनं नाम प्रतिमुखसन्ध्यङ्गम्। तदुक्तं साहित्यदर्पणे "प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम्" (सा० दर्प० ६-९७)। अनुष्टुब्वृत्तम्।१७।

(एना उर्वशी हस्ते गृहीत्वा उपवेशयति। अनेन प्रेमातिशयो व्यज्यते। उपपूर्वकस्य विशधातोर्णिचि प्रयोगः)

अनुवाद—चित्र०—(उर्वशी के पास जाकर) सखि! इधर आओ। भीतर दबे हुए भयंकर कामदेव को देखकर तुम्हारे प्रियतम का दूती बन गयी हूँ।

उर्वशी—(तिरस्करिणी को हटाकर) अरे चचले! इतनी जल्दी तूने मुझे छोड दिया है।

चित्र०—(मुस्कराकर) इस क्षण के बाद मालूम होगा कि कौन किसे छोडता है। शिष्टाचार का तो पालन करो।

उर्वशी—(डरती डरती पास जाकर लज्जा के साथ) जय हो, महाराज की जय हो।

राजा—(हर्ष के साथ) सुन्दरि! जो जय शब्द तुम्हारे मुख से इन्द्र को छोड कर और किसी के लिए नहीं निकला है वह यदि तुमने मेरे लिए कहा तो मेरी जय ही है।१७।

(हाथ पकड कर उसे बैठाता है)

टिप्पणी—अनवस्थिते—अस्थिर विचार वाली! मेरी ओर से मेरी बात कहने आयी थी किन्तु यहाँ आकर राजा की ओर से बोलने लगी। इसीलिए उर्वशी प्रेम की मीठी झिडकी देती हुई उसे 'अनवस्थित' कहती है। लघु—क्रियाविशेषण है अतः नपुं० लिङ्ग एकवचन। "लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्" ये शीघ्र के पर्याय हैं। आचारम्०—राजा के सम्मुख जाने पर प्रथम प्रणाम करना

चाहिये। उर्वशी यह बात भूलकर सीधे चित्रलेखा से बातें करने लगी। इसी लिए वह इसे स्मरण दिलाती है। प्रति+पद+लोट मध्यम पु० प्रतिपद्यस्व। समुदीर्यते—सम्+उद्+ईर्+कर्मणि लट् अन्य पु० एकवचन=कहा जाता है। मया नाम—इसका कर्तृवाच्य रूप होगा—"अहं नाम जितवान् यस्य त्वं इम समुदीरयसि।

मूलपाठ :—विदू०—भोदि! रण्णो पिअवअस्सी ब्रह्मणो किं न वन्दीअदि? [भवति! राज्ञः प्रियवयस्यो ब्राह्मणः किं न वन्द्यते?]

(उर्वशी सस्मितं प्रणमति)

विदू०—सोत्थि भोदीए। [स्वस्ति भवत्यै।]

(नेपथ्ये देवदूतः) चित्रलेखे! त्वरयोर्वशीम्—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्ट-रसाश्रयो निबद्धः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः ॥१७॥

(सर्वे आकर्णयन्ति। उर्वशी विषादं रूपयति।)

चित्र०—सुद तुए देवदूअस्स वअणम्। ता अणुजाणीहि महाराअम्। [श्रुतं त्वया देवदूतस्य वचनम्। तदनुजानीहि महाराजम्।]

उर्वशी—(निःश्वस्य) णत्थि मे वाआविहवो। [नास्ति मे वाग्विभवः।]

चित्र०—महाराअ! उव्वसी विण्णवेदि-परावसो अअं जणो ता। महाराएण अब्भणुण्णादा इच्छामि देअदेअस्स अणवरद्धं अत्ताणअं कादुं। [महाराज! उर्वशी विज्ञापयति परवशोऽयं जनः। तन्महाराजेनाऽभ्यनुज्ञाता इच्छामि देवदेवस्य अनपराद्धमात्मानं कर्तुम्।]

राजा—(कथंकथमपि वचनं सस्थाप्य) नास्मि भवत्योरीश्वर-नियोगपरिपन्थी। किन्तु स्मर्तव्यस्त्वया जनः (उर्वशी वियोगदुःखं रूपयित्वा राजानं पश्यन्ती सहसख्या निष्क्रान्ता)

व्याख्या—विदू०—वन्द्यते इति वन्द्धातो कर्मणिरूपम्। स्मितेन सहेति सस्मितम्।

चित्र०—त्वरय शीघ्रमुपसर। मुनिनेति—मुनिना नाट्यशास्त्रविधात्रा भरतेन अष्टौ शान्तवर्जिता. रसास्तेषामाश्रय सकला रसालङ्कृत, प्रयोगः नाट्य-प्रयोग: भवतीषु अप्सर सु निबद्ध: स्थापित: तम् ललित. मनोहर: अभिनयो यस्मिन् स त प्रयोगम् अद्य द्रष्टु मन: यस्य स एवभूत: द्रष्टुकाम: लोकान् पालयन्तीति लोकपाला: तैः सह मरुता देवाना भर्ता अस्ति। सर्वे आकर्ण-यन्ति शृण्वन्ति। उर्वशी विषाददु ख रूपयति अभिनयेन प्रदर्शयति।

चित्र०—त्वया देवदूतस्य वाक्य वचन श्रुतमाकर्णितमेव। तदनुजानीहि महाराजम्। महाराजात् गन्तुम् अनुज्ञा प्राप्नुहि।

उर्वशी—नास्ति मे वाचोविभवऐश्वर्य वक्तु सामर्थ्यम्।

चित्र०—महाराज! उर्वशी विज्ञापयति निवेदयति। परवश. पराधीनोऽय जन.। महाराजेन अभ्यनुज्ञाता गमनाज्ञा प्राप्य इच्छामि आत्मानम् अनपराद्धम् अपराधदोषशून्यम् कर्तुम्। अद्यपूर्वकाद् राध्धातोः क्तःप्रत्ययः।

राजा—(कथकथमपि येन केन प्रकारेण आत्मान सस्थाप्य स्ववशे कृत्वा) भवत्योः युवयोरीदवस्य स्वामिनो नियोग आज्ञा तस्य परिपन्थी विरोधको नास्मि। नाह भवत्यामहेन्द्राज्ञापालने बाधको भविष्यामीत्यर्थ.। किन्तु स्मर्तव्योऽय जन। गमनानन्तर नाह विस्मर्तव्यो भवतीभ्याम्।

उर्वशी वियोगपीडा नाटयन्ती सख्या चित्रलेखया सह, राजान पश्यन्ती प्रेमवशात् सम्मुखमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता बहिर्गता।

अनुवाद—विदू०—श्रीमति! राजा के प्यारे ब्राह्मण मित्र को क्यो प्रणाम नही करती?

(उर्वशी मुस्कराती हुई प्रणाम करती है।)

विदू०—कल्याण हो आपका।

(नेपथ्य मे देवदूत) भरत मुनि ने जो आठो रसो से पूर्ण नाट्याभिनय आप लोगो को सिखलाया था उसे देवपति इन्द्र लोकपालो सहित देखना चाहते हैं।१७।

(सब सुनते हैं। उर्वशी विषाद सूचित करती है।)

चित्र०—देवदूत का वचन तुमने सुन लिया? तो महाराज से चलने की आज्ञा ले लो।

उर्वशी—मुझमे बोलने की शक्ति नहीं है ।

चित्र०—महाराज ! उर्वशी निवेदन करती है कि मैं परवश व्यक्ति हूँ । वो महाराज की आज्ञा लेकर जाना चाहती हूँ जिससे देवेन्द्र का अपराधिनी न बनूँ ।

राजा—(जैसे-तैसे धैर्य धर कर) मैं आपके स्वामी की आज्ञा म बाधक नहीं बनूँगा किन्तु मुझे याद रखना।

(उर्वशी वियोगदुःख का अभिनय करती हुई राजा को देखती देखती सहेली के साथ चली जाती है)

मूल पाठ—राजा—(मनि श्वासम्) वैयर्थ्यमिव चक्षुष सम्प्रति ।

विदू०—(पत्र दर्शयितुकाम) ण भुज्ज — (इत्यर्धोक्तेनात्मगतम्) अविद अविद भो ! उव्वसीदंसणविम्हिदेण मए त भुज्जवत्त पब्भट्ठं वि हत्ताणो ण विण्णादम्। (ननु भूर्ज—हा धिक् हा धिग् भो ! उर्वशीदर्शन-विस्मितन मया तद् भूर्जपत्र हस्तात् प्रभ्रष्टमपि न विज्ञातम् ।)

राजा—किमसि वक्तुकाम ?

विदू०—वअस्स ! एतम्हि वत्तुकामो। मा भव अंगाइं विमुचदु । दिढक्खु तुई वद्धभावा उव्वसी। ण मा इदो गदुअ एद अणुबध सिढिली-करेदि । (वयस्य ! एतदस्मि वक्तुकाम । मा भवान् अङ्गानि विमञ्चतु । दृढ खलु त्वयि बद्धभावा उर्वशी। न सा इतो गत्वा एनमनुबन्ध शिथिली-करोति ।)

राजा—ममाप्येतदेव मनसि वर्तत । तया खलु प्रस्थाने—

अनीशया शरीरस्य हृदय स्ववश मयि।
स्तनकम्पक्रियालक्ष्यैर्न्यस्त नि श्वसितैरिव ।

विदू०—(स्वगतम्) वेवदि मे हिअअ केत्तिए वेलाए तस्स भुज्जवत्तस्स अत्तभवदा वअस्सेण णाम गेण्हिदव्वत्ति । (विपत मे हृदय कस्या वेलाया तस्य भूर्जपत्रस्यात्रभवता वयस्येन नामग्राह्यमिति ।)

व्याख्या—राजा—साम्प्रतमुर्वशीप्रयाणानन्तर चक्षुषो नेत्रस्य वैयर्थ व्यर्थता ।

विदू०—(पत्र दर्शयितुं कामो यस्य स दर्शयितुमिच्छुः) ननु भूर्जं इत्यर्धमुक्त्वा स्वसविधे भूर्जपत्रं न पश्यन् मौनमालम्बते। कथयति च स्वमनसि धिङ् माम्। उर्वश्याः दर्शनेन विस्मित इति उर्वशीदर्शनविस्मितस्तेन उर्वशीं दृष्ट्वा चकितेन मया तद् उर्वशीलिखितं भूर्जपत्रं हस्तात् स्वकरात् प्रभ्रष्टमधोपतितमपि न विज्ञातम्। विपूर्वकात् ज्ञाधातोः क्तः प्रत्ययः।

राजा—विदूषकं किमपि अस्पष्टं कथयन्तं पृच्छति—किं वक्तुकामोऽसि किं कथयितुमुत्सुको भवानिति।

विदू०—वयस्य मित्र! एतदस्मि वक्तुकामः। अहमेतद् वक्तुमिच्छामि। भवान् प्रज्ञानि धैर्यं स्थिरता वा न विमञ्चतु त्यजतु। उर्वशी त्वयि दृढं बद्धभावा बद्धो भावो यस्याः सा बद्धप्रणया। सा इतोऽस्मात् स्थानाद् गत्वा एवमनुबन्धमासक्तिं शिथिलीकरोति न्यूना करिष्यति।

राजा—ममाप्येतदेव मनसि वर्तते। प्रस्थाने गमनवेलायां तया—अनीशयेति शरीरस्य स्वदेहस्य अनीशया न ईष्टे इत्यनीशा तया यस्या अधिकारः स्वदेहस्योपरि नासीत् तया उर्वश्या स्ववशं स्वाधीनं हृदयं मयि स्तनयोः कम्पः तस्य क्रिया तया लक्ष्यैरनुमेयं निश्वसितैर्निश्वासैर्वा न्यस्तं स्थापितमिव। शरीरं तु पराधीनमतो हृदयं मयि स्थापितम्।

विदू०—(स्वगतम्) मे हृदयं वेपते कम्पते। न जाने कदा प्रियवयस्यो भूर्जपत्रविषये मां पृच्छेत्। भूर्जपत्रं तु नष्टम्। अतएव मे मनसि भयं विद्यते।

अनुवाद राजा—(निःश्वास छोड़ता हुआ) अब नेत्रों का कोई उपयोग नहीं।

विदू०—(पत्र दिखलाने की इच्छा करता हुआ) तो भोज ..(इतना आधा कहकर मन में) अरे हाय हाय! उर्वशी को देखने में मैं ऐसा विस्मित हो गया कि मुझे हाथ से गिर जाने पर भी भोजपत्र का पता न चला।

राजा—क्या कहना चाहते हो?

विदू०—मित्र! कहना यह चाहता हूँ कि आप साहस रखिए। उर्वशी आप से बहुत प्रेम करती है। वह यहाँ से जाकर इस स्नेह को शिथिल नहीं कर देगी।

राजा—मेरा विचार भी ऐसा ही है। उसने आते समय शरीर पर अधिकार न होने के कारण अपना मन, जिस पर उसका अधिकार है, मुझे सौंप दिया है। यह काम जिसके काँपते हुए स्तनों को देखने से मालूम पड़ने वाले निःश्वासों ने किया है।

विदू०—(मन में) मेरा मन काँप रहा है। न जाने श्रीमान् किस समय उस भूर्जपत्र का नाम ले दें।

मूल पाठ—राजा—वयस्य! केनेदानीमुन्मनसमात्मानं विनोदयामि। (स्मृत्वा) उपनय भूर्जपत्रम्।

विदू०—(सर्वतो दृष्ट्वा सविषादम्) हा कहं ण दिस्सदि। भो, दिव्वं क्खु तं भुज्जवत्तं गदं उव्वसीमग्गेण। (हा! कथं न दृश्यते। भोः! दिव्यं खलु तद्भूर्जपत्रं गतमुर्वशीमार्गेण।)

राजा—(नासूयम्) सर्वत्र प्रमादी वैधेयः।

विदू०—णं विचिणु (उत्थाय) इदो भवे। एत्थ वा भवे। (ननु विचिनुहि। इतो भवेत्, अत्र वा भवेत्।)

(इति विचेतव्यं नाटयति।)

(ततः प्रविशत्यौशीनरी चेटी च विभक्तश्च परिवारः।)

औशी०—हञ्जे णिउणिए! सच्चं किं लदाघरं विसन्तो अज्जमाणवअसहाओ दिट्ठो तुए महाराओ? (हञ्जे निपुणिके! सत्यं किं लतागृहं विशन्नार्यमाणवकसहायो दृष्टस्त्वया महाराजः?)

चेटी—अलीअं किं मए भट्टिणी विण्णविदपुव्वा? (अलीकं किं मया भट्टिनी विज्ञापितपूर्वा?)

देवी—तेण हि लदाविडवन्तरिदा सुणिस्सं दाव वीसंभमन्तिदाइं जं तुए कहिद सच्चं ण वेत्ति। (तत हि लताविटपान्तरिता श्रोष्ये तावद्विश्रम्भमन्त्रितानि यत्त्वया कथितं सत्यं न वेति।)

चेटी—जं देवीए रुच्चदि। (यद्देव्यै रोचते।)

देवी—(परिक्रम्य पुरस्तादवलोक्य च) णिउणिए! किं णु एदं वत्तं

णवचीअरं विअ इदो दक्खिणमारुदेण आणीअदि ? (निपुणिके ! किनु एतत्पत्रं नवचीवरमिवेतो दक्षिणमारुतेनानीयते ?)

चेटी—(विभाव्य) भट्टिणि ! पडिवत्तणविभाविदक्खरं भुज्जवत्तं क्खु एदम्। हन्त, कह देवीए एव्व णेउरकोडिलग्गम् (गृहीत्वा) कहं वाचीअदु एदम् । (भट्टिनि ! परिवर्तनविभाविताक्षरं भूर्जपत्रं खल्वेतत्। हन्त कथ देव्या एव नूपुरकोटिलग्नम्। कथ वाच्यतामेतत्।

व्याख्या—राजा—वयस्य मित्र केन साधनेन इदानीम् उन्मनस खिन्न स्व विनोदयामि गतखेद करोमि । उद्विग्न मन स उन्मनास्तम्। कथ नाम मया खिन्न मनो विनोदयितव्यम् । भूर्जपत्र स्मृत्वा—उपनय देहि मे भूर्जपत्रम्।

विदू०—सर्वतो दृष्ट्वा सखेदम् कथयति । हा ! कुतो गतम् ! कथ न दृश्यतेऽत्र । तद् भूजपत्र दिव्य द्युलोकसम्बन्धि आसीत् । तेन यथा सा दिव्याऽप्सरा: गता तथैव तद् भूर्जपत्रमपि गतम । दिव्यत्वेन तस्मिन् सचेतनत्वमासीत् ।

राजा—असूयया सहितम् यथा स्यात्तथा सक्रोधम् । सर्वत्र प्रमादी असावधानो वैधेय: मूढस्त्वम् । "मूढवैधेयबालिशा " इत्यमर ।

विदू०—ननु विचिनुहि अन्वेपय तद् भूर्जपत्रम् । उत्थाय इतस्ततो मार्गणाभिनय करोति । ततो औशनरी चेटी परिचारिकाश्चागच्छन्ति ।

औशी०—चेटी पृच्छति—निपुणिके ! किं त्वया आर्यमाणवक विदूषकसहायो यस्य स एवविध—सह अयते गच्छति ससहाय सहगामीत्यर्थ. महाराजस्त्वया लतागृह लतावेष्टित मण्डप प्रविशन् दृष्टोऽवलोकित ।

चेटी—किं मया भट्टिनी स्वामिनी मया पूर्वम् अलीक मिथ्यैव विज्ञापिता सूचिता । पूर्वं विज्ञापिता इति विज्ञापितपूर्वा । निम्नकोटिका भृत्या स्वामिनी भट्टिनीति सम्बोधयन्तीति नाट्यशास्त्रनियम ।

देवी—तेन त्वत्कथन परीक्षितुमह लताविटपे अन्तरिताऽऽत्मान सगोप्य तावद् महाराजस्य विदूषकेन सह विश्रम्भे एकान्ते विश्वासपूर्वक मन्त्रितानि गुप्तवार्ता श्रोष्यामि । ज्ञास्यामि चैव यत् त्वया कथित तत्सत्यमलीक वेति ।

चेटी—यद् देव्यै रोचते । ये भवन्मन. प्रीत भवति तथा कुरुष्व । 'रुच्यर्थाना प्रीयमाणः' इति सूत्रेण चतुर्थी ।

देवी—परिक्रम्य इतस्ततो विनिपदानि चलन्ती अवलोक्य । पत्र पश्यन्ती कथयति—निपुणिके ! नवचीवर नूतन मुनिवस्त्रमिवेद किमपि पत्र दक्षिणेन मारुतेन वायुना इत आनीयते ।

चेटी—विभाव्य दृष्ट्वा-विपूर्वकात् ण्यन्ताद् भूधातोर्ल्यपिरूपम् । भट्टिनि स्वामिनि ! परिवर्तनेन विभावितानि अक्षराणि यस्मिन् एतादृश खलु भूर्जपत्रमेतत । अहो एतत् देव्या एव नूपुरस्य कोटौ अग्रभागे लग्नम् । कथ वाच्यम् एतत् पठितव्य किमत्र लिखितमिति ।

अनुवाद—राजा—मित्र ! मन खिन्न हो रहा है । किससे अपना मनोविनोद करूँ ? (याद करके) भूर्जपत्र लाओ ।

विदू०—(सब ओर देखकर विषाद के साथ) हाय ! दिखता ही नही । अरे ! वह भूर्जपत्र दिव्य था । जैसे उर्वशी गयी वैसे ही वह भी चला गया ।

राजा—(क्रोध के साथ) मूर्ख, हर जगह असावधानी करता है ।

विदू०—ढूंढो तो । इधर होगा, या यहाँ होगा । (ढूंढने का अभिनय करता है)

(तब औशीनरी, चेटी और रानी के परिचारक आते है)

औशी०—अरे निपुणिके ! क्या तूने सचमुख आर्य माणवक के साथ महाराज को लतागृह मे प्रविष्ट होते देखा था ?

चेटी—क्या मैंने पहले आपको कभी झूठी सूचना दी है ?

देवी—तो लताओ की डालियो मे छिप कर इन दोनो का गुप्त वार्तालाप सुनूँ कि तूने जो कहा वह सच है या नही ।

चेटी—जैसा आपको अच्छा लगे ।

देवी—(कुछ चलकर और देखकर) निपुणिके ! दक्षिणी वायु क्या नये चीवर जैसे इस भोजपत्र को इधर (उडाय) ला रही है ?

चेटी—(देखकर) मालकिन ! उलटने पुलटने से इसके अक्षर दिखायी दे रहे हैं। यह भोजपत्र ही है। अरे ! यह तो आपके नूपुर की नोक में ही अटक गया। पढ इसे।

मूल पाठ—देवी—अवलोएहि दाव एदम्। जदि अविरुद्धम् तदो सुणिस्सम्। (अवलोकय तावदेतत्। यद्यविरुद्ध तद् श्रोष्यामि)

चेटी—(तथा कृत्वा) भट्टिणि ! त एद कोलीण विअम्भदि महारअ उद्दिसिअ उव्वसी अक्खरो कव्ववन्धो ति तक्केमि। अज्ज माणवअप्प मादादो अम्हाण हत्थ आगदम्। (देवि ! तदेतत्कौलीन विजृम्भते। भट्टारकमुद्दिश्य उर्वश्यक्षर काव्यबन्ध इति तर्कयामि। आर्यमाणवकप्रमादादावयोर्हस्तमागतम्।)

देवी—ण गिहीदत्था होहि। (ननु गृहीतार्था भव।) (चेटी वाचयति)

देवी—एदेण एव्व उवआरेण त अच्छराकामुअ पेक्खम्ह। (एतेनैवोपचारेण तमप्सर कामुक प्रेक्षावहे।)

चेटी—ज देवी आणवेदि। (यद्देव्याज्ञापयति)

(इति परिजनसहिते लतागृह परिक्रामत)

विदू०—भो वअस्स ! किं एद पवणवसगामि पमदवणसमीवगद क्काडापव्वदपज्जते दीसदी ? (भो वयस्य ! किमेतत् पवनवशगामी प्रमदवनसमीपगतक्रीडापर्वतपर्यन्ते दृश्यते ?)

राजा—(उत्थाय) भगवन् ! वसन्तसख मलयानिल !

वासार्थं हरसम्भृत सुरभि यत्पौष्प रजो वीरुधाम्,
किं मिथ्या भवतो हृतेन दयितास्नेहस्वहस्तेन मे।
जानीते हि भवान् विनोदनशतैरेवविधैर्धारित,
कामार्त जनमञ्जसाऽभिभवितु नालम्बितप्रार्थनम् ॥१६॥

व्याख्या—देवी—एतद् भूजपत्र तावदवलोकय। यदि अविरुद्धम् भवेत् तदा श्रोष्यामि।

चेटी—(तथा कृत्वा वाचयित्वा भूर्जपत्रम्) तदेतत् कौलीनं लोकापवादो विजृम्भते वर्तते। 'कौलीनं पशुभिर्युद्धे कुलीनत्वापवादयो' इति धरणि। भट्ट-

रक महाराजमुद्दिश्य लक्षीकृत्य उर्वश्यक्षरः उर्वश्या अक्षराणि यस्मिन् स एवभूतः काव्यबन्ध काव्यरचना इति तर्कयामि अनुमिनोमि। आर्यमाणवकस्य विदूषकस्य प्रमादादनवधानादावयोर्हस्तमागनम्। भट्टारकमिति वचन नाट्यशास्त्रनियमानुकूलम्—'भट्टारको नृपे नाट्यवाचा देवे तपोवने' इति मेदिनी।

देवी—ननु गृहीतार्था गृहीतोऽर्थो यया सा ज्ञाताभिप्राया भव। अस्मिन् यत् लिखित तद्विज्ञापयेत्यर्थः। (चेटी वाचयति पत्र पठति)

देवी—एतेनैव उपचारेण अनेनैव पूजाद्रव्येण तमप्सरःकामुकम्—कामयते इति कामुकः अप्सरसः कामुक इत्यप्सरःकामुकस्त प्रेक्षावहे द्रक्ष्यावः। "रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजान देवता गुरु"मिति मनुवचनाद्राज्ञः समीपे किमप्युपायन गृहीत्वैव गन्तव्यम्। इद भूर्जपत्र राज्ञोऽतीवप्रियमतः एतदेव गृहीत्वा तमुपस्थास्यावः।

चेटी—यद्देवी आज्ञापयति। यथा भवत्या आदेशस्तथैव करिष्ये। (एव परस्पर समन्त्र्य उभौ परिजनैः परिचारकैः सहिते स्त.गृह परिक्रामतः गमनाभिनय कुरुत.)

विदू०—(राजान कथयति) भोः एतत् पवनवशेन पवनगत्यानुसारेण गच्छतीति पवनवशगामी एतत् किं प्रमदवनस्य समीपे य क्रीडापर्वतस्तस्य पर्यन्ते समीपे वर्तते ? वायुना ह्रियमाण किमपि दृश्यते। न जाने भूर्जपत्रमेतत् किमित्याशङ्कते विदूषकः। प्रमदवन नगरस्य समीपे राज्ञो विहारोपवन भवति। तदुक्त हलायुधे—'विज्ञेय प्रमदवन नृपस्तु यस्मिन् शुद्धान्तैः सह रमते पुरोपकण्ठम्।" इति।

राजा—(उत्थाय) भगवन् वसन्तस्य सखा वसन्तसखस्तत्सबुद्धौ, हे वसन्त सुहृद मलयानिल दक्षिणपवन !

करुणापरः कामिना व्यथा जानासि। अतएवोपरि 'वसन्तसखे'ति सम्बोधन सङ्गच्छते। भवान् एवंविधैः पत्रलेखनवाचनादिभिः विनोदनानां शतानि तैरेवविधैः मनोरञ्जनसाधनैः धारित जीवित यथाकथञ्चिद् ध्रियमाण कामार्त विरहपीडित आलम्बितप्रार्थन जनमञ्जसा साधु अभिभवितु तिरस्कर्तु वा न जानीषे। प्रणयिषु सदा दयालुस्त्वमिति भावः। "कामार्तं जनमञ्जना प्रति भवानालक्षितप्रार्थनं." इति पाठे तु पुराणप्रसिद्धा वायोरञ्जनायाश्च प्रणयकथाऽत्रानुसन्धेया। अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्दः।१६।

अनुवाद—हे वसन्त के मित्र मलय पवन! तुम सुगन्ध प्राप्त करने के लिए लताओं के पुष्पों पर सञ्चित रज उड़ा ले जाओ। मेरी प्रिया के प्रेम-पत्र का हरण करने से तुम्हें क्या लाभ? तुम तो कामार्त जनों के प्राणों को इस प्रकार के सैकड़ों मनोरञ्जनों से स्थिर रखना जानते हो। प्रार्थना करने वाले का तिरस्कार नहीं करते। (अथवा—क्योंकि तुमने भी तो अञ्जना के प्रणय की प्रार्थना की थी।)

टिप्पणी—अत्रास्ति काचित् पुराणकथा—एकदा कुञ्जरनाम्नः प्लवङ्ग-कुञ्जरस्य पुत्री अञ्जना नगरोपकण्ठे शिशिरवायुं सेवमाना आसीत्। तत्र गस्तागुकायास्तस्याः सौन्दर्यं दृष्ट्वा पवनः कामार्तो जातः। पश्चात् तयोः सङ्गमेन हनुमतो जन्म बभूव।

निपुणिका—भट्टिणि! एदस्स एव्व अण्णेसण वट्टदि। [देवि! एतस्य एवान्वेषण वतते।]

देवी—पेक्खामि। [प्रेक्षे।]

विदू०—भो! मिलायमाणवेसरच्छविणा मोरपिच्छेण विप्पलद्धोम्हि। (भोः! म्लायमानवैसरच्छविना मयूरपिच्छेन विप्रलब्धोऽस्मि।)

राजा—सर्वथा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः।

देवी—(सहसोपगृह्य) अज्जउत्त! अल आवेगेण। एद एव्व त भुज्जवत्तं। (आर्यपुत्र! अलमावेगेन। एतदेव तद्भूर्जपत्रम्।)

राजा—(ससम्भ्रमात्मगतम्) अये! इय देवी। (प्रकाशम्) स्वागत

देवी—दुरागद दाणि सवुत्तम् । (दुरागतमिदानी सवृत्तम् ।)

राजा—(जनान्तिकम्) वयस्य ! किमत्र प्रतिविधानम् !

विदू०—(जनान्तिकम्) लोत्तेण सूइदस्स कुभिलअस्स अत्थि वा पडिवअणम् ? (लोप्त्रेण सूचितस्य कुम्भीरकस्य अस्ति वा प्रतिवचनम् ?)

राजा—(अपवार्य) मूढ ! नाय परिहासकाल: । (प्रकाशम्) नेद पत्र मया मृग्यते । तत्खलु मन्त्रपत्र यदन्वेषणाय ममायमारम्भ ।

देवी—जुज्जइ अ पणो सोहग्गा पच्छादेदुम् । (युज्यत आत्मनः सौभाग्य प्रच्छादयितुम् ।)

विदू०—भोदि ! तुवरेहि से भोअणम् । पित्तोवसमणेन सुत्थो होदु । (भवति ! त्वरयस्वास्य भोजनम्, पित्तोपशमनेन स्वस्थो भवतु ।)

व्याख्या—निपु०—भट्टिणि स्वामिनि ! एतस्यैव भूर्जपत्रस्यान्वेषण मार्गण वर्तते ।

देवी०—एतत्तु अहमपि प्रेक्षे पश्यामि ।

विदू०—भो ! म्लायमाना मलिनीकृता केसराणा कुसुमकिञ्जल्कानां छवि: शोभा येन तेन म्लायमानकेसरच्छविना मयूरस्य पिच्छेन विप्रलब्धः वञ्चितः अस्मि । मयूरेण स्वपिच्छेन पत्रमपहृत भवेदित्याशङ्कते विदूषकः ।

राजा—अह मन्दभाग्य मन्द भाग्य यस्य स भाग्यहीनोऽह सर्वथा सर्वप्रकारेण हतो वञ्चित. अस्मि ।

देवी—सहसाऽऽकितमेव उपसृत्य समीपमागत्य वदति—आर्यपुत्र ! अलम् आवेगेन आवेगं परित्यज । 'अप्रयुज्यमानाऽपि क्रियाकारकविभक्तौ प्रयोजिका' इत्यनुसारेण अलयोगे तृतीया । एतदेव तद्भूर्जपत्र यद् भवताऽन्विष्यते ।

राजा—ससम्भ्रमम् सम्भ्रमेण सहित समयमित्यर्थ —अये कथ देवी उपस्थिता । 'सम्भ्रमः साध्वसेऽपि स्यादिति' कोष । देव्यै स्वागत निवेदयामि ।

देवी—राजानमुपहसन्ती कथयति–स्वागतमिति भवतो वचन न सार्थकम्–वस्तुतस्तु मेऽत्रागमन दुरागत, भवत पीडाजनकत्वादशुभमेव जातम् ।

राजा—(जनान्तिकम्–अन्यानपवार्य केवलो विदूषको यथा शृणोति

तथा कथयन्) वयस्य मित्र ! अत्र किं प्रतिविधानं कः प्रतीकारः । स्वरहस्य गोपायितुं मया किं कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

विदू०—(विदूषकोऽपि निभृतमेव वदति) लोप्त्रेण चोरितेन वस्तुना सूचितस्य विज्ञापितस्य कुम्भीरकस्य चोरस्य किं भवति किमपि प्रतिवचनम् प्रत्युत्तरम् । यथा चोरितेन वस्तुना सह गृहीतः चोरः चौर्यगोपनाय किमपि वक्तुमसमर्थो भवति तथा भवानपि भूर्जपत्रेण सह गृहीतः किमपि वक्तुमसमर्थ एव ।

राजा—औशीनरी चेटीं च परिहरन् विदूषकं कथयति सुगुप्तम्—मूर्ख ! अत्र परिहासस्य कालः उचितवेला नास्ति ।

ततो राज्ञीं दृष्ट्वा कथयति—नाहमिदं पत्रमन्विष्यामि । अहन्तु किञ्चिन्मन्त्रपत्रं राजकीयमन्त्रणासम्बन्धिपत्रं मार्गयामि । तदर्थमेव ममायमारम्भः प्रयासः ।

देवी०—युज्यते युक्तं भवति आत्मनः स्वीयं सौभाग्यं प्रणयित्वं प्रच्छादयितुं निगूहितुम् । आत्मनः सानुरागत्वगोपनाय एतादृक्कथनं समीचीनमेव ।

विदू०—भवति देवि ! अस्य राज्ञो भोजनमिष्टं वस्तु त्वरयस्व शीघ्र प्रदेहि । पित्तस्य वर्धितस्योष्मणः उपशमनेन शान्त्याऽयं स्वस्थः प्रकृतिस्थो भवतु । यथा क्षुधितस्य पित्तं वर्धते तेन स व्याकुलीभवति, भोजनेन पुनः पित्तं शाम्यति, तथैवायं पत्रस्य हृते व्यथितः । तच्छीघ्रं भूर्जपत्रप्रदानेन स्वस्थोऽयं भवत्या विधातव्य इत्याशयः ।

अनुवाद—निपु०—देवि ! इसी (भूर्जपत्र) की खोज की जा रही है ।

देवी—देख रही हूँ ।

विदू०—केसर की कान्ति को भी फीका कर देने वाले मोरपख ने मुझे पत्र से वंचित किया है । (मोर अपनी पूँछ से भूर्जपत्र को खींच ले गया होगा ।)

राजा—मैं अभागा तो सब तरह से मारा गया ।

देवी—(अचानक पास आकर) आर्यपुत्र ! घबराइये मत । यही है वह भूर्जपत्र ।

राजा (हड़बड़ाकर–मन म) अरे ! यह तो रानी है (स्पष्ट) देवी का स्वागत है ।

देवी––इस समय तो मेरा आना (स्वागत नही) दुरागत ही हो गया।

राजा––(एक ओर) मित्र ! अब क्या उपाय किया जाय ?

विदू०––(एक ओर) क्या चुराई हुई वस्तु के साथ पकडा गया चोर भी कोई उत्तर दे सकता है ?

राजा––(एक ओर) मूर्ख ! यह उपहास का समय नही है। (सबको सुनाकर) मैं यह पत्र नही ढूंढ रहा था। वह तो राजकीय मन्त्रणा का एक पत्र था जिसके लिए यह प्रयत्न चल रहा था।

देवी––अपना स्नेह-सौभाग्य छिपाना ही चाहिये ।

विदू०––देवि ! उसका भोजन शीघ्र ही दे दीजिये। पित्त की शान्ति स इस स्वस्थ हो जाने दीजिये ।

मूल पाठ––देवी––णिउणिए ! सोहण खु बह्मणेण आसासिदो वअस्सो। (निपुणिके ! शोभन खलु ब्राह्मणेनाश्वासितो वयस्य ।)

विदू०––ण पेक्ख ! आसासिदो वअस्सो चित्तभोअणेण। (ननु प्रेक्षस्व आश्वासितो वयस्यश्चित्रभोजनेन ।)

राजा––मूर्ख ! बलादपराधिन मामापादयसि ।

देवी––णत्थिभवदो अवराहो। अहं एव्व अवराद्धा जा पडिउल-दसणा भविअ अग्गदो चिट्ठामि। इदो गमिस्सम्। (नास्ति भवतोऽपराध । अहमेवापराद्धा या प्रतिकूलदर्शना भूत्वा अग्रतस्तिष्ठामि। इतो गमिष्यामि ।)

(इति कोप नाटयित्वा प्रस्थिता)

राजा––अपराधी नामाह प्रसीद रम्भोरु विरम सरम्भात्।
सेव्यो जनश्च कुपित क्व नु दासो निरपराध ॥२०॥
(इति पादयो पतति)

देवी—(आत्मगतम्) मा खु लहुहिअआ अणुणअं बहु मण्णे। किं दु दक्खिण्ण किदपच्छावदस्स भाएमि। (मा खलु लघुहृदया अनुनयं बहु मन्ये, किन्तु दाक्षिण्यकृतपश्चात्तापस्य बिभेमि।)

(इति राजानमपहाय सपरिवारा निष्क्रान्ता)

व्याख्या—देवी—निपुणिके ! शोभन सुष्ठु प्रकारेण विदूषकेन आत्मनः प्रियवयस्य, आश्वासितः सन्तोष प्रापितः।

विद्०—ननु इति अनुनये। प्रेक्षस्व पश्य। प्रियवयस्यः चित्रेण विलक्षणेन भोजनेन भोजनचर्चया आश्वासितः सन्तोषितः।

राजा—मूर्ख ! हठात् मा अपराधिन कृतागसमाप।दयसि करोषि।

देवी—क्रोधमिश्रया वाचा भणति—नास्ति कोऽपि भवतो दोष'। दोषस्तु ममैव। अपपूर्वकाद् राध् धातोः कर्तरि क्तः प्रत्यय.। या प्रतिकूलमनिष्ट दर्शन यस्या, सा एतादृशी भवतोऽग्रत, समुखे तिष्ठामि। पतिव्रतया सदा पत्युरनुकूलया चरितव्यम्। परमह भवदिच्छाविरुद्धमत्र तिष्ठामि। तेनापराधस्तु ममैव। (इत्युक्त्वा क्रोधभावस्याभिनय कुर्वन्ती प्रस्थिता गन्तुं प्रवृत्ता)

राजा—हे रम्भे कदलीस्तम्भौ इव उरू यस्या सा रम्भोरुस्तत्सम्बुद्धौ, प्रसीद प्रसन्ना भव। अहमेवापराधी। नामेत्यव्ययम्। सरम्भात् क्रोधाद् विरम। क्रोध परिहरेत्यर्थः। यदि सेवितु योग्यः सेव्यः स्वामी कुपितः अप्रसन्न, तदा दासः सेवकः निरपराधः दोषरहित. कथ स्यात्। दासेन सदा स्वामी प्रसन्नो द्रष्टव्यः। यदि स्वामी क्रुधस्तदा दासस्यैव दोषो निश्चेतव्यः। तेन क्रुद्धाया भवत्या ममैव दोष इति स्वीकार्यम्। इयमार्या जातिः।२०।

देवी—(आत्मगतम्) नाह लघु अस्थिर क्षुद्र वा हृदय यस्या. सा तादृशी अस्मि या कृत्रिममनुनय पादपतनादिक बहु मन्ये। किन्तु दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्य छन्दानुवर्तनरूप यन्मम दाक्षिण्यव्रत तज्जन्यो यः भावी पश्चात्तापोऽनुतापः तच्चिन्तयित्वा बिभेमि। यद्यपि मामनुनयो द्रावयति तथापि भाविन. पश्चात्तापाद् भीतास्मि।

(एव चिन्तयन्ती राजान तत्रैव स्थित परित्यज्य दासीसहिता निर्गता)

अनुवाद–देवी–निपुणिके ! ब्राह्मण (विदूषक) ने अपने मित्र को अच्छा आश्वासन दे दिया।

विदू०–जरा देखिये तो। मैंने मित्र के विलक्षण भोजन का आश्वासन दिया है।

राजा–मूर्ख ! तुम मुझे जबर्दस्ती अपराधी ठहरा रहे हो।

देवी—अपराध आपका नही है। अपराध मेरा है जो मैं इनके न चाहने पर भी इनके आगे खडी हूँ। यहाँ से चलूँगी। (कोप का अभिनय करके चलने लगती है)

राजा—अपराधी मैं हूँ। आप प्रसन्न हो जाइये। क्रोध छोड दीजिये। यदि स्वामी को क्रोध हो तो सेवक निरपराध कैसे माना जा सकता है ?

(पैरो पर गिरता है)

देवी—(मन मे) मैं इतनी ओछे हृदय की नही हूँ कि (बनावटी) खुशामद को बहुत कुछ मान लूँ किन्तु डरती हूँ कि मेरे दाक्षिण्य (अनुकूल आचरण के नियम) के कारण बाद मे मुझे पश्चात्ताप न हो।

(राजा को छोड कर नौकरानियो के साथ चली जाती है)

मूल पाठ—विदू०—पाउसणदी विअ अप्पसण्णा गदा देवी। णं उट्ठेहि। (प्रावृण्णदीवाऽप्रसन्ना गता देवी ननूत्तिष्ठ)

राजा—(उत्थाय) वयस्य ! नेदमुपपन्नम्। पश्य—

प्रियवचनकृतोऽपि योषिता
दयितजनानुनयो रसादृते।
प्रविशति हृदयं न तद्विदा
मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः ॥२१॥

विदू०—अणुऊल एव्व एद भअदो। ण हु अक्खिदुक्खिदस्स पमुहे दीवसिहा सहेदि। (अनुकूलमेवैतद् भवत। न खल्वक्षिदुःखितस्य प्रमुखे दीपशिखा सहते।)

राजा—मैवम्। उर्वशीगतमनसोऽपि मे देव्या स एव बहुमानः। किन्तु प्रणिपात-लङ्घनादहमस्या धैर्यमवलम्बयिष्ये।

विदू०—चिट्ठदु दाव धीरदा। बुभुक्खिदं बम्हणस्स जीविदं अवलम्बदु भवम्। समओ क्खु ण्हाणभोअणं सेविदुम्। (तिष्ठतु तावद् धीरता। बुभुक्षितब्राह्मणस्य जीवितमवलम्बतां भवान्। समयः खलु स्नानभोजने सेवितुम्।)

राजा—(ऊर्ध्वमवलोक्य) क्षयमर्धं गतं दिवसस्य। अतः खलु—

उष्णार्तः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्याशेरते षट्पदाः।
तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते॥२२॥

(इति निष्क्रान्तौ)

द्वितीयोऽङ्कः (समाप्तः)

रैफो लघुः गुरुश्च भवन्ति तथा द्वितीयचतुर्थपादयोः नगणजगणौ जगणरेफौ च सन्ति ।२१।

विदू०—एतत्तस्याः इतो गमनं भवतोऽनुकूलमिष्टमेव । न खलु अक्ष्णा दुःखितः चक्षूरोगपीडितः तस्य प्रमुखे समुखे दीपस्य शिखा ज्योतिः सहते सह्या भवति । यथा चक्षूरोगपीडिताया दीपशिखा कष्टदा तथैव सा तुभ्यं वर्तते ।

राजा—मैवम् एव न वाच्यम् । उर्वशी गतं मनो यस्य स तादृशस्यापि मे मम देव्यामौशीनर्यां स एव पूर्ववदेवापूर्वः बहुमान आदरः । किन्तु प्रणिपातस्य पादपतनादिना कृतप्रार्थनाया लङ्घनाद् अनादरादहं तस्या औशीनर्या विषये धैर्यमवलम्बिष्ये तस्या अप्रसादविषये सचिन्तो न भविष्यामि ।

विदू०—तिष्ठतु तावद् धीरता । तव नाम धीरता अस्तु । अहं तु बुभुक्षितो न धैर्यं धारयितुं शक्नोमि । बुभुक्षितस्य क्षुधितस्य ब्राह्मणस्य जीवितं भोजनमवलम्बता भवान् । इति उपहासः । समयः खलु स्नानं च भोजनं चेति स्नानभोजने तयो. सेवनस्य जातः । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति सेवधातो. तुमुन् ।

राजा—(ऊर्ध्वम् आकाशेऽविलोक्य) कथमर्धं गतं दिवसस्य । अतः खलु—

उष्णार्त इति—इद मध्याह्नकालस्य वर्णनम् । उष्णेन आर्तः पीडितः शिखी मयूरः तरोर्वृक्षस्य शिशिरे शीतले मूले कृतः आलवालो जलाधारस्तस्मिन् निषीदति उपविशति । अनेन दिने बलवान् उष्मा जात इत्यनुमीयते । षट्पदा भ्रमराः कर्णिकारपुष्पाणां मुकुलानि कलिका निर्भिद्य विदार्य आसेरते स्वपन्ति । उष्णत्वाद् भ्रमरा अपि निद्रां न लभन्ते इत्यभिप्रायः । कारण्डवः पक्षिविशेष स्तप्तं सूर्यातपादुष्णं वारि जलं विहाय त्यक्त्वा तीरस्था तटवर्तिनीं नलिनीं कमलिनीं सेवते । नलिन्याः शीतलत्वेन तत्र सुखं लभ्यते । एष क्लान्तः तृषया खिन्नः पञ्जरस्थः शुकः क्रीडार्थं वेश्म इति क्रीडावेश्म तस्मिन् लीलागृहे जलं याचते । मध्याह्ने तृषाऽधिकं बाधतेऽतएव जलं याचते । शिखा अस्ति यस्य स शिखी मयूरः । शिखा च मयूराणां शिरोवर्तिनी भवति ।

शिखी केकी' इत्यमरः । षट् पादाः येषां ते षट्पदाः भ्रमराः । अत्र च स्वभावोक्तिरलङ्कारः । अनेन अधुना विश्रामसमयः स्नानभोजनकालश्च समायातः अतोऽस्मात् स्थानाद् गन्तव्यमिति व्यज्यते ।२२।

इति निष्क्रान्तौ राजविदूषकौ रङ्गभूमितः प्रस्थितौ ।

इति द्वितीयोऽङ्कः

अनुवाद—विदू०—देवी तो पावस नदी की तरह, अप्रसन्न चली गयी। अब उठिये ।

राजा—(उठकर) मित्र, यह ठीक नहीं हुआ। देखो, प्रिय-जनों द्वारा मीठी-मीठी बातों से की हुई स्त्रियों की मनुहार, यदि उसकी योजना बनावटी प्रेम से की गयी हो तो, रस-शून्य होने के कारण बनावटीपन ताड़ लेने वाली स्त्रियों के मन पर इस प्रकार कोई प्रभाव नहीं डाल पाती जैसे कृत्रिम लाली से मिश्रित मणि मणिकार के मन को नहीं खींच पाती ।२१।

विदू०—आपके लिए तो यह अनुकूल ही हुआ। जिसकी आंख दुख रही हो उसे सामने की दीप-ज्योति सहन नहीं होती।

राजा—ऐसा न कहो । मन के उर्वशी में आसक्त होने पर भी देवी के लिए मेरे मन में वैसा ही आदर है । फिर भी मेरे अनुनय को अस्वीकार करने के कारण अब मैं उसके प्रति धैर्यभाव (चिन्ता न करना) का अवलम्बन करूँगा ।

विदू०—धीरता रहने दो। आप तो भूखे ब्राह्मण को जीवन देनेवाले भोजन का अवलम्बन कीजिये ।

राजा—(ऊपर देखकर) अरे दिन का आधा भाग बीत गया। यहः मोर गर्मी से व्यथित होकर वृक्ष के नीचे ठंडे आलवाल में बैठ रहा है। भौंरे कनेर की कलियों को फोड़कर उन पर सो रहे हैं। कारण्डव पक्षी गरम जल को छोड़कर किनारे की कमलिनी पर विश्राम कर रहा है और क्रीड़ागृह में यह थका-सा पिंजड़े का तोता जल माँग रहा है ।२२।

(चले जाते हैं)

यह दूसरा अंक समाप्त हुआ ।

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशतो भरतशिष्यौ]

प्रथमः—सखे पेलव ! अग्निशरणाद्गच्छता महेन्द्रमन्दिरमुपाध्यायेन त्वमासन ग्राहितः । अहमग्निशरणरक्षार्थं स्थापितः । ततः पृच्छामि गुरोः प्रयोगेण देवपरिषदाराधिता न वेति ।

द्वितीयः—गालव ! ण आणे कह आराधिना भोदि । तस्सिं उण सरस्सईकिदकव्वबन्धे लच्छीसअवरे उव्वसी तेसु तेसु रसन्तरेसु उम्माइआ आसि । किन्तु ·····(गालव ! न जाने कथमाराधिना भवति । तस्मिन् पुनः सरस्वतीकृतकाव्यबन्धे लक्ष्मीस्वयंवरे उर्वशी तेषु तेषु रसान्तरेषु उन्मादितासीत् । किन्तु······ ।)

प्रथमः—सदोषावकाश इव वाक्यशेषः ।

द्वितीयः—आम । ताए वअण पमादक्खलिदं आसि । (आम् । तस्या वचन प्रमादस्खलितमासीत् ।)

प्रथमः—किमिव ।

द्वितीय.—लच्छीभूमिआए वट्टमाणा उव्वसी वारुणीभूमिआए वट्टमाणए मेणआए पुच्छिदा । समागदा तेलोक्कपुरिसा सकेसवा लोअवाला । कदमस्सिं दे हिअआहिणीवेसो त्ति । (लक्ष्मीभूमिकया वर्तमाना उर्वशी वारुणीभूमिकया वर्तमानया मेनकया पृष्टा । समागताः त्रैलोक्यपुरुषाः सकेशवा लोकपालाः । कतमस्मिंस्ते हृदयाभिनिवेश इति ।)

प्रथमः—ततस्ततः ?

द्वितीयः—ताए पुरिसोत्तमेत्ति भणिदव्वे पुरूरवसि त्ति णिग्गदा वाणी । (तस्याः पुरुषोत्तम इति भणितव्ये पुरूरवसीति निर्गता वाणी ।)

व्याख्या :—इदानीं पेलव-गालवनाम्नो र्भरतशिष्ययोर्मुखाभ्यां राज्ञः उर्वशीवृत्तान्तमसूचनाय तृतीयाङ्कं प्रारम्भमाणः कविस्तयोः प्रवेशमाह—तत इति । ततः राज्ञो रङ्गभूमितो निर्गमनानन्तरं भरतमुनेः शिष्यौ रङ्गभूमिमवतरतः ।

प्रथम:—सखे पेलव अग्निशरणादग्निहोत्रगृहाद् महेन्द्रस्य मन्दिरमिन्द्रप्रासादं *गच्छता—गम् धातोः शतृप्रत्यये तृतीया विभक्तावेकवचने रूपम्।* उपाध्यायेन शिक्षकेण मुनिना भरतेन, उपेत्याधीयते यस्मात् स उपाध्यायः शिक्षकः तेन त्वमासन मृगचर्मासन ग्राहितः। यज्ञशालायाः इन्द्रभवन गच्छता गुरुणाऽऽसन तुभ्यं प्रदत्तम्। अहं यज्ञशालायाः रक्षार्थं इति रक्षार्थं नियुक्तः। ततः पृच्छामि गुरोः प्रयोगेण नाट्याभिनयेन देवाना परिषद् सभा आराधिता प्रीणिता न वेति। ग्राहित इति ग्रह् धातोर्णिचि क्तप्रत्ययः गौणे कर्मणि। तेन त्वमित्यत्र अभिहिते कर्मणि प्रथमा। 'शरण गृहरक्षित्रो'रिति विश्वकोषः।

द्वितीय:—न जाने कथमाराधिता। देवपरिषत्प्रीणिता नवेत्यहं न जाने। किन्तु तस्मिन् अभिनये सरस्वत्या कृतः काव्ये बन्धो यस्य तादृशि लक्ष्मी-स्वयवरे नाम काव्यमभिनयन्ती उर्वशी तेषु तेषु काव्येषु विद्यमानेषु रसान्तरेषु विविधेषु रसेषु उन्मादिता स्खलिता आसीत्। नाट्यप्रयोगे रसस्थले उर्वश्या प्रमादः कृत.। स्वय व्रियतेऽस्मिन्निति स्वयवरः।

प्रथम:—ते वाक्यशेषः अपूर्णं वाक्य दोषाय अवकाश इति दोषावकाशस्तेन सहितः। ते अपूर्णमिदं वाक्यमतो दोषयुक्तमस्तीति भावः।

द्वितीय:—आमिति निश्चये स्वीकारे वा। तस्या उर्वश्या वचन वाक् प्रमादेन स्खलित प्रमादजन्यत्रुटियुक्तमासीत्।

प्रथम:—किमिव केन कारणेन जात. स प्रमाद. ?

द्वितीय:—*लक्ष्म्याः भूमिकावेशः तया वर्तमाना लक्ष्मीवेश गृहीत्वाऽभि-*नय कुर्वन्ती उर्वशी वारुण्याः भूमिका तया वर्तमानया वारुण्या अभिनयं कुर्वन्त्या मेनकया पृष्टा—त्रयाणा लोकाना समाहारस्त्रिलोकी सा एव त्रैलोक्य तत्रगता. पुरुषा इति त्रैलोक्यपुरुषाः त्रिलोकीत्यत्र "अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियामिष्ट" इति स्त्रीत्वे ङीप्॥ केशवेन सहेति सकेशवा, लोकपालाः देवा इह समागताः। एषु कतमस्मिंस्ते हृदयस्य अभिनिवेशः सलग्नता। लक्ष्मीस्वयंवरे नाम नाटके उर्वशीमेनके पात्रविशेषौ। तयोरुर्वशी लक्ष्म्याः मेनका च वारुण्या वेशं परिगृह्य रङ्गभूमिमवतीर्णा। यदा लक्ष्म्याः स्वयवरार्थं सर्वे देवगणाः सम्मिलितास्तदा मेनकया (वारुण्या) उर्वशी (लक्ष्मीः) पृष्टा एतेषु सकलेषु त्वं कस्मिन्नेषु त्वं च परिणेतुमिच्छसीति।

प्रथम:—तस्ततः तदनन्तर किं जातमिति प्रश्न ।

द्वितीय.—तदा तया (उर्वश्या) भणितव्यमासीत्-पुरुषाणामुत्तमः पुरुषोत्तमो विष्णुरिति तस्मिन् । विष्णौ मे हृदयमासक्तमिति वक्तव्यमासीत् पर तस्या वाणी निर्गता पुरुरवसि इति–मे हृदय पुरुरवसि सज्जते इति । अयमेव उर्वश्याः प्रमादः ।

अनुवाद—प्रथम—मित्र पेलव ! यज्ञशाला से महेन्द्र के महल को जाते हुए गुरुदेव ने तुम्हें आसन पकड़ाया था और मुझे यज्ञशाला की देखरेख के लिये नियुक्त किया था । तो मैं पूछता हूँ कि क्या गुरुजी के नाटक से देवो की सभा प्रसन्न हुई ?

द्वितीय—मालूम नहीं कि प्रसन्न हुई या नहीं किन्तु सरस्वती द्वारा बनाये गये लक्ष्मीस्वयवर नामक काव्य के अभिनय में उर्वशी ने भिन्न-भिन्न रसों के अवसर पर भूल कर दी ।

प्रथम:—तुम्हारा वाक्य अपूर्ण होने के कारण दोषयुक्त है ।

द्वितीय:—हाँ, उसका वाक्य प्रमाद के कारण त्रुटियुक्त था।

प्रथम:—कैसे ?

द्वितीय:—लक्ष्मी की भूमिका में वर्तमान उर्वशी से वारुणी की भूमिका मे वर्तमान मेनका ने पूछा कि तीनों लोकों के पुरुष, लोकपाल तथा केशव आ गये हैं । इनमें से तुम्हारा हृदय किसे चाहता है ?

प्रथम:—फिर, फिर

द्वितीय—तब 'पुरुषोत्तम को' ऐसा कहना चाहिये था किन्तु उर्वशी के मुख से 'पुरुरवा को' ऐसा निकल गया ।

मूलपाठ—प्रथम.—भवितव्यतानुविधायीनि बुद्धीन्द्रियाणि । स तामभि-क्रुद्धो मुनिः ।

द्वितीय.—सत्ता उवज्झाएण । महिन्देण उण अणुग्गिहीदा । (शप्ता उपाध्यायेन । महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता ।)

प्रथम.—कथमिव ।

द्वितीय—जेण मम तुए उवदेसो लङ्घिदो तेण ण दे दिव्व ठाण हविस्सदि त्ति उवज्झायस्स सआसादो सावो । पुरन्देण उण लज्जावणदमुहि

उव्वसिं पेक्खिअ एव भणिदम्—'जस्सिं बद्धभावासि तुम, तस्स मे रणसहाअस्स राएसिणो पिअं करणिज्जं। ता दाव तुम, पुरूरवसं जहाकामं उवचिट्ठ जाव सो पडिदिट्ठसन्ताणो होदि त्ति। (येन मम त्वयोपदेशो लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य सकाशात् शापः। पुरन्दरेण पुनः लज्जावनतमुखीमुर्वशीं प्रेक्ष्यैवं भणितम्—यस्मिन्बद्धभावासि त्वं, तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियं करणीयम्। तत्तावत्त्वं पुरूरवसं यथाकाममुपतिष्ठस्व यावत्स परिदृष्टसन्तानो भवति—इति।)

प्रथमः—सदृशं पुरुषान्तरवेदिनो महेन्द्रस्य।

द्वितीयः—(सूर्यमवलोक्य) कथापसङ्गेण अवरद्धा अहिसेअ-वेला। ता उवज्झाअस्स पास्सवत्तिणो होम। (कथाप्रसङ्गेणापराद्धाभिषेकवेला। तदुपाध्यायस्य पार्श्ववर्तिनौ भवावः।)

(इति निष्क्रान्तौ)

विष्कम्भकः।

व्याख्या—प्रथमः—बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धिश्च इन्द्रियाणि च तानि बाह्यान्तःकरणानि भवितव्यतायाः भाविनः फलस्य अनुविदधतीति अनुविधायीनि अनुवर्तीनि। भाविनः फलमेवानुवर्तन्ते इन्द्रियाणि बुद्धिश्च। स मुनिर्भरतस्तामुर्वशीमभिक्रुद्धः कुपितः किम् ? 'अभिक्रुधोरुपसृष्टयोः कर्म'ति अभिपूर्वक्रुधधातोर्योगे द्वितीया।

द्वितीयः—उपाध्यायेन सा उर्वशी शप्ता। शप्धातोः क्तः कर्मणि। महेन्द्रेण पुनरनुगृहीता अनुपूर्वकाद् ग्रह् धातोः क्तः प्रत्ययः।

तावन्त काल त्व पुरुरवस नाम काम्यमान मम सुहृद काममनतिक्रम्येति यथाकाममिच्छानुकूलमुपतिष्ठस्व सेवस्व। 'उपाद्' इति उपपूर्वकस्य स्थाधातोरात्मने पदे प्रयोग। यावत् यावन्त काल स परिदृष्टसन्तानो येन स तादृशो न भवति। यावन्त काल स: त्वयि उत्पन्नाया सन्ततेर्मुख न पश्यति तावन्त काल त्व त यथेच्छ भजस्व इति।

प्रथम:—पुरुषाणामन्तर हृदय वेत्तीति पुरुषान्तरवेदी तस्य महेन्द्रस्य सदृशमनुरूपमेवेद वरप्रदानम्।

द्वितीय—(सूर्यमवलोक्य दृष्ट्वा कालपरिज्ञानाय) कथाया. प्रसङ्गस्तेन वार्ताक्रमेण अपराह्णातिक्रान्ता अभिषेकस्य गुरो. स्नानस्य वेला काल अत: उपाध्यायस्य गुरो: पार्श्ववर्तिनौ तदन्तिकस्थौ भवाव:।

(इति निष्क्रान्तौ रङ्गभूमितो निर्गतौ)

विष्कम्भ —एकस्याङ्कस्य समाप्तौ अन्यस्य च प्रारम्भे किञ्चिद् वस्तु रङ्गभूमौ प्रदर्शितव्य न भवति। तच्चोपक्षेपक द्वारा सूच्यते एव। उपक्षेपकाश्च पञ्चप्रकारा भवन्ति--विष्कम्भ, चूलिका, अङ्कास्यम्, अङ्कावतार:, प्रवेशकश्चेति। तत्र विष्कम्भको भूतभविष्यत्कथाशाना सक्षेपेण निदर्शको (सूचक:) भवति। सचाङ्कस्यादौ प्रयुज्यते। तदुक्त दशरूपके—

वृत्तवर्तिष्यमाणाना कथाशाना निदर्शक:।
सक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शित: ॥

अनुवाद—प्रथम—बुद्धि और इन्द्रियां भवितव्यता के अनुसार ही काम करती हैं। क्या मुनि उस पर क्रुद्ध हो गये?

द्वितीय—उपाध्याय ने शाप दे दिया किन्तु बाद में महेन्द्र ने कृपा कर दी।

प्रथम—कैसे?

द्वितीय—'तुमने मेरे शिक्षण का उल्लङ्घन किया इसलिये तुम्हारा वास स्वर्ग में नहीं होगा—' यह उपाध्याय से शाप मिला। "जिसमे तुम्हारा मन लगा हुआ है वह राजर्षि युद्ध में मेरा सहायक है। तुम उसका प्रिय करो। जब तक वह अपनी सन्तान को न देख ले तब तक तुम जैसे चाहो वैसे पुरुरवा के पास रहो।" ऐसा पुरन्दर ने उसे लज्जा से सिर झुकाये देखकर कहा।

प्रथम—यह बात पुरुषों के मन की बात जानने वाले इन्द्र के योग्य ही है।

द्वितीय—(सूर्य को देख कर) बातचीत करने मे गुरुजी के स्नान का समय चूक गया। तो चलो उपाध्याय जी के पास ही चलें।

(दोनो चले जाते हैं)

यह विष्कम्भक हुआ।

मूलपाठ—(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—सर्व. कल्पे वयसि यतते लब्धुमर्थान् कुटुम्बी,
पश्चात् पुत्रैरपहृतभरः कल्पते विश्रमाय।
अस्माकं तु प्रतिदिनमियं सादयन्ती प्रतिष्ठा
सेवा कारा परिणतिरभूत् स्त्रीषु कष्टोऽधिकारः॥१॥

(परिक्रम्य) आदिष्टोऽस्मि सनियमया काशिराजपुत्र्या–यथा—"व्रतसम्पादनाय मया मानमुत्सृज्य निपुणिकामुखेन पूर्वं याचितो महाराजः। तदेव मद्वचनाद्विज्ञापय" इति यावदहमवसितसन्ध्याकार्यं महाराजं पश्यामि।

(परिक्रम्यावलोक्य च)

रमणीयः खलु दिवसावसानवृत्तान्तो राजवेश्मनि—
उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसा बर्हिणो
धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः।
आचारप्रयत. सपुष्पबलिषु स्थानेषु चार्चिष्मतीः
सन्ध्यामङ्गलदीपिका विभजते शुद्धान्तवृद्धो जनः॥२॥

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) अये! इत एव प्रस्थितो देवः—
परिजनवनिताकरार्पिताभिः परिवृत एव विभाति दीपिकाभिः।
गिरिरिव गतिमानपक्षमादादनुतटपुष्पितकर्णिकारयष्टिः॥३॥
यावदेनमवलोकनमार्गस्थितः प्रतिपालयामि।

व्याख्या—ततः विष्कम्भानन्तर कञ्चुकी प्रविशति। कञ्चुकी राज्ञः शुद्धान्तचारी कार्याकार्यविवेचनदक्षः वृद्धो ब्राह्मणो भवति। यथोक्तं धनञ्जयेन—

अन्तःपुरचरो राज्ञां वृद्धो विप्रो गुणान्वितः ।
उक्तिप्रत्युक्तिकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

कञ्चुकी—पर्व इति—पर्वः कुटुम्बोऽस्यास्तीति कुटुम्बी गृहस्थः कल्पे परिच्छदपि कर्तुं समर्थे वयसि यौवन इत्यर्थः अर्थान् विषयान् पदार्थान् वा लब्धुं प्राप्तुं लब्धातोऽप्तुमुनि रूपम्। यतते उद्योग करोति। पश्चाद्वर्तने यौवने पुनः अपहृत गृहीतो नरः यत्र स तादृश विजनान्तरे कान्ते शान्ति प्राप्नोति। किन्तु अस्माकं तु प्रतिदिनं दिने दिने प्रतिष्ठा विश्रान्ति सादयन्ती विनाशयन्ती सेवा कञ्चुकिकार्याणि कारापरिणति कारायाः परिणतिः परिपाको यस्याः सा कारागाररूपा अभूत्। स्त्रीषु स्त्रीणां सम्बन्धी अधिकारः कार्यकरत्व कष्टः दुःखप्रदः।

अत्र भावार्थः—सर्वेजना तारुण्यावस्थायां जीवनोपयोगीनि वस्तूनि सञ्चिन्वन्ति। पुनः प्राप्ते वार्धके ते पुत्रेषु गार्हस्थ्यभारं निक्षिप्य शान्तिं लभन्ते। परमस्माकमियं सेवा वृद्धावस्थायामपि विश्रान्तिमप्रयच्छन्ती बन्धनरूपा सञ्जाता। स्त्रीणां सेवा सर्वथा कष्टकरी भवति। कल्पे इति कल्पू (सामर्थ्ये) धातो रूपम्। इदं मन्दाक्रान्ता वृत्तम्। तल्लक्षणं तु—मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ न तौ ताद् गुरू चेत्। यस्य छन्दसः चरणेषु मगणभगणौ नगणतगणौ तगणश्च गुरुद्वयं च भवति तन्मन्दाक्रान्ताछन्दः। अत्रान्तिमे चरणेऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥१॥ -

(परिक्रम्य)—नियमेन सहिता सनियमा तया व्रतवत्या काशिराजदुहित्रा राजमहिष्या आदिष्टोऽस्मि समाज्ञापितोऽस्मि। आङ्पूर्वकाद्दिश्धातोः क्त। मया व्रतस्य सम्पादनाय साधु समाप्त्यै मया मानमुत्सृज्य परित्यज्य निपुणिकामुखेन एतन्नाम्न्या दास्या मुखेन मया पूर्वमेव महाराजो याचितः प्रार्थितः। तमेवार्थं मद्वचनाद् विज्ञापय निवेदय। इति आदेशं गृहीत्वा अहम् अवनितं समाप्त सन्ध्याकार्यं सन्ध्याविधिं येन तथाविधं महाराजं पश्यामि। (परिक्रम्य इतस्ततो गत्वा अवलोक्य च)

रमणीय चेतोहरः खलु दिवसस्य अवसानं समाप्तिः तस्य वृत्तान्तः राजवेश्मनि राजप्रासादे सायंवेला राजभवनेषु विशेषेण मनोहारिणी भवति—

उत्कीर्णा—इवेति—वासाय यष्टय इति वासयष्टयस्तासु पक्षिणां वासार्थं निर्मितेषु वंशदण्डेषु निशाया या निद्रा तया अलसाः रात्री सन्द्रिताः बर्हिणो मयूराः उत्कीर्णाः पाषाणेषु खचिता इव भान्ति। उत्कीर्णा' पाषाणेषु खचिता इव भान्ति। बर्हाः सन्ति येषां ते बर्हिणो 'मयूरो बर्हिणो बर्हीत्यमरः। जालेभ्यो वातायनेभ्यो विनिःसृतास्तैः धूपैः सुगन्धिधूपैः वलभ्यः चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि वा सन्दिग्धाः शङ्किताः पारावताः यासु तादृश्यो दृश्यन्त इति शेषः। मयूराः निद्रावशात् वासयष्टिषु निश्चलाः सन्ति चन्द्रशालासु च प्रसरन्तो धूपाः कपोता इव दृश्यन्ते। आचारे नियमे प्रयतो लीनः पवित्रो वा शुद्धान्ते अन्तःपुरे वृद्धो जनः अन्तःपुरस्थाः वृद्धाः सेवकाः पुष्पैः वलिभिश्च सहितेषु स्थानेषु अर्चिष्मतीः ज्योतिर्मयीः सन्ध्यायां मङ्गलार्थं स्थापिताः दीपिका इति सन्ध्यामङ्गलदीपिकास्ता विभजते तत्र तत्र निवेशयति। पुष्पवलियुक्तेषु स्थानेषु अन्तःपुरसेवकाः दीपकान् स्थापयन्तीति भावः। अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः, शार्दूलविक्रीडित च छन्दः।२।

(नेपथ्यस्य अभिमुख दृष्ट्वा) अये इति विस्मये। इत एव प्रस्थितो देवः इहैवागच्छति देवः।

परिजनेति—एषः परिजनभूतः वनितास्तासां करेषु अर्पिताभिः परिचारिकास्त्रीहस्तस्थापिताभिः दीपिकाभिः परिवृतो वेष्टितो देवः पक्षाणां सादः कर्तनं तदभावः अपक्षसादस्तस्मात् पक्षच्छेदनात् प्राक् गतिमान् गमनशीलः तटस्य समीपे इत्यनुतट पुष्पिताः कुसुमयुक्ताः कर्णिकाराणां लताविशेषाणां यष्टयो यस्मिन् तादृशः तटपार्श्वकुसुमितकर्णिकारः गिरिः पर्वत इव विभाति शोभते। परिचारिकागृहीतदीपिकावृत्तो राजा सपुष्पकर्णिकारः जङ्गमो गिरिरिव दृश्यते।

पुरा हि पर्वताः सपक्षा आसन्। ते चेतस्ततः उड्डीयन्ते स्म। तेन च लोकानां महती हानिर्बभूव। ततः क्रुद्धो महेन्द्रस्तेषां पक्षानच्छिनत् इति पुराणप्रसिद्धिः। अत्र पूर्णोपमालङ्कारः। पुष्पिताग्रा च वृत्तम्। तल्लक्षणन्तु—'पुष्पिताग्रा नौयौ न्जौ ज्रौग्। अस्य प्रथमे तृतीये च पादे नकारौ रेफयकारौ च, द्वितीये चतुर्थे च पादे नकारजकारौ जकाररेफौ गकारश्च भवन्ति।३।

अनुवाद—(इसके पश्चात् कंचुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—हर गृहस्थ यौवन काल मे सासारिक वस्तुयें कमाने का प्रयत्न करता है और बाद मे गार्हस्थ्य का भार पुत्रों को सौंप कर विश्रान्ति प्राप्त करता है। किन्तु हमारा तो यह सेवाकार्य प्रतिदिन विश्रान्ति को नष्ट करता हुआ कारा (जेल) जैसा बन गया है। स्त्रियो की सेवा का कार्य बडा कष्ट-दायी होता है। (इधर-उधर टहलकर) व्रताचरण करने वाली काशिराज की पुत्री ने आदेश दिया है कि "मैंने व्रत पूरा करने के लिये मान का परित्याग कर निपुणिका द्वारा महाराज से प्रार्थना की थी। मेरी ओर से वही बात महाराज से कह दो।" इसलिये जब महाराज सन्ध्या-कार्य कर लें तो मैं उनसे मिलूं।

(इधर-उधर टहलकर और देख कर) राजमहल मे सन्ध्याकाल की हलचल मनोहर होती है। रात्रि की निद्रा के कारण बांसो से बने बसेरो पर सुस्त बैठे हुए मोर पत्थरो पर खुदे हुए से मालूम पडते हैं। झरोखों से निकल कर अटारियो पर जहां तहां जमा हुआ धुआं देख कर सन्देह होता है कि ये कबूतर हैं। अपने अपने काम मे व्यस्त रनिवास के कर्मचारी फूल और बलि चढाये हुए घर के स्थानो में अलग-अलग जलते हुए सान्ध्यकालीन मगलदीप रख रहे हैं।

(नेपथ्य के सामने देखकर) अरे ! स्वामी तो इधर ही आ रहे हैं—

कर्मचारिणी स्त्रियो द्वारा हाथ सयायी हुई दीपिकाओं से घिरे हुए ये ऐसे मालूम पड रहे हैं जैसे पख कटने से पहले किनारे-किनारे फूले हुए कनेर के पौदों से युक्त चलता-फिरता पर्वत हो।३।

मैं तब तक मार्ग मे दिखायी देनेवाले स्थान पर बैठकर प्रतीक्षा करूँ।

मूल पाठ—(तत प्रविशति यथानिर्दिष्टः सपरिवारो राजा विदूषकश्च)

राजा—(आत्मगतम्)

कार्यान्तरितोत्कण्ठं दिनं मया नीतमनतिकृच्छ्रेण।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या ॥४॥

कञ्चुकी—(उपगम्य।) जयतु जयतु देवः। देव! देवी विज्ञापयति—'मणिहर्म्यपृष्ठे सुदर्शनश्चन्द्रः। तत्र सन्निहितेन देवेन प्रतिपालयितुमिच्छामि यावद्रोहिणीसंयोगः' इति।

राजा—विज्ञाप्यता देवी यस्तवच्छन्द इति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्तः)

राजा—वयस्य! किं परमार्थत एव देव्या व्रतनिमित्तोऽयमारम्भः स्यात्?

विदू०—तक्केमि संजादपच्चादावा अत्तभोदी वदव्ववदेसेण तत्तभवदो पणिपादलंघणं पमज्जिदुकामा त्ति। (तर्कयामि संजातपश्चात्तापा अत्रभवती व्रतव्यपदेशेन तत्रभवतः प्रणिपातलङ्घनं प्रमाष्टुं कामेति।)

राजा—उपपन्नं भवानाह। तथाहि—

अवधूतप्रणिपाताः पश्चात् सन्तप्यमानमनसोऽपि।
निभृतैर्व्यपत्रपन्ते दयितानुशयैर्मनस्विन्यः॥५॥

तदादेशय मणिहर्म्यपृष्ठस्य मार्गम्।

वयस्या—(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः परिचारिकागृहीतदीपिकाग्नो राजाविदूषकश्च)

संयोगो भवति चन्द्रस्य तावत् प्रतिपालयितुमिच्छामि तत्रैव स्थातुमिच्छामि। रोहिणीति नक्षत्रनाम। सा दक्षस्य कन्या चन्द्रस्य पत्नीति च वर्ण्यते पौराणिकैः।

राजा—विज्ञाप्या निवेद्यता देवी यस्तव छन्दः इच्छा तथैव भविष्यति। नूनमह त्वया सह प्रतिपालयिष्यामि मणिहर्म्यपृष्ठे रोहिणीचन्द्रसंयोगो यावत्।

कञ्चुकी—यद् आज्ञापयति आदिशति देवो भवान्।

राजा—वयस्य मित्र किं परमार्थतः निश्चयेनैव देव्याः काशिराजपुत्र्याः अयमारम्भः प्रयासः कार्यं वा व्रतं निमित्तं कारणं यस्य तथाविधः व्रतव्यपदेशः एव स्यात्?

विदू०—तर्कयामि अहमनुमिनोमि यत् सजातः पश्चात्तापो यस्याः सा अत्रभवती देवी व्रतव्यपदेशेन व्रतव्याजेन तत्रभवतो देवस्य प्रणिपातस्य लङ्घनमनुनयावज्ञा प्रमाष्टुं कामयत इति प्रमाष्टुंकामा प्रक्षालयितुमिच्छति। त्वया इतमनुनय तिरस्कृत्य जातपश्चात्तापा साम्प्रत त दोष व्रतमिषेण दूरीकर्तुमिच्छति देवी।

राजा—उपपन्न युक्त भवानाह। तथाहि यतः—

अवधूतेति—प्रशस्त मनो यासा ता एवभूता मनस्विन्यो निपुणा नार्यः पूर्वं अवधूतः प्रणिपातो याभिस्तास्तिरस्कृतानुनयाः पश्चात् संतप्यमान पीड्यमान मनो यासा ता अपि निभृतैः सुगोपितैः दयितानुवृत्तिभिः अनुनयैः स्नेहारैः व्यपत्रपन्ते लज्जन्ते। स्वमपराध प्रमाष्टुं प्रयतन्ते च। "दीर्घद्वेषानुतापानुरूपे त्वनुशयः पुमान्" इति विश्वः। आर्याच्छन्दः।५।

तत् तेन मणिहर्म्यपृष्ठस्य मार्गम् आदेशय दर्शय।

अनुवाद—(इसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रकार से सपरिचर राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं)

कञ्चुकी—(पास आकर) महाराज की जय हो। देव! देवी ने निवेदन किया है कि मणिहर्म्य पर चन्द्रमा बड़ा सुन्दर लगता है। वहाँ आपके पास बैठ कर जब तक रोहिणी के पास रहे तब तक उसे देखना चाहती हूँ।

राजा—महारानी से कह दो, जैसी आपकी इच्छा।

कञ्चुकी—जो आपकी आज्ञा। (चला जाता है)

राजा—मित्र! क्या सचमुच ही देवी का यह कार्य व्रत के लिये है?

विदू०—मेरा अनुमान है कि महारानी को पश्चात्ताप हुआ है। अतः वे व्रत के बहाने प्रणिपात (मनाना) की अवज्ञा को धो डालना चाहती हैं।

राजा—आपने ठीक कहा। क्योंकि अनुनय का तिरस्कार करने के बाद मन में सन्तप्त होने पर भी स्वाभिमानिनी स्त्रियाँ छिपे-छिपे ही प्रिय की पीड़ा पर लजाती रहती हैं।५।

तो मणिहर्म्य की छत का मार्ग दिखलाओ।

मूलपाठ—विदूषकः—इदो इदो एदु भवम्। इमिणा गंगातरंगसिसिरेण फलिअमाणिसिलासोवाणेण आरोहदु भवं सव्वदा रमणीअं मणिहम्मपिट्ठअलम्। [इत इत एतु भवान्। अनेन गङ्गातरङ्गशिशिरेण स्फटिकमणिशिलासोपानेनारोहतु भवान्सर्वदा रमणीयं मणिहर्म्यपृष्ठतलम्।]

(राजा आरोहति। सर्वे सोपानारोहणं नाटयन्ति)

विदूषकः—(निरूप्य) पच्चसण्णेण चंदोदएण होदव्वम्। जह तिमिरेण अदिरेचीअमाणं पुव्वदिसामुहं आलोहिअप्पहं दीसदि। [प्रत्यासन्नेन चन्द्रोदयेन भवितव्यम्। यथा तिमिरेणातिरिच्यमानं पूर्वदिशामुखमालोहितप्रभं दृश्यते।]

राजा—सम्यग्भवान् मन्यते।

उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं प्रतिसारिते।
अलकसंयमनादिव लोचने हरति मे हरिवाहनदिङ्मुखम्।६।

विदूषकः—हीही भो, एसो खण्डमोदअसरिसो उदिदो राआ ओसधीणम्। [हीही भोः! एष खण्डमोदकसदृश उदितो राजा ओषधीनाम्।]

राजा—(सस्मितम् ।) सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः । (प्राञ्जलिः प्रणम्य) भगवन् ऋक्षराज !

रविमाविशते सता क्रियायै सुधया तर्पयते पितॄन् सुरांश्च ।
तमसा निशि मूर्च्छतां निहन्त्रे हरचूडानिहितात्मने नमस्ते ।७।

विदू०—भो बम्हण संकामिदक्खरेण दे पिदामहेण अब्भणुण्णादो सि । ता आसणगदो होहि जेण अहं वि सुहासीणो होमि । (भोः ब्राह्मण संक्रामिताक्षरेण ते पितामहेनाऽभ्यनुज्ञातोऽसि । तदासनगतो भव येनाहमपि सुखासीनो भवामि ।)

व्याख्या—विदू०—इत इतोऽनेन मार्गेण भवान् एतु आगच्छतु । अनेन समुत्सेधेन गङ्गायास्तरङ्गाल्हदैः तैः शीतलेन स्फटिकमणिशिलाना सोपानेन भवान् सर्वदा सर्वेषु ऋतुषु रमणीयं मनोहारि मणिहर्म्यस्य पृष्ठतलमुपरिभागमारोहतु ।

(राजा हर्म्यपृष्ठम् आरोहति । सर्वे सोपानैः आरोहणं नाटयन्ति)

विदू०—(निरूप्य दृष्ट्वा) चन्द्रस्योदयेन प्रत्यासन्नेन निकटवर्तिना भवितव्यम् । यथा तिमिरेण तमसा अतिरिच्यते इत्यतिरिच्यमान मुच्यमान पूर्वस्या दिशाया मुखम् आननम् आलोहिता रक्ता प्रभा कान्तिर्यस्य तादृशं दृश्यते ।

राजा—गम्यर् समीचीन भवान् मन्यते चिन्तयति ।

उदयेति—उदये उदयगिरौ गूढः अन्तर्हितः शशाङ्कश्चन्द्रः तस्य मरीचिभिः किरणैः तमसि अन्धकारे दूरतर सुदूर प्रतिसारिते निष्कासिते सति "यस्य च भावेन भावलक्षणमि"ति सप्तमी । हरिरश्वो वाहन यानसाधनं यस्य सः हरिवाहनः उह्यतेऽनेनेति वाहनम् । हरिवाहनस्य दिक् प्राची तस्या मुखम् अलकाना केशपाशैः संयमनादिव मे मम लोचने नेत्रे हरति आकर्षति ।

यथा केशानामपसारणात् कामिन्यामुखं चारुतरं दृश्यते तथैव तमसोऽपसारणात् प्राची दिक् मुखतरा प्रतिभातीति भावः । अलकसंयमनादिवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारः । द्रुतविलम्बित वृत्तम् । तल्लक्षण तु—द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।८।

विदू०—ही हीति आश्चर्ये। भोः एष खण्डस्य सितायास्तया निर्मिता मोदका इति खण्डमोदका' तैः सदृशः श्वेतवर्ण उदित उद्गतो राजा ओषधीनाम्। ओषो दीप्तिर्धीयते यनेति ओषधिः नक्षत्रम्। खण्डमोदकेत्युपमानेन विदूषकस्य भोजनप्रियत्व व्यज्यते।

राजा—(सस्मित स्मितेन सहित यथास्यात्तथा) सर्वत्र सर्वकालस्थानेषु उदरे प्रसित औदरिकः भोजनभट्टः, 'पेटू' इति भाषायाम्—'उदराट्ठगाद्यूने इति ठक् प्रत्ययः। अभ्यवहार्यं भोज्यमेव विषयः। अय सदा भोजनविषय एव चिन्तयति। (प्राञ्जलिः प्रगतः अञ्जलिर्यस्य तादृशः अञ्जलिं बद्ध्वा प्रणम्य) भगवन् ऋक्षाणा नक्षत्राणा राजा इति ऋक्षराजस्तत्सबुद्धौ—'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् प्रत्ययः।

रविमिति—सन्तीति सन्तस्तेषा सता भद्रजनाना श्रियायै दर्शपूर्णमासपितृयज्ञाद्यनुष्ठानाम् रविं सूर्यमाविशते प्रविशते, पितॄन् पितृदेवताः सुरान् देवाश्च सुधयाऽमृतेन तर्पयते प्रसादयते, निशिरात्रौ मूर्च्छन्तीति मूर्च्छन्तस्तेषा प्रसरता तमसामन्धकाराणा निहन्तीति निहन्ता तस्मै विनाशकाय, हरस्य शिवस्य चूडाया जटापाशे निहितः स्थापित आत्मा स्वरूपं येन तस्मै तुभ्य नमः। 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽल वषड्योगाच्च' इति चतुर्थी।

अमावास्याया समस्तकलाहीनोभूत्वा विधुः सूर्यं प्रविशति। यथोक्तमैतरेयब्राह्मणे—'चन्द्रमा वा अमावास्यायामादित्यमनुप्रविशति। सोऽन्तर्धीयते न निर्ज्ञायते" इति अमावास्याया दर्शाख्यो होमो विहितः।

हर्म्य की छत पर चढ़ चलिये। (राजा चढ़ता है। सब सीढ़ी चढ़ने का अभिनय करते हैं।)

विदू०—चन्द्रोदय होनेवाला ही है। अन्धकार से मुक्त होता हुआ प्राची का मुख सब ओर लाल-लाल दिखायी दे रहा है।

राजा—आप ठीक समझे। उदयाचल मे छिपे हुए चन्द्रमा की किरणो द्वारा अन्धकार के खूब दूर हटा दिये जाने पर प्राची दिशा का अग्रभाग ऐसा मनोहर लग रहा है जैसे बाल समेट लेने पर किसी सुन्दरी का मुख।६।

विदू०—ओहो! अरे खांड के लड्डू जैसा द्विजराज (चन्द्रमा) निकल आया!

राजा—पेटू की चर्चा-विषय हर जगह भोज्य वस्तु ही रहती है। (हाथ जोड़कर प्रणाम करके) भगवन् द्विजराज! तुम सत्पुरुषो की धार्मिक क्रियाओ के लिये सूर्य मे प्रवेश करते हो और फिर (बढकर) अपने अमृत से पितरो और देवताओ को तृप्ति प्रदान करते हो। तुम रात्रि मे फैलते हुए अन्धकार का नाश करते हो। हे शिव के जटाजूट मे स्थित चन्द्र! आप को प्रणाम है।।७।

विदू०—अरे, अरे! अपने शब्दो को ब्राह्मण के पास पहुँचा कर उसके द्वारा तुम्हारे पितामह (बाबा) ने तुम्हें अनुमति दे दी है। इसलिये आसन पर बैठो जिससे मैं भी आराम से बैठ जाऊँ।

मूल पाठ—राजा—(विदूषकवचनं परिगृह्योपविष्टः परिजनं विलोक्य) अभिव्यक्ताया चन्द्रिकाया किं दीपिकापौनरुक्त्येन। तद्विश्राम्यन्तु भवत्यः।

परिजनाः—जं देव आणवेदि। [यद्देव आज्ञापयति।]

(इति निष्क्रान्ताः।)

राजा--(चन्द्रमवलोक्य) वयस्य! परं मुहूर्तादागमनं देव्या.। तद्विविक्ते कथयामि स्वामवस्थाम्।

विदूषकः—भो, ण दीसदि एमा। किं दु ताए तारिस अणुराअं पेक्खिअ सक्क क्खु आसाबन्धेण अत्ताणअं धारिदुम्। [भो! न दृश्यते एषा। किं तु तस्यास्तादृशमनुरागं प्रेक्ष्य शक्य खल्वाशाबन्धेनात्मान धारयितुम्।]

राजा—एवमेतत्। बलवान् पुनर्मम मनसोऽभितापः।

नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासङ्कटस्खलितवेगः।
विघ्नितसमागमसुखो मनसि शयस्त्वनुगुणो भवति ।८।

विदू०—जहा परिहीअमाणेहिं अंगेहिं सोहसि तहा अच्छरेहिं समागमं दे पेक्खामि। (यथा परिहीयमाणैरङ्गैः शोभसे तथाऽप्सरोभिः समागमं ते प्रेक्षे।)

राजा—(निमित्तं सूचयन्) वचोभिराशाजननैर्भवानिव गुरुव्यथम्।
अयमास्पन्दितैर्बाहुराश्वासयति दक्षिणः ॥९॥

विदू०—ण क्खु अण्णहा बह्मणस्स वअणं भोदि। (न खल्वन्यथा ब्राह्मणस्य वचनं भवति।) राजा (सप्रत्याशस्तिष्ठति)

व्याख्या—राजा—(विदूषकस्य वचनमासनोपवेशनरूपं परिगृह्य स्वीकृत्य उपविष्टः परिजनं परितो वर्तमानान् परिचारकान् विलोक्य) अभिव्यक्तायां स्फुटं प्रसृतायां चन्द्रिकायां ज्योत्स्नायां दीपिकानां पुनरुक्तेः भावः कर्म वा पौनरुक्त्यं तेन द्विरावृत्त्या किम्। सत्यां स्फुटकौमुद्यां न दीपिकालोकेन किमपि प्रयोजनम्। तत्तेनकारणेन विश्राम्यन्तु विरमन्तु भवन्तो दास्यः।

परिजनः—यथथा देवो भवानाज्ञापयति। (इतिः निष्क्रान्तो निर्गतः)

राजा—(चन्द्रमवलोक्य) वयस्य मित्र! परं मुहूर्तात् क्षणान्तरे देव्या आगमनं भविष्यति। तत्तेन विविक्ते एकान्तस्थले स्वां अवस्थां विरहजन्यां कथयामि।

विदू०—भोः न दृश्यते एषा तव प्रियतमा। किन्तु तस्या उर्वश्यास्तादृशं गभीरं अनुरागं स्नेहं प्रेक्ष्यावलोक्य आशायाः बन्धस्तेन आशातन्तुना आत्मानं स्वं धारयितुं सान्त्वयितुं शक्यम्।

राजा—एवमेतत्। सत्यमेतद्यत् त्वयोच्यते। पुनस्तथापि मे मनसो विरहदग्धस्य चेतसोऽनुतापः पीडा बलवान् सातिशयः।

नद्या इति—विषमाः उच्चावचाः शिलास्तासां सङ्कटेन समूहेन स्खलितो वेगो यस्य सः विविधशिलोच्चयरुद्धवेगः नद्याः प्रवाह इव विघ्नितं समागमस्य सुखं यस्य स एवभूतो मनसि शेते इति मनसि शयः मनसिजः कामः तु अनुगुणोऽनुकूलः रागानुवर्ती भवति ।। अत्रोपमालङ्कारः। आर्याच्छन्दः।

विदू०—यथा परिहीयमाणैः परिहीयन्ते तैः क्षीयमाणैरपि अङ्गैः शोभते तथाऽप्सराभिरुर्वशीप्रमुखैस्ते समागम प्रेक्षे। शीघ्रमेव ते समागम उर्वश्या भविता।

अनुवाद—राजा—(विदूषक की बात मान कर बैठ गया—सेवकों को देखकर) छिटकी हुई चांदनी के रहते हुए दीपिकाओं की दोहरावट से क्या लाभ ? इसलिये आप लोग विश्राम करें।

परिजन—जो आप की आज्ञा। (चला जाता है)

राजा—(चन्द्रमा को देखकर) वयस्य ! किन्तु शीघ्र ही देवी आने वाली हैं। तो एकान्त मे अपनी अवस्था बतलाऊँगा।

विदू०—अरे ! वह (उर्वशी) तो दिखायी नही देती किन्तु उसका वैसा प्रेम देखकर आशापाश से अपने को सम्हाला जा सकता है।

राजा—यह तो ठीक है किन्तु मेरे मन की पीड़ा बलवती है।

ऊँची-नीची शिलाओं के समूह के द्वारा जिसका वेग रोक दिया गया है, ऐसे नदी के प्रवाह की तरह समागम के सुख मे विघ्न पडने पर कामदेव भी अनुराग की ओर और उन्मुख होता है।८।

विदू०—तुम अपने क्षीण होते हुए अङ्गो से सुन्दर दिख रहे हो। इससे मुझे मालूम होता है कि तुम्हारा अप्सराओ से समागम होगा।

राजा—(निमित्त सूचित करता हुआ) जिस प्रकार मेरे अत्यन्त व्यथित होने पर तुम आशा दिलाने वाले वाक्यो से आश्वासन देते हो उसी प्रकार यह दाहिना बाहु आस्पदनो (फडक) से मुझे धैर्य दे रहा है।९।

विदू०—ब्राह्मण की बात झूठी नही होती। (राजा आशा लगाये बैठता है)

मूल पाठ—(ततः प्रविशत्याकाशयानेन कृताभिसरणवेषा उर्वशी चित्रलेखा च।)

उर्वशी—(आत्मान विलोक्य) सहि रोअदि दे मे अअं मोत्ताहरण भूसिदो णील सुअ परिग्गहो अहिसारिआवेसो। (सखि ! रोचते ते मेऽय मुक्ताभरणभूषितो नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेषः।)

चित्रलेखा—णत्थि मे वाआविहवो पससिदुम् इद तु चितेमि । अवि णाम अह एव्व पुरूरवा भवेअत्ति । (नास्ति मे वाग्विभवः प्रशंसितुम् । इदं तु चिन्तयामि । अपि नामाहमेव पुरूरवा भवेयमिति ।)

उर्वशी—सहि ! असमत्था क्खु अहम् । तुम आणेहि त सिग्घम् । णेहि मं तस्स वा सुहअस्स वसदिम् । (सखि ! असमर्था खल्वहम् । त्वमानय त शीघ्रम् । नय मा तस्य वा सुभगस्य वसतिम् ।)

चित्रलेखा—ण पडिबिंबिअं विअ जामिणीजमुणाए केलाससिहरस-स्सिरीअं दे पिअदमस्स भवण उवगदम्ह । [ननु प्रतिबिम्बितमिव यामिनी-यमुनाया कैलासशिखरसश्रीक ते प्रियतमस्य भवनमुपगते स्वः ।]

उर्वशी—तेण हि प्पहावेण जाणाहि कहि सो मम हिअअचोरो किं वा अणुचिट्ठतिद त्ति । [तेन हि प्रभावेण जानीहि कुत्र स मे हृदयचोरः किं वानुतिष्ठतीति ।]

चित्रलेखा—(आत्मगतम् ।) भोदु । कीडिस्स दाव एदाए सह । (प्रकाशम्) हला, दिट्ठो मए उवहोगक्खमे अवआसे मणोरहलद्धं पिआस-मागमसुह अणुभव तो चिट्ठदि त्ति । [भवतु । क्रीडिष्ये तावदेतया सह । सखि ! दृष्टो मयोपभोगक्षमेऽवकाशे मनोरथलब्ध प्रियासमागमसुख-मनुभवंस्तिष्ठतीति ।]

उर्वशी—अवेहि । हिअअ मे ण पत्तीअदि । हला चित्तलेहे ! हिअए काउण किं वि जप्पमि । पिअसमागमस्स अग्गदो एव्व अणेण अवहरिद मे हिअअम् । (अपेहि हृदयं मे न प्रत्येति । सखि चित्रलेखे ! हृदये कृत्वा किमपि जल्पमि । प्रियसमागमस्याग्रत एवानेनापहृत मे हृदयम् ।)

चित्रलेखा—एसो मणिहम्मप्पासागदो वअस्समेत्त सहाओ । राएसी । ता उवसप्पम्ह । (एष मणिहर्म्यप्रासादगतो वयस्यमात्रसहायो राजर्षिः । तदुपसर्पाव. ।)

(उभे अवतरतः)

व्याख्या—उर्वशी—(आत्मानं विलोक्य दृष्ट्वा) सखि । रोचने ते मुग्ध मे अथ मुक्तानि आभरणानि यस्मिन् इति मुक्ताभरणः स चासौ भूषित इति मुक्ताभरणभूषित; अङ्गानां स्वभावसुन्दरतया परित्यक्तभूषणः अथवा

मुक्तानामाभरणानि तैर्भूषितः नीलांशुकस्य परिग्रहो धारणं यस्मिन् स तादृशो-ऽभिसारिकायाः वेषः। अभिसरतीत्यभिसारिका प्रच्छन्नरूपेण प्रियसमागमाय एकान्तप्रदेशं गच्छन्ती। कृष्णाभिसारिका रात्रौ तमोगूढाया नीलाम्बराणि परिधाय गच्छति येन तद्गमनमभिव्यक्तं न भवेत्। अतएव शुक्लानि भूषणानि त्यज्यन्ते। रोचते मे इत्यत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति चतुर्थी।

चित्र०—प्रशंसितुं ते शरीरस्य वेषवैभवं सुष्ठुतया वर्णयितुं मे वाचो विभवः ऐश्वर्यं नास्ति। नाहं ते इदं सौन्दर्यं वर्णयितुं क्षमा। इदं तु चिन्तयामि एवमहं कल्पनां करोमि यदहमेव पुरूरवाः तव प्रियतमो भवेयम्। ततोऽहं ते वेशसौष्ठवं परिशीलयेयम्।

उर्वशी—सखि! असमर्था विरहव्यथां सोढुमक्षमा खल्वहम्। अतः त्वं तं पुरूरवसं शीघ्रमानय। मां वा तस्य सुभगस्य सुन्दरस्य वसतिं निवासभूमिं नय प्रापय।

चित्र०—ननु प्रतिबिम्बितमिव प्रतिफलितमिव यामिन्या रात्रौ यमुना यस्या रात्रिस्यमुनाया कैलासस्य पर्वतस्य शिखरेण समाना श्रीः यस्य तत् कैलासशिखरसदृशशोभाशालि ते प्रियतमस्य पुरूरवसः भवनमुपगते प्राप्ते स्वः। प्रतिबिम्बितमिवेत्यत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः।

उर्वशी—तेन हि प्रभावेण अप्सरसां प्रभावविशेषेण जानीहि कुत्र कस्मिन् स्थाने स मे हृदयस्य चोरः हृदयापहर्ता प्रियतमो वर्तते किं वाऽनुतिष्ठति करोति।

चित्र०—(आत्मगतम्) भवतु अस्तु। क्रीडिष्ये उपहासं करिष्यामि तावदेतया सख्या सह। (प्रकाशम्) दृष्टो मया उपभोगाय क्षमा योग्य। तस्मिन् स्थाने मनोरथेन लब्ध कल्पनया प्राप्त प्रियायाः समागमस्य सुखं रतिसुख-मनुभवन्नास्तिष्ठति।

अत्रान्यनारीस्नेहमग्नं पुरूरवसं दर्शयन्ती चित्रलेखा उर्वशीमुपहसति।

उर्वशी—अपेहि अपसर दूरम्। मे हृदयं न प्रत्येति न विश्वसिति। मदीयमानमं प्रतीक्षमाणो मे प्रियोऽन्यनारीसमागमसुखमनुभवन्नास्तिष्ठतीति तव वचनं नाहं यथार्थं मन्ये। सखि चित्रलेखे हृदयं किमपि कृत्वा किमप्यद् हृदये निधाय त्वं परिहासेन जल्पसि। प्रियेण पुरूरवसा सह समागमस्य सम्मेलनस्य अथतः पूर्वमेव अनेन प्रियेण अरहून समाकृष्टं मे हृदयम्।

,चित्र०—एष मणिहर्म्यनाम्नि प्रासादे स्थितः वयस्य एवेति वयस्यमात्र सहायो यस्य स केवलविदूषकसहितो राजा चासौ ऋषिरिति राजर्षिः। अनेन तस्य एकान्तसेवित्व कामवशगत्व च सूच्यते। तत् अनेन कारणेन उपसर्पावः तत्र उपैवः। (उभे उर्वशीचित्रलेखे अवतरतः गगनाद् भूमिमवतरतः।)

राजा—वयस्य रजन्या सह विजृम्भते मदनबाधा।

मूल पाठ—उर्वशी—अणिब्भिण्णत्थेण इमिणा वअणेण आकम्पिदं मे हिअअम्। अन्तरिदा सुणुम्ह आलावम्। जाव णो संसअच्छेदो होदि। [अनिर्भिन्नार्थेनानेन वचनेनाकम्पित मे हृदयम्। अन्तरिते शृणुव आलापम्। यावदावयोः संशयच्छेदो भवति।]

चित्रलेखा—जं दे रोअदि। (यत्ते रोचते।)

विदूषकः—ण इमे अमिअगब्भा सेवीअंतु चदवादा। [नन्वेतेऽमृतगर्भाः सेव्यन्ता चन्द्रपादाः।]

राजा—वयस्य! एवमादिभिरनुपक्रम्योऽयमातङ्कः।

पश्य—

कुसुमशयनं न प्रत्यग्रं, न चन्द्रमरीचयो
न च मलयजं सर्वाङ्गीणं, न वा मणियष्टयः।
मनसिजरुजं सा वा दिव्या ममालमपोहितुम्
रहसि लघयेदारब्धा वा तदाश्रयिणी कथा।१०।

उर्वशी—हिअअ! जं दाणीं सि मं उज्झिअ इदो संकंतं तस्स फलं तुए उवलद्धं। [हृदय! यदिदानीमसि मामुज्झित्वा इतः संक्रान्त तस्य फलं त्वयोपलब्धम्।]

विदूषकः—आम। भो! अहं पि जदा जदा सिहरिणी रसालं अ ण लहे तदा तं एव्व चितयंतो आसादेमि सुहं। [आम। भो! अहमपि यदा शिखरिणी रसाल च न लभे तदा तदेव चिन्तयन् आसादयामि सुखम्।]

राजा—सम्पद्यते इदं भवतः।

विदू०—तुम वि तं अइरेण पाविहिसि। (त्वमपि तामचिरेण प्राप्स्यसि।)

राजा—सखे! एवं मन्ये।

चित्र०—सुणु असंतुट्ठे। (शृणु असंतुष्टे।)

राजा—इदं तस्या रथक्षोभादंसेनांसं निपीडितम्।

एकं कृति शरीरेऽस्मिन्, शेषमङ्गं भुवो भरः ॥११॥

व्याख्या राजा—रजन्या रात्र्या सह विजृम्भते प्रवर्धते मदनस्य कामस्य बाधा पीडा।

उर्वशी—अनिभिन्नः अस्फुटः अर्थः यस्य तादृशेन अनिभिन्नार्थेन अस्पष्टतात्पर्येण अनेन वचनेन राज्ञो वाक्येन आलम्बितं किञ्चित् क्षुब्धमिव मे हृदयम्। अन्तरितैर्भूत्वा अदृष्टे आत्मानौ कृत्वा अनयोः आलापं विस्रम्भचर्चां शृणुवः। यावद्येनावयोः सखयस्य स्नेहविषये सन्देहस्य छेदः उन्मूलं भवति।

चित्र०—यत् ते तुभ्यं रोचते प्रियं भवेत्।

विदू०—ननु एते अमृतं गर्भे येषां ते अमृतगर्भाः अमृतमयाश्चन्द्रपादाश्चन्द्रकिरणाः सेव्यन्ताम्। एते तावद् विरहसन्तापं शमयितुमलं भविष्यन्ति।

राजा—वयस्य मम आतङ्कः इयं पीडा एवमादिभिः तैः एवम्प्रकारैः अनुपशम्य उपशमितुं न शक्यः साध्यः। चन्द्रपादादिभिरुपचारैरियं पीडा शमयितुं न शक्यते। यस्य। कुसुमैः नि प्रत्यग्र नव सद्यो निर्मितं कुसुमानां शयनं पुष्पैरास्तृता शय्या न, चन्द्रस्य मरीचयः किरणाः न, सर्वाण्यङ्गानि व्याप्नोति इति सर्वाङ्गीणः सर्वत्र देहे लिप्तं मलयजं चन्दनं च न, मणीनां यष्टयो हारा वा न मम मनसिजरुजं कामपीडामपनेतुं दूरीकर्तुमलं पारयन्ति। सा वा दिवि भवा दिव्या अप्सराः मम मनसिजरुजमपनेतुमलं समर्था। अथवा रहसि एकान्ते आरब्धा कृतारम्भा तामाश्रयन्तीति तदाश्रयिणी नानाविधा प्रवर्तमाना कथा वा कामपीडां लघयेत् लघूकुर्यात्। "तत्करोति तदाचष्टे" इति सूत्रेण लघुशब्दात् करोत्यर्थे णिच् नामधातोर्विधिलिङि रूपम्। हरिणीवृत्तम्। तल्लक्षणं तु "हरिणी न्सौ म्रौ स्लौ गः" ... यस्य पादेषु नगण सगण मगण रगण सगणा लघु गुरु च भवन्ति। षड्भिश्चतुर्भिः सप्तभिश्च यतिर्भवति ॥१०॥

उर्वशी—हृदय ! यत् येन माम् उज्झित्वा परित्यज्य इत अस्मिन् पुरूरवसि सकाशात् सलग्नमसि तस्य फलमिदानी सम्प्रति त्वया उपलब्ध प्राप्तम्। प्राप्ता त्वयाऽपूर्वा प्रीति । उज्झित्वेति त्यागार्थकस्य ओहाक्धातो क्त्वाप्रत्यये रूपम । इत इति 'सार्वविभक्तिकस्तसिलिति सप्तम्यर्थे तसिल् ।

विदू०—आम् सत्य भो ! अहमपि यदा शिखरिणी मे तन्नामक स्वादु भोज्य रसाल पक्वमाम्र वा न लभे न प्राप्नोमि तदा शिखरिणीरसालादिक चिन्तयन्नेव सुख आसादयामि प्राप्नोमि। यथा स्वादिष्टभोज्यपदार्थाभावे तत्स्मरणेनैव मन सन्तोष्यते तथैव उर्वश्यभावे तत्कथया मनस्तुष्टिर्भविष्यति। शिखरिणी तु एलालवङ्गादिमिश्रितो दुग्धमय पक्वकदलीफलसाररूपो भोज्यपदार्थ ।

राजा—सम्पद्यते सुलभमिद भवत । भवता तु प्राप्यते भोज्य पर मत्प्रिया तु दुर्लभैव।

विदू०—त्वमपि तामुर्वशीमचिरेण शीघ्रमेव प्राप्स्यसि ।

राजा—सखे वयस्य ! अह तु एव मन्ये । एवमित्यस्य अग्रिमेण श्लोकेन सम्बन्ध ।

चित्र०—शृणु असन्तुष्टे ! उर्वशी दत्तावधाना करोति राज्ञोऽग्रिमामुक्ति श्रोतुम् ।

राजा—रथस्य क्षोभ उच्चावचप्रदेशेषु गमनेन दोलन तस्मात् कारणाद् असेन मदीयासेन निपीडित मर्दित तस्या एकमस स्कन्ध शरीरेऽक्वति सफल। शेषमङ्ग अन्यऽवयवा भुवोभर पृथिव्या भारस्वरूपमेव । अनुष्टुप् वृत्तम् ।११।

अनुवाद—**उर्वशी**—इस अस्पष्ट अर्थ वाली बात ने मेरा हृदय कँपा दिया है। छिपकर इन दोनों का वार्त्तालाप सुनें जिससे हम दोनों का सन्देह दूर हो जाय।

अप्सरा दूर कर सकती है या एकान्त मे प्रारम्भ की हुई उसके विषय की चर्चा इस पीडा को कम कर सकती है ।१०।

उर्वशी—हृदय ! तुम जो मुझे छोडकर इनके पास चले गये सो उसका फल तुम्हे मिल गया ।

विदू०—हाँ, तो मुझे भी जब शिखरिणी या पका आम नही मिलता तो उनका ध्यान करके सुख पा लेता हूँ ।

राजा—आपको तो वह (आम आदि) मिल जाता है ।

विदू०—तुम भी शीघ्र ही उसे पा लोगे ।

राजा—मैं ऐसा समझता हूँ कि—

चित्र०—अरी असन्तुष्टे ! सुन ।

राजा—रथ के हिलने डुलने से मेरा जो एक कन्धा उसके कन्धे से टकरा गया था वही सारे शरीर मे कृतकृत्य-हुआ । शेष अङ्ग तो पृथ्वी के भार हैं ।११।

मूल पाठ—उर्वशी०—किं दाणी अवरं विलंबिस्सं । (सहसोपगम्य) हला चित्तलेहे ! अग्गदो वि मए ट्ठिदाए उदासीणो महाराओ । [किमिदानीमपरं विलम्बिष्ये । (सहसोपगम्य) सखि चित्रलेखे ! अग्रतोऽपि मम स्थितायाः उदासीनो महाराजः ।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) अदितुवरिदे ! असंखित्ततिरक्खरिणी असि । [अतित्वरिते ! असंक्षिप्ततिरस्करिण्यसि ।]

(नेपथ्ये)

इदो इदो भट्टिणी । [इत इतो भट्टिनी ।]

(सर्वे कर्णं ददति । उर्वशी सख्या सह विषण्णा)

विदूषक.—अयि भो ! उवट्ठिदा देवी । ता सुमुद्दिदमुहो होहि । [अयि भो ! उपस्थिता देवी । तत्सुमुद्रितमुखो भव ।]

राजा—भवानपि संवृताकारमास्ताम् ।

उर्वशी—हला ! किं एत्थ करणिज्जं । (सखि ! किमत्र करणीयम्)

चित्र०—अलं आवेएण । अंतरिता दाणी सि तुमं । विहिदणिअमा एसा राअमहिसी दीसदि । ता एसा चिरं ण चिट्ठिस्सदि त्ति । (अलमा-

वेगेन। अन्तरितेदानीमसि त्वम्। विहितनियमवेपा राजमहिपी दृश्यते। सदेपा चिरं न स्थास्यतीति।)

(ततः प्रविशति घृतोपहारपरिजना देवी)

देवी—(चन्द्रमालोक्य) एसो रोहिणी जोएण अहिअं सोहदि भअव मिअलछणो। (एप रोहिणीयोगेनाधिक शोभते भगवान् मृगलान्छन.) (इति परिक्रामतः)

चेटी—ण संपज्जिस्सदि भट्टिणी सहिदस्स भट्टिणो विसेस रमणीअदा (नून संपत्स्यते भट्टिनी सहितस्य भर्तुर्विशेप रमणीयता।)

(इति परिक्रामतः।)

विदूषक—भो, ण जाणामि सोत्थिवाअणं वि देदि। आदु भवंत। अंतरेण चदव्वदव्वदेसेण मुक्करोसा अज्ज मे अक्खीण सुहदसणा देवी। [भो! ननु जानामि स्वस्तिवाचनमपि ददाति। उत भवन्तमन्तरेण चन्द्रव्रतव्यपदेशेन मुक्तरोषा अद्य मेऽक्ष्णोः सुखदर्शना देवी।]

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि घटते। तथापि भवता यत्पश्चादभिहित तन्मा प्रतिभाति।

यादत्रभवती—

सिताशुका मङ्गलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुरलाञ्छितालका।
व्रतापदेशोज्झितगर्ववृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते॥ १२॥

व्याख्या—उर्वशी—कि किमर्थमिदानी तत्समीप गन्तुमपरमधिक विलम्बिष्ये विलम्ब करिष्यामि। (सहसा उपगम्य समीप गत्वा) सखि चित्रलेखे! अग्रतः समुखेऽपि स्थिताया मम उदासीनोऽन्यत्तचित्तो महाराजः। 'स्थितायाः' इति अनादरे षष्ठी।

चित्र०—(सस्मितम्) अतित्वरिते अधैर्यवति! न सक्षिप्ता न सहृता तिरस्करिणी अलक्ष्यकारी प्रयोगः यया सा तादृशी असि। यतस्त्वया तिरस्करिणी न सहृता तेन महाराजस्त्वा द्रष्टुमक्षमोऽस्ति। (नेपथ्ये जवनिकान्तर्मार्गे) इत इतोऽनेन मार्गेण भट्टिनी स्वामिनी आगच्छतु। (सर्वे कर्णं ददति ध्यानपूर्वकं नेपथ्यवाच शृण्वन्ति। उर्वशी सख्या चित्रलेखया सह विपण्णा स्थिता तिष्ठति।)

विदू०—अयि भो ! उपस्थिता समागता देवी काशिराजदुहिता । तत् तस्मात् सुमुद्रित सवृत मुख येन स तथाविध मौनावलम्बी भव ।

राजा—भवानपि सवृत मुद्रित. आकारो यस्य सः आस्ता तिष्ठ । मौनी तिष्ठ ।

उर्वशी—सखि ! अत्र अस्या स्थितौ किं करणीय किं कर्तुमुचितम् ?

चित्र०—आवेगेन सभ्रान्त्या अलम् । मा अधीरा भव । इदानी त्वम् अन्तरिता अलक्ष्या असि । राजमहिषी देवी विहितो नियमस्य वेव उपवास समुचितो वेषो यया तादृशी दृश्यते तत् तेन कारणेनैषा चिर न स्थास्यति । शीघ्रमेव सा गमिष्यतीत्यतस्त्वयाऽधीरया न भाव्यम् । अदृश्या च पुनस्त्वमसि ।
(ततो धृतो गृहीत उपहारः पूजावस्तु येन तथाविध परिजनः सेवकः यस्याः सा देवी राजमहिषी प्रविशति)

देवी—(चन्द्रमालोक्य दृष्ट्वा) एषः उपरि दृश्यमानः रोहिणी-योगेन एतदाख्यनक्षत्रसम्बन्धेनाधिक शोभते राजते । रोहिणी चन्द्रप्रिया । मृगः लाञ्छन चिह्न यस्य सः चन्द्रः । चन्द्रे विद्यमान. कालिमा कविभिः मृगरूपेण वर्ण्यते ।

चेटी—नून निश्चयेन भट्टिन्या राजमहिष्या सहितस्य भर्तुः राज्ञो विशेषेण रमणीयता सातिशयसौन्दर्य संपत्स्यते जनिष्यते यथा रोहिण्या सम्बन्धेन चन्द्रोऽधिकतरा शोभते तथैव देव्याः योगेन राजाऽधिकतर शोभिष्यते । देवीचेट्या राज्ञोऽन्तिक गच्छत । अभिषिक्ता राज्ञी सामान्यजनैः सेवकैश्च भट्टिनीति भण्यते ।

विदू०—ननु इति वितर्के । भो न जानामि मा स्वस्तिवाचनमपि मह्योपहारमपि दास्यति इतिकारणेन उत अथवा भवन्तमन्तरेण भवन्तमुद्दिश्य चन्द्रव्रतस्य व्यपदेशेन व्याजन मुक्तस्त्यक्तो रोषः क्रोधो यया सा तादृशी सती अद्य मे नयनयोरक्ष्णोः मुख दर्शन यस्याः सा तादृशी देवी । सा मे भक्ष्य दित्सुरिति कारणेनाथवा त्वयि मुक्तरोषेति हेतोरद्य मे देवी विशेषेण सुदर्शना प्रतिभाति । स्वस्तिवाचन यज्ञव्रताद्यनन्तर ब्राह्मणेभ्यो दीयमानमुपहारादिकम् ।

राजा—(सस्मितम्) उभयमपि उभावपि वितर्कौ सङ्गच्छेते। तथापि भवता यत् पश्चादभिहित मुक्तरोषतेति तन्मा प्रतिभाति सत्य प्रतीयते। यदत्रभवती–सितांशुकेति—सितमशुक यस्या. सा धवलवस्त्रा मङ्गलमेवेति मङ्गलमात्र भूषण यस्या सा मङ्गलसूत्रमात्रमाभूषण धारयन्ती पवित्र यद् दूर्वायाः अङ्कुर तेन लाञ्छिता अलकाः केशा यस्या सा देवी व्रतस्य नियमोपवासस्य अपदेशेन व्याजेन उज्झिता त्यक्ता गर्ववृत्तिरादममानिता येन तथाविधेन वपुषा शरीरेण मयि मद्विषये प्रसन्ना हृष्टा लक्ष्यते प्रतीयते। वशस्थ वृत्तमिदम्। तल्लक्षणन्तु—वदन्ति वशस्थमिद जतौ जरौ।१२।

अनुवाद—उर्वशी—अब और विलम्ब क्यो करूँ। (सहसा पास जाकर) सखि चित्रलेखे! सामने होने पर भी महाराज मुझसे उदासीन हैं।

चित्र०—(मुस्कराती हुई) अत्यन्त अधीरे! तुमने तिरस्करिणी तो हटायी नही है। (नेपथ्य मे) मालकिन! इधर से, इस मार्ग से–

(सब कान लगाकर सुनते हैं। उर्वशी सखी के साथ खिन्न है।)

विदू०—अरे अरे! देवी आ पहुँची। इसलिये मुँह बन्द करके बैठिये।

राजा—आप भी चुपचाप बैठिये।

उर्वशी—सखि! अब क्या करूँ?

चित्र०—घबराओ मत। तुम इस समय अदृश्य हो। राजमहिषी व्रतोपवास का वेष धारण किये हैं। तो ये देर तक यहाँ नही ठहरेंगी।

(उपहार धारण किये हुए सेवको के साथ देवी प्रवेश करती हैं।)

देवी—(चन्द्र को देखकर) यह भगवान् चन्द्र रोहिणी के साथ और सुन्दर दिख रहे हैं।

(आगे चलती है)

चेरी—मालकिन के साथ स्वामी की सुन्दरता भी निश्चय ही अधिक हो जायगी।

(आगे बढते हैं)

विदू०—अरे! न जाने स्वस्तिवाचन (धार्मिक कार्य के बाद दी जाने वाली दान-दक्षिणा) देती हैं इसलिये अथवा आपके चन्द्र-व्रत करने के

बहाने क्रोध छोड दिया है इसलिये आज देवी मेरी आंखो को बडी सुदर्शना लग रही हैं।

राजा—(मुस्कराते हुए) दोनो बातें हो सकती हैं तो भी आपने बाद मे जो बात कही है वह मुझे जँचती है। क्योंकि श्रीमती श्वेत वस्त्र पहने हैं। भूपणो के नाम पर केवल मङ्गल सूत्र पहने हैं। दूव के पवित्र अङ्कुर केशो पर धारण किये हैं। व्रत के बहाने क्रोधीला स्वभाव छोड देने पर शरीर से मुझ पर प्रसन्न दिखायी दे रही हैं।१२

मूल पाठ—देवी—(उपगम्य) जेदु-जेदु महाराओ। (जयतु-जयतु महाराजः।)

परिजनः—जेदि-जेदि देवो। (जयति जयति देवः।)

विदू०—सोत्थि भोदीए। (स्वस्ति भवत्यै)

राजा—स्वागत देव्यै। (ता हस्तेन गृहीत्वोपवेशयति।)

उर्वशी—ट्ठाणे इअं वि देवीसद्देण उच्चारीअदि। णहि किं वि परिहीअदि सचीदो ओजस्सिदाए। (स्थाने इयमपि देवीशब्देनोच्चार्यते। न हि किमपि परिहीयते शचीतः ओजस्विताया: ।)

चित्रलेखा—साहु असूहापरंमुहं मतिद। [साधु असूयापराङ्मुखं मन्त्रितम्।]

देवी—अज्जउत्त पुरोकदुअ को वि वदविसेसो मए संपादणीओ। ता मुहुत्त उवरोधो सहीअदु।[आर्यपुत्रं पुरस्कृत्य कोऽपि व्रतविशेषो मया सम्पादनीयः। तन्मुहूर्तं उपरोधः सह्यताम्।]

राजा—मा मैवम्। अनुग्रहः खलु नोपरोधः।

विदूषकः—ईरिसो णं सोत्थिवाअणएहिं दे बहुमो उवरोधो होदु। [ईदृशो ननु स्वस्तिवाचनकैस्ते बहुशः उपरोधो भवतु।]

राजा—किनामधेयमेतद्देव्या व्रतम् ? (देवी निपुणिकामवलोकयति।)

निपु०—भट्टा ! पिअप्पसादण णाम। [भर्तः ! प्रियप्रसादनं नाम।]

राजा—(देवी विलोक्य) यद्येवम्--

अनेन कल्याणि मृणालकोमलं
व्रतेन गात्रं ग्लपयस्यकारणम् ।
प्रसादमाकाङ्क्षति यस्तवोत्सुकः
स किं त्वया दासजनः प्रसाद्यते ।१३।

व्याख्या—देवी—(उपगम्य समीप गत्वा) जयतु''' इति मङ्गलवाक्यम् ।

परि०—जयति-जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते देवो महाराजः ।

विदू०—स्वस्ति कल्याण भवतु भवत्यै देव्यै । 'नमःस्वस्ती'त्यादिना चतुर्थी ।

राजा—स्वागत देव्यै प्रसन्नाऽस्म्यह तवागमनेन । (हस्तेन गृहीत्वा तामासने उपवेशयति आसयति)

उर्वशी—स्थाने युक्तमेव यदिय देवीशब्देन उच्चार्यते अभिधीयते । स्थाने इत्यव्ययम् । न किमपि अस्याः परिहीयते न्यूनमस्ति शचीतः ओजस्वितायाः सौन्दर्यस्य तेजसो वा । नेय तेजस्वितायां शचीतः कथमपि न्यूना ।

चित्र०—साधु उचितमेव असूया स्पर्धा तस्याः पराङ्मुख प्रतिकूल-मीर्ष्याविरहित मन्त्रित चिन्तितम् । गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । सा च स्त्रीषु स्नेहविषये स्वाभाविकी एतेन उर्वश्या औदार्य दाक्षिण्य च व्यज्यते ।

देवी—आर्यपुत्र भवन्त पुरस्कृत्य उद्दिश्य कोपि व्रतविशेषो मया सम्पादनी-योऽनुष्ठेय तत्तस्मान्मुहूर्तं स्वल्पकाल यावद् उपरोधः मया कृतः प्रतिबन्धः सह्यताम् ।

राजा—मामेवम् नैव त्वया मन्तव्यम् । नायमुपरोधः प्रतिबन्धः प्रत्युत अनुग्रहोऽनुकम्पा एवायम् ।

विदू०—ईदृशः उपरोधो ननु निश्चयेन यदि स्वस्तिवाचनिकैः दानादिभि' सहितो भवति तद् बहुशो वार वार भवतु । एव विदूषको राज्ञा सानुनय भणति ।

राजा—किं नामधेय नाम यस्य तत् किन्नामकमेतद्देव्या व्रतम् (देवी निपुणिकामवलोकयति निरीक्षते उत्तरप्रदानाय ।)

निपु०—भर्तः स्वामिन् ! एतस्य व्रतस्य नाम प्रियप्रसादनमिति प्रियः प्रसाद्यतेऽनेनेति । यस्य व्रतस्याचरणेन प्रिय प्रसाद्यते तदेतद् व्रतम् । प्रपूर्वक सद् धातोर्ल्युट् ।

राजा—(देवीं विलोक्य तस्यां दृष्टिं निक्षिप्य) हे कल्याणि सुमङ्गले ! अनेन प्रियप्रसादननाम्ना व्रतेन त्व मृणालमिव कोमल कमलनालवत्सुकुमार तव गात्र अकारण ग्लपयसि क्षीण करोषि । यः दासजनः सेवकः उत्सुकः उत्कण्ठितो भूत्वा तव प्रसादमनुग्रहम् आकाङ्क्षति वाञ्छति स त्वया किं किमर्थं प्रसाद्यते । योजनस्तवानुग्रहेणैव जीवति तस्य प्रसादनाय मृणालसुकुमारस्य शरीरस्यलेपन नोचितम् ।

अनुवाद—देवी—(पास जा कर) जय हो, जय हो महाराज की !

परिजन—महाराज की जय है, जय है।

विदू०—आप का कल्याण हो ।

राजा—देवी का स्वागत है । (देवी को हाथ पकड कर बिठाता है ।)

उर्वशी—ठीक ही उसे भी देवी कहकर पुकारा जाता है। ओजस्विता मे शची से कुछ भी कम नही है।

चित्र०—तुमने बिना ईर्ष्या के ठीक ही सोचा ।

देवी—आप को लक्ष्य कर मुझे एक विशेष व्रतानुष्ठान करना है। इसलिये क्षणभर यह बन्धन सहन कर लीजिये ।

राजा—ऐसा न कहिये । यह अनुग्रह है, बन्धन नही ।

विदू०—स्वस्तिवाचनिक मिलते हों तो ऐसा बन्धन (रोक) बार-बार हो ।

राजा—देवी के इस व्रत का नाम क्या है ? (देवी निपुणिका को देखती है)

निपु०—स्वामिन् ! इस व्रत का नाम है, प्रियप्रसादन ।

राजा—(देवी को देखकर) यदि ऐसा है तो—

हे कल्याणि ! तुम इस व्रत से अपने मृणालवत् कोमल शरीर को व्यर्थ ही क्षीण बना रही हो । तुम से मिलने को उत्कण्ठित होकर जो तुम्हारी कृपा की कामना करता है उस दास को ही तुम क्या मना रही हो ।१३।

मूल पाठ—उर्वशी—(सवैलक्ष्यस्मितम्) महन्तो क्खु एदस्स इमिस्सि बहुमाणो। [महान् खल्वेतस्यैतस्या बहुमानः।]

चित्रलेखा—अइ मुद्धे! अण्णसंकन्तप्पेमाणो णाअरा भारिआए अहिअं दक्खिणा होंति। [अयि मुग्धे! अन्यसंक्रान्तप्रेमाणो नागरा भार्यायामधिकं दक्षिणाः भवन्ति।]

देवी—एदस्स वदस्स अअं पहावो ज एत्तिअं वददि अज्जउत्तो। [एतस्य व्रतस्याय प्रभावो यदेतावद् वदत्यार्यपुत्रः।]

विदूषक:—विरमदु भवं। ण जुत्तं दे सुहासिदं पच्चक्खिदुं। [विरमतु भवान्। न युक्तं ते सुभाषितं प्रत्याख्यातुम्।]

देवी—दारिआओ! आणेध ओवहारिअं जाव हम्मगदे चन्दपादे अच्चेमि। [दारिका! आनयतोपहारिकं यावद् हर्म्यगताश्चन्द्रपादानर्चयामि।]

परिजन.—जं देवी आणवेदि। एसो उवहारो। [यद्देवी आज्ञापयति। एष उपहारः।]

देवी—उवणेध (नाट्येन कुसुमादिभिश्चन्द्रपादानभ्यर्च्य) हञ्जे! इमेहिं उवहारेहिं मोदएहिं अ अज्जमाणअवं कचुइं अच्चेध। [उपनयत हञ्जे! एतैरुपहारैर्मोदकैश्च आर्यमाणवकं कञ्चुकिनं चार्चयत।]

परिजनः—जं देवी आणवेदि। अज्ज माणअ! एदं उववादिदं सोत्थिवाअणअं। [यद्देवी आज्ञापयति। आर्य माणवक! एतदुपपादितं स्वस्तिवाचनकम्।]

विदूषकः—(मोदकशरावं गृहीत्वा) सोत्थि भोदीए। बहुफलं एदं वदं होदु। [स्वस्ति भवत्यै। बहुफलं एतद्व्रतम् भवतु।]

चेटी—अज्ज कचुइ! इदं तुह। [आर्य कञ्चुकिन्! इदं तव।]

कञ्चुकी—(गृहीत्वा) स्वस्ति देव्यै।

देवी—अज्जउत्त! इदो दाव। (आर्यपुत्र! इतस्तावत्।)

राजा—अयमस्मि।

देवी—(राज्ञः पूजामभिनीय प्राञ्जलिः प्रणम्य च) एसा देवदामिहुणं रोहिणीमिअलछणं सक्खी करिअ अज्जउत्तं अणुप्पसादेमि।

अज्जप्पहुदि अज्जउत्तो जं इत्थिअं कामेदि, जा अज्जउत्त समागमप्पणइणी, ताए सह अप्पदिवंघेण वत्तिदव्वं (एषा देवतामिथुनं रोहिणी मृगलाञ्छन साक्षी कृत्यार्यपुत्रमनुप्रसादयामि। अद्य प्रभृति आर्यपुत्रो या स्त्रिय कामयते, याऽर्यपुत्रसमागमप्रणयिनी तया सहाप्रतिबन्धेन वर्तितव्यम् ।)

व्याख्या—उर्वशी—(वैलक्ष्येण स्मितेन च सहितम् आश्चर्येण स्मितेन च सह) अस्या राज्या राज्ञो महान् खलु बहुमानः समादरः ।

चित्र०—अयि मुग्धे सरलहृदये ! अन्यासु सक्रान्त प्रेम येषा तेऽन्यस्त्रा प्रेमपरायणा. नागरा चतुराः प्रणयिन. भार्यासु स्वकीयाया दक्षिणा अनुकूला भवन्ति ।

देवी०—एतस्य व्रतस्य प्रियप्रसादनस्य अय प्रभावः परिणामो यदार्यपुत्र एतावन्मधुर वदति ।

विदू०—विरमतु भवान् व्रतनिषेध न करोतु भवानिति राजान प्रति कथयति । ततो देवी प्रति सुभाषित राज्ञो मधुरभाषण प्रत्याख्यातु न युक्त नोचितम् । यथाकथञ्चिद्यत्तेन मधुरभाषण प्रारब्ध तत्तस्य प्रत्याख्यान न कर्तव्यमन्यथा तस्योत्साहभङ्गो भवेत् ।

देवी—दारिकाश्चेट्य. परिचारिका यूयम् औपहारिक उपहाररूपेण दातव्य वस्तुजातमुपनयत उपहरस यावदह हर्म्यगतान् प्रासादगतान् चन्द्रस्य पादान् किरणान् अर्चयामि पूजयिष्यामि । "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् ।

परि०—यद्देवी आज्ञापयति आदिशति । उपहारमानीय–एष उपहारः ।

देवी—उपनयत । (नाट्येन अभिनयद्वारा कुसुमादिभिः चन्द्रपादान् अभ्यर्च्य सपूज्य) एतैः उपहारैः मोदकैः मिष्टान्नेन च आर्यमाणवक विदूषक कञ्चुकिन च अर्चयत सम्भावयत। एते उपहारा मादकाश्च विदूषकाय कञ्चुकिने च प्रदेया ।

परि०—यद्देवी आज्ञापयति । आर्यमाणवक विदूषक ! एतत् ते उपपादित समर्पित स्वस्तिवाचनक मोदकोपहारम् आनीतवन्तः स्म ।

विदू०—(मोदकैः पूर्णं शराव पात्र गृहीत्वा) स्वस्ति भवत्यै कल्याण-मस्तु देव्या । बहु अधिक फल यस्य तादृग् व्रत भवतु भवत्याः ।

चेटी—आर्यकञ्चुकिन् ! इदमुपहारवस्तु तव त्वदर्यम् ।

कञ्चुकी—(गृहीत्वा स्वीकृत्योपहारम्) स्वस्ति देव्यै देव्या कल्याण-मस्तु ।

देवी—आर्यपुत्र ! इतस्तावत् । इत आगम्य मा सफला करोतु भवान ।

राजा—अयमस्मि—एष आगत ।

देवी—(राज्ञ पत्यु पूजामभिनीय नाट्येन सपूज्य राजान प्राञ्जलि-हस्तौ बद्ध्वा प्रणम्य) एषाहं देवतामिथुन देवयुगल रोहिणी च मृगलाञ्छन-श्चन्द्रश्च तन्मय साक्षीकृत्य साक्षिस्थाने नियुज्य आर्यपुत्र त्वामनुप्रसादयामि त्वा मयि प्रसन्न करोमि । आर्यपुत्र, अद्यप्रभृति अतः पर यां स्त्रिय कामयते अभिलषति या चार्यपुत्रेण समागमस्तस्य प्रणयिनी काङ्क्षिणी तया सह अप्रतिबन्धेन अविरुद्धतया अनुकूलतया वा मया वर्तितव्यम् । अहमार्यपुत्र-प्रणयिनी प्रति सस्नेह व्यवहरिष्यामि।

अनुवाद—उर्वशी—(साश्चर्य मुस्कराती हुई) इसके प्रति महाराज का बहुत सम्मान है।

चित्र०—अरे भोली ! अन्य स्त्री से प्रेम करने वाले चतुर प्रेमी अपनी पत्नी के प्रति अधिक अनुकूल हो जाते हैं।

देवी—इस व्रत का यह प्रभाव है कि आप इस तरह बात करते हैं।

विदू०—(राजन्) ठहरिये। (रानी से) मधुर भाषण की आलोचना ठीक नहीं।

देवी—चेटियो ! उपहार-द्रव्य लाओ। मैं महल पर चन्द्रकिरणों की पूजा करूंगी।

परिजन—जो देवी की आज्ञा। यह रहा उपहार।

देवी—लाओ। (अभिनयपूर्वक पुष्पादि से चन्द्रकिरणों की पूजा करके) अरी ! इन उपहारों और मोदकों से विदूषक और कञ्चुकी का सम्मान करो।

परिजन—जो देवी की आज्ञा। आर्यमाणवक ! यह तुम्हें समर्पित किया गया स्वस्तिवाचनिक है।

विदू०—(मोदक-पात्र लेकर) आप (देवी) का कल्याण हो। इस व्रत का खूब सफल हो।

चेटी—आर्य कन्चुकिन् ! यह तुम्हारा उपहार है।

कन्चुकी—(लेकर) कल्याण हो देवी का।

देवी—आर्यपुत्र ! इधर आइये।

राजा—यह आया।

देवी—(राजा की पूजा अभिनय करके और हाथ जोडे प्रणाम करके) रोहिणी और चन्द्र की देवता-जोडी को, साक्षी करके मैं आर्यपुत्र को प्रसन्न करती हूँ। आज से लेकर आर्यपुत्र जिस स्त्री की कामना करेंगे या जो स्त्री आर्यपुत्र से समागम की कामना करेगी उसके साथ मैं अच्छा व्यवहार करूँगी।

मूल पाठ—उर्वशी—अम्महे। ण आणामि किपर से वअणम्। मम उण विस्सासविसद हिअअ सवुत्तम् (अम्महे ! न जानामि किं परमस्या वचनम्। मम पुर्नविश्वासविशद हृदय मवृत्तम्।)

चित्र०—सहि महाणुभावाए पदिव्वाए अब्भणुण्णादो अणं तराओ दे पिअसमागमो भविस्सदि। (सखि ! महानुभावया पतिव्रतयाऽम्यनुज्ञातोऽनन्तरायस्ते प्रियसमागमो भविष्यति।)

विदू०—(अपवार्य) छिन्नहत्थो पुरदो वज्झे पलाइदे भणादि "गच्छ धम्मो भविस्सदि"त्ति। (प्रकाशम्) भोदि। किं-तारिसे पिओ तत्तभव ? [छिन्नहस्तः पुरतो वध्ये पलायिते भगति "गच्छ धर्मो भविष्यती"ति। भवति ! किं तादृश प्रियः तत्रभवान् ?]

देवी—मूढ ! अह गु अत्तणो सुहावसाणेण अज्जउत्तस्स सुह इच्छामि। एत्तिएण चिन्तेहि दाव पिओ ण वेत्ति। [मूर्ख ! अहं खलु आत्मनः सुखावसानेनार्यपुत्रस्य सुख इच्छामि। एतावता चिन्तय तावत्प्रियो न वेति।]

राजा—दातुमसहने प्रभवस्यन्यस्यै, कर्तुमेव वा दासम्।
नाहं पुनस्तथा त्वयि, यथा हि मां शङ्कसे भीरु ॥१४॥

देवी—भोदु मा वा। जधाणिद्दिट्ठं सपादिदं पिअप्पसादणं व्वदम्। आअच्छध परिजणा, गच्छम्ह। [भवतु मा वा। यथानिर्दिष्टं सम्पादितं प्रियप्रसादनं व्रतम्। आगच्छत परिजनाः, गच्छामः।]

राजा—प्रिये! न खलु प्रसादितोऽस्मि यदि सम्प्रति विहाय गम्यते।

देवी—अज्जउत्त! ण लघिदपुव्वो सपदं णिअमो। (इति सपरिजना निष्क्रान्ता) [आर्यपुत्र! न लङ्घितपूर्वः साम्प्रतं नियमः।]

उर्वशी—हला! पिअकलत्तो राएसी। न उण हिअअं णिवत्तेदुं सक्कणोमि। [सखि! प्रियकलत्रो राजर्षिः। न पुनर्हृदयं निवर्तयितुं शक्नोमि।]

चित्रलेखा—कध त्थिरासो णिवत्तीअदि! [कथं स्थिराशो निवर्त्यते!]

राजा—(आसनमुपसृत्य) वयस्य! न खलु दूरं गता देवी।

व्याख्या—उर्वशी—अम्महे इत्याश्चर्यबोधनार्थकम्। न जानामि किं पर किमर्थंमस्या वचनमिदं कथनम्। न जाने मामुद्दिश्य तयेदं कथितं किं वा कामप्यन्यां किन्तु मे हृदयं पुनः विश्वासेन विषाद प्रसन्नं संवृत्तं जातम्। न सा राज्ञा काम्यमाना मामपि प्रति अहिताचरणं करिष्यतीति वचन-श्रवणेन प्रसन्नं मे मनो जातम्।

चित्र०—सखि! महान् अनुभावः प्रभावो यस्याः सा तया प्रभाववत्या पतिव्रतया पतिपरायणया महिष्या अभ्यनुज्ञातः अनुमतः अकृतविघ्नः ते प्रियेण समागमः नास्ति अन्तरायो विघ्नो यस्मिन्निति अनन्तरायो निर्विघ्नो भविष्यति। न ते प्रियसमागमे काचिद् बाधा साम्प्रतमवशिष्यते। अभ्यनुज्ञात इति अभि + अनु + ज्ञा + क्तः।

विदू०—(अपवार्य अन्यैर्यथा श्रूयते तथा। अपवार्यलक्षणन्तु—"रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाशितम्!") पुरतः समुपलभ्य हन्त यास्यं बध्ये मत्स्य पलायित आलाविगांश पुनर्जले प्रविष्टे छिन्ना निष्फलो गोपीभूतो वा दासो दास इवः कृपाभूतधीवरः धीवरः रवगवोत्तलमनुद्घाटयन् धामिव इव

भणति "मया मुक्तस्त्वं यथेच्छ विहर। धर्मो मे भविष्यती"ति। यथा कश्चित् स्वीयाया हानौऽनिर्वार्यामात्मानं सन्तोषयति तथैव राज्ञ्या इदमौदार्यप्रकाशन-मिति विदूषकः सोपहास भणति। (प्रकाशम्) भवति देवि! किं तत्र भवान् राजा तव तादृशः प्रियो येन तदर्थं तादृशमपमान सहमाना स्वद्वेष्यायामपि तत्प्रियायामनुकूलमाचरितुं प्रवृत्ता तत्रभवती ?

देवी—मूर्ख! एतादृशो मे प्रियस्तव वयस्यो येनाह आत्मनः स्वीयस्य सुखस्य अवसानेन विनाशेनापि आर्यपुत्रस्य पत्युः सुखमिच्छामि कामये। एतावता अनेन मम व्यवहारेण त्वमेव चिन्तय विचारय तावत् यत्स मे प्रियो न वेति। अनेन राज्ञ्या धीरस्वभाववत्व पतिपरायणत्वं च गम्यते।

राजा—न सहते इत्येव शीलाऽसहना तत्सम्बुद्धौ हे असहने त्व मा अन्यस्यै कस्यैचित् स्त्रियै दातु स्वस्य वा दास सेवक कर्तुं प्रभवसि। समर्थे। अह पुन-स्त्वयि तथा न यथा हे भीरु भयशीले! त्वा मा शङ्कसे। नाहमन्यनारीसक्त प्रत्युत त्वत्सेवनपर एव। त्वमद्यापि मयि प्रभवसि। आर्याच्छन्दः।१४।

देवी—भवतु मा वा त्वमन्यस्या सक्तः स्याः न वा। मया यथानिर्दिष्टं निर्दिष्टमनतिक्रम्येत्यव्ययीभावः। यथोक्त प्रियप्रसादन पतिपरितोषक व्रत सपादित साधु अनुष्ठितम्। परिजनाः परिचारकाः! आगच्छत। कार्यस्य अवशिष्टत्वाद् वय गच्छामः। वनंमालसामीप्ये भविष्यति लट्।

राजा—प्रिये! यदि सम्प्रति सद्य एव विहाय मामेकाकिन परित्यज्य गच्छसि तर्हि अहं न प्रसादितः न प्रसन्नीकृतोऽस्मि। न मामत्र परित्यज्य त्वया गन्तव्यमिति राजोक्तिस्तु चाटुकारितेव। वस्तुतस्तु तद्गमनमेव राज्ञोऽभि-प्रेतम्।

देवी—आर्यपुत्र! साम्प्रतमिदानीं यावत मे नियमो व्रत पूर्वं लङ्घित इति लङ्घितपूर्वो न। अद्यावधि मे व्रत कदाचिदपि उल्लङ्घन न जातमतोऽहं नात्र स्थित्वा तस्मिन् विघ्नमुत्पादयिष्यामि। ममात्रावस्थान तवाप्रियमेव भविष्यति। तेनच व्रतभङ्गो भवेदिति प्रच्छन्नो भावः।

उर्वशी—भवि राजर्षिः पुरूरवाः प्रिय कलत्र यस्य स प्रियकलत्र प्रियपत्नी कोऽस्ति। न पुन तथापि न हृदय मम चित्तमस्मान्निवर्तयितुं परावर्तयितुं शक्नोमि।

चित्र०—स्थिरा आशा यस्य स स्थिर प्रणय प्रसरो जन कथ केन प्रकारेण निवर्त्यते ।

अनुवाद—उर्वशी—ओह ! न जाने किसके विषय म इसने यह बात कहा है। फिर भी मेरा मन विश्वस्त हो जाने से प्रसन्न हुआ है।

चित्र०—सखि ! महानुभावा पतिव्रता के द्वारा स्वीकृति मिल जाने से अब तुम्हारा प्रिय मिलन निर्विघ्न होगा।

विदू०—(औरो को बचा कर) हाथ खाली जाने से सामने ही शिकार के भाग जाने पर जैसे कोई कहे जाओ, धर्म होगा" (स्पष्ट) श्रीमति ! क्या महाराज आप को इतने प्यारे है ?

देवी—मूर्ख ! मैं अपने सुख का अ त करके आर्यपुत्र का सुख चाहती हूँ। इतने से सोच लो कि प्रिय हैं या नही।

राजा—अरे असहने ! चाहे तुम मुझे किसी दूसरी स्त्री को सौंप दो या अपना दास बना कर रखो। किन्तु हे भीरु ! मैं तुम्हारे प्रति वैसा नही हूँ जैसा तुम मुझे समझती हो।१४।

देवी—हो या न हो। मैंने तो यथोक्त विधि से प्रियप्रसादन व्रत पूरा कर लिया है।

राजा—यदि आप अभी मुझे छोड कर जाती हैं तो मुझे प्रसन्न नही कर सकी।

देवी—आर्यपुत्र ! मेरा व्रत पहले कभी भङ्ग नहीं हुआ। (परिजनो के साथ चली जाती है।)

उर्वशी—सखि ! राजर्षि को पत्नी प्यारी है। फिर भी मैं अपना मन फेर नही पाती।

चित्र०—निश्चित आशा होने पर कैसे लौटाया जा सकता है ?

मूल पाठ—राजा—(आसनमुपसृत्य) वयस्य खलु दूर गता देवी।

विदू०—भण वीसद्धो ज सि वत्तुकामो। असज्झो त्ति परिच्छि दिअ आदुरो विअ वेज्जेण अइरेण मुक्को तत्तभव भोदीए। (भण विश्रब्धो यदसि वक्तुकामोऽसाध्य इति परिच्छिद्य आतुर इव वैद्येनाचिरेण मुक्तस्तत्रभवान् भवत्या।

राजा—अपि नाम सा उर्वशी—

उर्वशी—(आत्मगतम्) किदत्था भवे। (कृतार्था भवेत्।)

राजा—गूढं नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्त श्रुतौ पातयेत्,
पश्चादेत्य शनैः करोत्पलवृते कुर्वीत वा लोचने।
हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बलात्,
आनीयेत पदात्पद चतुरया सख्या ममोपान्तिकम् ।१२।

चित्र०—हला उव्वसि ! इमं दाव से मणोरहं संपादेहि। (सखि उर्वशि ! इम तावदस्य मनोरथं सम्पादय।)

उर्वशी—(ससाध्वसम्) कीडिस्सं दाव। (क्रीडिष्यं तावत्।)

(इति पृष्ठेनागत्य राज्ञो लोचने सवृणोति।)

(चित्रलेखा विदूषकं संज्ञा लम्भयति।)

राजा—(स्पर्शं रूपयित्वा) सखे ! न खलु नारायणोरुसम्भवा वरोरूः।

विदूषकः—कथं भवं अवगच्छदि ? [कथं भवानवगच्छति ?]

राजा—किमत्र ज्ञेयम्—

राजा—

अन्यत्कथमिव पुलकं कलितं मम गात्रकं करस्पर्शात्।
नोच्छ्वसिति तपनकिरणैश्चन्द्रस्येवांशुभिः कुमुदम् ॥१३॥

व्याख्या—राजा—वयस्य मित्र ! देवी खलु दूर न गता भवेत्। अनेन राजा किञ्चित् तयाऽश्राव्य वक्तुकाम. प्रतिभाति।

विदू०—राज्ञो भाव ज्ञात्वा वदति-यत्किञ्चित् वक्तु कामयते इति वक्तुकामो विवदिषु रसि तद् विश्रब्ध विश्वासपूर्वक भण। सुगोपनीयमपि भणित राज्ञी न श्रोष्यति। असाध्योऽचिकित्स्य इति परिच्छिद्य मत्वा वैद्येन चिकित्सकेन आतुरो रोगीव भवत्या महिष्या भवान् मुक्तः परित्यक्तः। यथा वैद्यो रोगिण-मसाध्य मत्वा त परित्यज्य गच्छति तथैव महिषी ते कामरोगमसाध्य मत्वा त्वा परित्यज्य अचिरेण शीघ्रमेव गता।

राजा—अपि नाम सा उर्वशी—उर्वशीविरहसन्तप्तो राजा तामेव ध्यायति।

उर्वशी—(आत्मगत स्वमनसि चिन्तयति) अपि नाम उर्वशी कृतार्था भवेत्। यदि भवान् मामेव स्मरति तर्हि कृतार्थाऽह् जायेय।

राजा—वाक्य पूरयन् वदति—गूढमिति—अपि इति सभावनायाम्। नाम उर्वशी गूढ गुप्तरूपेण मे मम श्रुतौ कर्णे कान्त मनोहर नूपुरस्य शब्दम् एवेति नूपुरशब्दमात्रमपि पातयेत्। सा नूपुरशिञ्जितेनापि मयि कृपा विदध्यात्। अथवा शनै पश्चात् पृष्ठत. एत्यागत्य लोचने मे नेत्रे करौ उत्पले इवेति करोत्पले ताभ्या वृते करकमलसवृते कुर्वीत। अथवा अस्मिन् हर्म्ये प्रासादे अवतीर्य साध्वसवशाद् भयेन मन्दा भवतीति मन्दायते सा मन्दायमाना मन्द-मन्द गच्छन्ती चतुरया सख्या चित्रलेखया पदात्पद प्रतिपद मदन्तिक मम समीपमानीयेत। कथमपि तया सह मम सङ्गमो भवेदिति राजा सौत्सुक्य-श्चिन्तयति। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥१५॥

चित्र०—सखि उर्वशि! इम पूर्वश्लोकवर्णित तावदस्य मनोरथ काम सम्पादय पूरय। समीप गत्वा त सम्भावय।

उर्वशी—(ससाध्वस सभयम्) क्रीडिष्ये तावत्। अप्रत्यक्षेव लोचनावरणेन तस्याश्चर्यं सम्पादयिष्यामि। (इति एव चिन्तयित्वा पृष्ठेन पश्चादेत्यागत्य राज्ञो लोचने सवृणोति हस्ताभ्यामाच्छादयति) चित्रलेखा विदूषक सर्शा तूष्णी स्यात् हस्तेन सङ्केतलम्भयति प्रापयति।)

राजा—(स्पर्शमुर्वशी करसपर्क निरूप्य अनुभाव्य) सखे! किं न इय नारायणस्य ऊरुः सम्भवो जन्मस्थान यस्याः सा वरे ऊरू यस्या. शोभनजघना भवत्। किमेय नारायणोरुजाता उर्वशी? इति विदूषक पृच्छति।

विदू०—कथ भवान् अवगच्छति जानाति?

राजा—किमत्र ज्ञेयम्। स्पष्टमेवाह तत्स्पर्शमनुभयामि—

अन्यदिति—मम गात्र देहः करेण स्पर्शः करस्पर्शस्तस्मात् पुलकैः कन्ति रोमाञ्चितम् सद् अन्यदिव कथम्। यदि तस्याः करस्पर्शो न स्यान्मे देहा रोमाञ्चयुक्ता न भवेत्। चन्द्रस्य किरणैः अशुभिः करैरिव तपतीति तपनः सूर्य-स्तस्य किरणैः कुमुद न उच्छ्वसिति विकसति। कुमुद यथा चन्द्रस्य शीतलै.

किरणं विकसति तथा सूर्यस्य किरणैर्न। तथैव मम गात्रे उर्वशीकरस्पर्शेनैव रोमाञ्चो भवति नान्यस्पर्शेन। दृष्टान्तालङ्कारः। तल्लक्षणम्—"दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।" आर्याछन्दः ॥१६॥

अनुवाद—राजा—(आसन के पास जाकर) मित्र! देवी दूर तक नहीं जा पायी होगी।

विदू०—जो कहना हो, विश्वासपूर्वक कहो। जैसे रोगी को असाध्य जानकर वैद्य झट से चला जाता है वैसे ही वे भी तुम्हें छोड़ गयी हैं।

राजा—यदि कहीं उर्वशी—

उर्वशी—(मन में) कृतार्थ हो जाय!

राजा—चुपचाप मेरे कान में अपने नूपुर का प्यारा शब्द ही डाल दे। या धीरे-धीरे पीछे से आ कर अपने कर-कमलों से मेरी आँखें मीच ले। अथवा इस महल पर उतर कर डर के मारे धीरे-धीरे चलती हुई उर्वशी को उसकी चतुर सखी बलपूर्वक कदम-कदम मेरे पास ले आये।१५।

चित्र०—सखि उर्वशी! इसके इस मनोरथ को तो पूरा कर दो।

उर्वशी—(सभय) खेल करूँगी। (पीछे से आकर राजा की आँखें बन्द कर लेती है। चित्रलेखा विदूषक को शान्त रहने का संकेत देती है।)

राजा—(स्पर्श का अनुभवकर) मित्र! क्या यह नारायण के ऊरु से उत्पन्न वरोरू उर्वशी नहीं है?

विदू०—आप किस तरह जानते हैं?

राजा—इसमें जानना क्या है? मेरा शरीर इसके हाथों के छू जाने से रोमाञ्चित होकर कुछ और तरह का ही हो गया है। चन्द्र की किरणों के समान सूर्य की किरणों से कुमुद नहीं खिला करता ॥१६॥

मूल पाठ—उर्वशी—अम्महे! वज्जलेव घडिद विअ मे हत्थजुअलं ण समत्थाम्हि अवणेदुम्। (अम्महे! वज्रलेपघटितमिव मे हस्तयुगलं न समर्थाऽस्म्यपनेतुम्।) (इति मुकुलिताक्षी चक्षुषा हस्तावपनीय स साध्वसा तिष्ठति।)

(राजा हस्ताभ्यां गृहीत्वा परिवर्तयति)

उर्वशी—(यथानिर्दिष्टमुपसृत्य जेदु जेदु महाराओ। (जयतु जयतु महाराज ।)

चित्रलेखा—सुह दे वअस्स ! [सुखं ते वयस्य !]

राजा—नन्वेतदुपपन्नम्।

उर्वशी—हला ! दवीए दिण्णो महाराओ। अदो से पणअवदी विअ सरीरसंगदाम्हि। मा खु मं पुरोभाइणी त्ति समत्थेहि। [सखि ! देव्या दत्तो महाराजः। अतोऽस्य प्रणयवतीव शरीरसङ्गतास्मि। मा खलु मां पुरोभागिनीति समर्थय।]

विदूषक—कधं इह ज्जेव तुम्हाण अत्थमिदो सूरो ! [कथमत्रैव युवयोरस्तमितः सूर्यः !]

राजा—(उर्वशीं विलोक्य)

देव्या दत्त इति यदि व्यापारं व्रजसि मे शरीरेऽस्मिन्।
प्रथमं कस्यानुमते चोरितमसि मे त्वया हृदयम्॥ १७॥

चित्रलेखा—वअस्स ! णिरुत्तरा एसा। मम संपदं विण्णविअं सुणीअदु। [वयस्य ! निरुत्तरा एषा। मम साम्प्रतं विज्ञापितं श्रूयताम्।]

राजा—अवहितोऽस्मि।

चित्रलेखा—वसन्ताणन्तरं उण्णसमए भअवं सुज्जो मए उवअरिदव्वो। ता जधा इअं मे पिअसही सग्गस्स ण उक्कंठेदि तहा वअस्सेण कादव्वम्। [वसन्तानन्तरमुष्णसमये भगवान् सूर्यो मया उपचरितव्यः। तद्यथा इयं मे प्रियसखी स्वर्गस्य नोत्कण्ठते तथा वयस्येन कर्तव्यम्।]

विदू०—भोदि ! किंवा सग्गे सुमिरिदव्वम्। ण तत्थ खाईअदि ण पीअदि केवलं अणिमिसेहिं अच्छीहिं मीणा विडम्बनी अन्दि। (भवति ! किंवा स्वर्गे स्मर्तव्यम्। न तत्र खाद्यते न पीयते। केवलमनिमेषैरक्षिभिर्मीना विडम्ब्यन्ते।

राजा—वयस्य ! अनिर्देश्यसुखं स्वर्गं कथं विस्मारयिष्यते।

अनन्यनारीसामान्यो दासस्त्वस्याः पुरूरवाः॥ १८॥

चित्रलेखा—अणुगहीदम्हि । हला उव्वसि ! अकादरा भविअ विसज्जे हि मं । [अनुगृहीतास्मि । सखि उर्वशि ! अकातरा भूत्वा विसर्जय माम् ।]

उर्वशी—(चित्रलेखां परिष्वज्य सकरुणम्) सहि ! मा खु मं विसुमरेसि । [सखि ! मा खलु मां विस्मरिष्यसि ।]

चित्रलेखा—(सस्मितम्) वअस्सेण संगदा तुमं मए एव्व जाचिदव्वा । [वयस्येन सगता त्वं मयैव याचितव्या ।]

(इति राजानं प्रणम्य निष्क्रान्ता ।)

व्याख्या—उर्वशी—अम्महे इति आश्चर्ये । वर्जस्य लेपः तेन घटितं निर्मितमिव मे हस्तयोर्युगल करयुग अपनेतुं राज्ञो नयनोरपसारयितुं न समर्था क्षमाऽस्मि । नायकस्पर्शेन जडीभूताविव हस्तौ जाताविति तात्पर्यम् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

इति एवमुक्त्वा मुकुलिते निमीलिते अक्षिणी यस्याः तादृशी निमीलितनयना राज्ञः चक्षुषो नेत्राद् हस्तावपनीय अपसार्य साध्वसेन सहितेति ससाध्वसा समया तिष्ठति ।

(राजा पश्चात्स्थितां तां हस्ताभ्यां गृहीत्वा परिवर्तयति सम्मुखे आनयति)

उर्वशी—(कथञ्चिल्लज्जावशात्काठिन्येन उपसृत्य पुरतो भूत्वा) जयतु . एषोऽभिवादनविधिः ।

चित्र०—सुखं भवतु ते वयस्य ! सुखी त्वं भूयाः ।

राजा—ननु निश्चयेन एतत् सुखं उपपन्नं साम्प्रतं तव सखी-समागमेन सुखं मे संजातम् ।

उर्वशी—सखि ! देव्या राजमहिष्या दत्तो महाराजा मह्यमिति शेषः । यतस्तयाक्तं या स्त्री महाराजं कामयते तया सह मया स्नेहेन वर्तितव्यमिति । अतोऽनेन कारणेन प्रणयवती अस्य स्नेहपात्रमिव अस्य शरीरं सङ्गताऽस्मि । अस्य शरीरालिङ्गनमहं तथैव करोमि यथा काचित् प्रेयसी स्वप्रियस्य करोति । अनेन व्यवहारेण मां खलु मां पुरोभागिनी दायभागिनीं दर्पति कामयमानेति मां मामपराधिनीं समर्थय मन्यस्व । यतोऽनुज्ञाताऽहं तदर्थं राज्ञा । 'दर्पकृद् पुरोभागी'ति हेमचन्द्रः ।

विदू०—उर्वशीचित्रलेखयोस्तिरस्करिणोच्छन्नत्वाद्विदूषको नाजानात् कस्मात् मालात् मेऽग्रावस्थिते इति। सनौतौ चकित सन् पृच्छति—यच कि युवयो सूर्य. अत्रैव अस्तमितः। किं युवां सूर्यास्तमनकालात् प्रागेव इहागते ?

राजा—(उर्वशी विलोक्य) देव्या इति—देव्या राज्ञाऽहं तुभ्यं दत्त इति अनेन वाक्येन यदि त्व मेऽस्मिन् शरीरे व्यापारमालिङ्गनादिक व्रजसि प्राप्नोषि तदा कथयेति शेषः—प्रथममित, पूर्वं कस्यानुमते कस्यानुज्ञया मे हृदय त्वया चोरितम् स्वाधिकार नीतम्। हृदय तु राज्या अनुमतेः प्रागेव त्वदधीन जातम् आर्याच्छन्दः।१७।

चित्र०—वयस्य! निरुत्तरा प्रत्युत्तर दातुमक्षमा एषा उर्वशी। मम साम्प्रत विज्ञापित सूच्य श्रूयताम्।

राजा—अवहितः सावधानः त्वद्वचन श्रोतुं दत्तावधानोऽस्मि।

चित्र०—वसन्तानन्तर वसन्तकालस्य समाप्तौ उष्णसमये भगवान् सूर्यो मया उपचरितव्यः सेवितव्यः। अप्सरसो भगवन्त सूर्यं नृत्यादिना पर्यायेण उपतिष्ठन्तीति पौराणिका। तद् अहं गमिष्यामि मद्गमनानन्तर चेयं मम प्रियसखी स्वर्गस्य नोत्कण्ठते स्वर्गं वारवार स्मरन्ती तत्र गन्तु न कामयते तथा वयस्येन भवता कर्तव्यम्।

विदू०—भवति किं वा स्वर्गे स्मर्तव्यम् किमस्ति तत्र स्वर्गे ताहङ् मनोरह यत् स्मृत्वा कश्चित्तत्र गन्तुमुत्सहेत। तत्र न खाद्यते न पीयते—प्रसिद्धमेव यद् देवाः यज्ञेषु प्रदत्तैर्हविर्भिस्तुष्यन्ति नान्यत्किञ्चिदश्नन्ति पिबन्ति वा। विदूषकस्य भोजनपानप्रियत्वात्तद्रहितः स्वर्गोऽनाकर्षक एव। तत्र केवलमनिमेषैः निमेषरहितैरक्षिभिर्नेत्रैर्मीना विडम्ब्यन्ते अनुक्रियन्ते केवल मीनवत् सुन्दराणि नेत्राण्येव सन्ति पर तान्यपि निर्निमेषाण्येव।

राजा—वयस्य चित्रलेखे! निर्देष्टु वर्णयितु न शक्यमित्यनिर्देश्य सुख यस्मिन् इत्यनिर्देश्य सुख, तम्। यस्मिन स्वर्गेऽवर्णनीय सुख विद्यते न कोऽपि त स्वर्गविस्मारयितु क्षमः। परम् अन्या नारी अन्यनारी तस्यं सामान्य साधारणतया उपभोक्तुं योग्य इति अन्य-नारी-सामान्य, न अन्य नारी सामान्य इति अनन्यनारी सामान्यः पुरुरवास्तु अस्य, दास, किङ्कर। दासते आमान ददाति इति दासः। या नान्यानारी लब्धु शक्नोति सोऽहमस्या दास इति तु अहं वक्तु

प्रभवामि। उक्त कुमारसंभवेऽपि पंचमे सर्गे कविना "अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः" इति। अनुष्टुप्वृत्तम् ॥१८॥

चित्र०—अनुगृहीता अस्मि ईप्सित लाभेनानुकम्पितमात्मानं मन्ये। हला उर्वशि ! अकातरा अभीता भूत्वा मा विसर्जयितुमनुजानीहि।

उर्वशी—चित्रलेखां परिष्वज्य—आलिङ्ग्य। सखि मा खलु मा विस्मर। यद्यपि साम्प्रतं त्वं गच्छति तथापि त्वयाऽहं स्मर्तव्या।

चित्र०—वयस्येन राजर्षिणा सङ्गतामिलिता त्वमेव मया एतत् याचितव्या। साम्प्रतं त्वं प्रियेण सङ्गता सर्वमपि सखीजनं विस्मरष्यसि। तेन मयैवेयं प्रार्थना त्वां प्रतिकर्तव्या। अहं तु नैव विस्मरिष्यामि। (राजानं प्रणम्याभिवाद्य निष्क्रान्ता गता)

अनुवाद—चित्र०—वसन्त बीतने पर उष्ण काल में मुझे भगवान् सूर्य की सेवा-परिचर्या करना है तो आप ऐसा करिये जिससे मेरी इस सखी को स्वर्ग की याद न सताये।

विदू०—श्रीमती ! स्वर्ग में याद करने के योग्य है ही क्या ? न खाया जाता है, न पिया जाता है ! केवल निर्निमेष नयनों से मछलियों की नकल उतारी जाती है।

राजा—भद्रे ! स्वर्ग का सुख तो अवर्णनीय है। उसे भला कौन भुला सकेगा ? हाँ, यह पुरूरवा, जिस तक अन्य किसी नारी की पहुँच नहीं है वह अवश्य इसका दास है ॥१८॥

चित्र०—अनुगृहीत हूँ। सखि उर्वशि, बिना घबराहट के मुझे विदा करो।

उर्वशी—(चित्रलेखा का आलिंगन कर) सखि ! मुझे भूल न जाना।

चित्र०—वयस्य से मिल जाने के बाद अब यह माँग तो मुझे तुमसे करनी चाहिये।

(राजा को प्रणाम करके चली जाती है)

टिप्पणी—उपचरितव्य—उप+चर+तव्यः। सेवन करना है, उप-स्थित होकर पूजा करनी है। स्वर्गस्य नोत्कण्ठेत—"अधीगर्थदयेशां कर्मणि" सूत्र से 'स्वर्ग' में षष्ठी। यथा मातुः स्मरति। उत्कण्ठेत यह उत्कण्ठा शब्द का नामधातु है। *तथाद्वयस्येनकर्तव्यम्—इससे सखी-विरह की सूचना मिलती*

है और इस प्रकार अग्रिम अङ्क के अर्थोपक्षेप के कारण यह अङ्कावतार है। यहाँ शाकुन्तल का यह कथन भी देखें—"वयस्य यथा नौ प्रियसखी बन्धुजनशोचनीया न भवति तथा निर्वाहय।" अनिमेषैः—न निमेषा सन्ति येषा तानि अनिमेषानि तैं। देवताओ के पलक नहीं गिरते, इस विचार से यह बात कही गयी है। दास—दासते आत्मन ददाति इति दासः। देखिये कुमार० (५—८६) "अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दास.।" याचयितव्या—याच+णिच्+तव्य+टाप्। यह द्विकर्मक धातु बन गयी है जिसका एक कर्म है 'त्वम्' और दूसरा एतत्। प्रथम मे कर्मवाच्य होने से "उक्ते प्रथमा' है।

मूल पाठ—विदू०—दिट्ठिआ मणोरह-सम्पत्तीए वड्ढदि भव। (दिष्ट्या मनोरथसंपत्या वर्धते भवान्।)

राजा—इय तावद् वृद्धिर्मम। पश्य

सामन्त-मौलिमणि-रञ्जित-शासनाङ्क-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम्,
अस्याः सखे चरणयोरहमद्य कान्त-
माज्ञाकरत्वमधिगम्य यथा कृतार्थः॥१९॥

उर्वशी—नत्थि मे विहवो अदो पिअदर मन्तिदु। [नास्ति मे विभवोऽतः प्रियतरं मन्त्रयितुम्।]

राजा—(उर्वशी हस्तेनावलम्ब्य) अहो विरुद्ध-संवर्धनईप्सितलाभो नाम।

पादास्त एव शशिन सुखयन्ति गात्रं
बाणास्त एव मदनस्य ममानुकूलाः।
संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि यद्यदासीत्
त्वत्संगमेन मम तत्तदिवानुकूलम्॥२०॥

व्याख्या—विदू०—दिष्ट्या सौभाग्येन मनोरथ-संपत्या इच्छानुकूलमिष्टलाभेन वर्धते भवान्।

राजा—इयं तावद् वृद्धिर्मम मम—सामन्तेति—सखे। अस्या प्रियाया. चरणयो. पादयोः कान्तं प्रियम् आज्ञाकरत्व यथावदत्वम् आज्ञा

करोति सम्पादयति स आज्ञाकरः सेवकस्तस्य भावः —अधिगम्य प्राप्य यथा अहम् अर्थकृतः निष्पन्नः अर्थःकार्यं येन स कृतार्थः सफल. कृतकृत्यो वा तथा *सामन्तानां समन्ते भवानां प्रत्यन्तर्वर्तिनामधीनानां भूपतीनां मौलयः तेषु ये* मणयः तैः रञ्जित शोभित शासनमेव अङ्कश्चिह्नं यस्य तत् एवभूतम् एक आतपात् त्रायते इति आतपत्र छत्र यस्मिन तत् एकच्छत्रम् अवने पृथिव्या प्रभुत्व स्वामित्वम् अधिगम्य प्राप्य तथा न (कृतार्थः) यद्यप्यहमेकच्छत्रस्य राज्यस्याधिपति । अनेके सामन्ताश्च मा शिरोभि सदा प्रणमन्ति तथाऽपि नैतत् प्रभुत्व मा तथा सुखयति या अस्याश्चरणयो दासत्वम् । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥१९॥

उर्वशी—नास्ति मे वाग्विभवो नास्तिवर्णनशक्तिः अतः अस्मादधिकं प्रियतर हृद्यन्तरे मन्त्रयितुं कथयितुम् ।

राजा—(उर्वशी हस्तेन अवलम्ब्य गृहीत्वा) अहो विरुद्धं प्रतिकूल सवर्धयतीति विरुद्ध सवर्धनः विरुद्धः प्रभावजनक ईप्सितस्यलाभ इच्छितवस्तु प्राप्तिर्नाम । इच्छितवस्तुनः प्राप्तौ पदार्थाना प्रभावो मनसि पूर्वतः प्रतिकूलमेव जायते । यतः अस्मात् ।

पादा इति—ते एव ये पूर्वं पीडाकरा आसन् ते एव शशिनः चन्द्रमसः पादा. किरणागात्र शरीर सुखयन्ति अधुना उर्वशीसमागमे । मदनस्य कामस्य त एव बाणा ये पूर्वं व्यथयन्ति स्म साम्प्रत मनस. अनुकूला. मनोरमाः सञ्जाताः । सुन्दरि ! यद् यद् वस्तु सरम्भेण त्वद्वियोगजन्य-चित्तवैक्लव्येन रुक्ष नीरसमिव आसीत् तत् तत् तव सगमस्त्वत्सगमस्तेन तव सयोगेन अनुकूलम् अनुनीतमिति पाठे कृतसान्त्वनमिव जातम् । अत्र विरहिणोऽवस्थाया याथार्थ्येन वर्णनात् स्वभावोक्तिरलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥२०॥

अनुवाद—विदू०—सौभाग्य से आपकी मनोरथ-सम्पत्ति की वृद्धि हो रही है ।

राजा—*यह तो मेरी वृद्धि है* । देखो मित्र ! सामन्त लोगो के मुकुटो मे जडी मणियो के रग से रञ्जित शासनादेश जिसका अक (पहचान) बन गये हैं ऐसी पृथ्वी का एकच्छत्र साम्राज्य पाकर भी मैं उतना कृतार्थ नही हुआ जितना आज इनके चरणो के सेवक का पद पाकर कृतार्थ हुआ हूँ ॥१९॥

उर्वशी—इससे अधिक प्यारी बात कहने की शक्ति मेरी वाणी में नहीं है।

राजा—(उर्वशी का हाथ पकड़कर) ओह, अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति विरुद्ध प्रभाव को बढ़ा देती है।

चन्द्रमा की वे ही किरणें शरीर को सुख पहुँचा रही हैं। कामदेव के वे ही बाण मेरे अनुकूल हो गये हैं। जो-जो कुछ विक्षोभ के कारण नीरस-सा लगता था, तुम्हारे समागम से अब वही-वहीं मेरे अनुकूल हो गया है॥२०॥

टिप्पणी—सामन्त···पीठम्—सामन्तानां मौलयः, तेषु मणयः इति सामन्तमौलिमणयः तैः रञ्जित शासनमेव अङ्को यस्य तत्। समन्ते भवाः सामन्ताः।

एकातपत्रम्—आतपात् त्रायते इति आतपत्रम्। एकं च तत् आतपत्रमिति एकातपत्रम्-एकच्छत्रम्।

विरुद्धसंवर्धन —विरुद्ध संवर्धयतीति। परस्परविरोधी बातों या कार्यों को बढ़ाने वाला।

संरम्भरुक्षम्—संरम्भेण रुक्षम्। रोष के कारण कठोर लगने वाला।

पादाहत एव—इस श्लोक में विरही की अवस्था का यथार्थ वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है। वसन्ततिलका छन्द है। इससे पूर्व "सामन्त-मौलि" आदि श्लोक में भी वसन्ततिलका छन्द है।

मूल पाठ—उर्वशी—अवरध्धह्मि चिरकारिआ महाराअस्स। [अपराद्धाऽस्मि चिरकारिका महाराजस्य।]

राजा—मा मैवम्।

यदेवोनतं दुःखात् सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥२१॥

विदू०—भो सेविदा पदोस-रमणीआ चन्दवादा। समओ खु दे वासधर-पवेसस्स। [भोः सेविताः प्रदोष-रमणीयाश्चन्द्रपादाः। समयः खलु ते वासगृहप्रवेशस्य।]

राजा—तेन हि सख्यास्ते मार्गमादेशय।

विदू०—इदो इदो भवदी। [इत इतो भवती।] (इति परिक्रामन्ति)

राजा—सुन्दरि इयमिदानीमभ्यर्थना।

उर्वशी—कथं विअ। [कथमिव]

राजा—अनुपनतमनोरथस्य पूर्वं
शतगुणितेव गता मम त्रियामा।
यदि तु तव समागमे तथैव
प्रसरति सुभ्रु ततः कृती भवेयम् ॥२२॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

तृतीयोऽङ्कः समाप्तः

व्याख्या—उर्वशी—अपराद्धा कृतापराधास्मि चिरं करोनीति चिरकारिका महाराजस्य।

राजा—सुन्दरि ! मा मैव एवं न वक्तव्यम्।

यदेवेति—यत् सुखं दुःखाद् दुःखमनुभूय उपनतमुपस्थितं तदेव रसोऽस्मिन् यस्मिन् तद् रसवत्, अतिशयेन रसवदिति रसवत्तरम् स्वादुतरम्। तरोश्छायेति तरुच्छाया तप्तस्य सूर्यातपेन आयासितस्य हि विशेषेणोऽधिकतरं निर्वाणाय तृप्तये सुखाय वा कल्पते। तदुक्तं मृच्छकटिकेऽपि (१–१०) 'सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्' इति। निर् पूर्वकाद् वाधातोः क्त प्रत्यये निर्वाण इति रूपम्। 'निर्वाणोऽवाते' (८–२–५०) इति सूत्रेण तस्य णः ॥२१॥

विदू०—भवति ! सेविताः प्रदोषे सन्ध्याकाले रामणाया मनोहराश्चन्द्रपादाः चन्द्रमसो मरीचयः। तत् तेन समयः खलु ते गृहे प्रवेश इति गृहप्रवेशस्तस्य।

राजा—तेनहि सख्या। मार्गमादेशय प्रदर्शय, वासगृहं गन्तुम्।

विदू०—इत इतोऽनेन मार्गेण गच्छतु भवती। (इति परिक्रामन्ति गच्छन्ति।)

राजा—सुन्दरि ! इयम् इदानीम् अभ्यर्थना याच्ञा, प्रार्थना वा।

उर्वशी—कथमिव का साऽभ्यर्थना ?

राजा—हे शोभने भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः तत्सम्बोधने सुभ्रु ! पूर्वं तव प्राप्तेः पूर्वं न उपनतः अधिगतः मनोरथः मनोरथस्त्वत्प्राप्तिरूपो यस्य स तस्य

मम त्रियामा रात्रिः त्रयो यामा. यस्या सा "निशा निशीथिनी रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा" इत्यमर। शतगुणिता शतरात्रिसमागता व्यतीता। यदि तु तव समागमे त्वया सह स्थितवति मयि तथैव शतगुणितैव प्रसरति विस्तृता स्यात् तत. कृती कृतकार्यः सुखी वा भवेयम्। अत्रैव सूचना उत्तराङ्क-कथोपयोगित्वात् बिन्दुरियमवधेयम्। तदुक्तम् "अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेद-कारणम्।" पुष्पिताग्रा वृत्तम्। तल्लक्षण तु "पुष्पिताग्रा नौयौ न जौ जोग्" इति। (इति निष्क्रान्ता. रङ्गभूमेर्बहिर्गताः सर्वे) इति तृतीयोऽङ्कः।

अनुवाद—उर्वशी—महाराज ! देर करके मैंने आपका अपराध किया है।

राजा—यो न कहो।

दुःख के बाद प्राप्त होनेवाला सुख अपेक्षाकृत अधिक रसीला होता है। पेड की छाया धूप से तपे हुए व्यक्ति को और अधिक शान्ति प्रदान करती है॥२१॥

विदू०—भई, प्रदोष वला की मनोरम चन्द्रकिरणो का सेवन कर लिया। अब वासगृह मे तुम्हारे प्रवेश का समय हो गया।

राजा—तो अपनी सखी को रास्ता दिखाओ।

विदू०—आप इधर से, इधर से चलिये। (चलते हैं)

राजा—सुन्दरि ! अब यह प्रार्थना है।

उर्वशी—क्या ?

राजा—हे सुभ्रु ! मनोरथ पूर्ण होने से पूर्व मैंने इस तीन पहर वाली रात को सौगुनी बनी हुई की तरह बिताया है। यदि यह तुम्हारे समागम मे भी वैसी ही लम्बी हो जाय तो मैं कृतार्थ हो जाऊँ।

(सब चले जाते हैं)

टिप्पणी—यदेवोनतम्—मृच्छकटिक म देखिये—"सुख हि दु खान्यनु-भूय शोभत घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।"

निर्वाणाय—पूर्ण तृप्ति के लिये। निर्+वा+क्त। "निर्वाणोऽवाते" सूत्र से क्त के त् को न् हो जाता है।

अनुपनत—इस अक की सूचना के अग्रिम अक के लिये उपयोगी होने से 'बिन्दु' जानना चाहिये।

(तीसरा अक समाप्त हुआ।)

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विमनस्का चित्रलेखा सहजन्या च)

मूलपाठः—सहजन्या—(चित्रलेखा विलोक्य) सहि मिलाअमाण-सदवत्तस्स विअ दे मुहस्स छाआ हिअअस्स अस्सत्थदं सूएदि। ता कहेहि णिव्वेद-कारण। सम-दुक्खा होदुं इच्छामि। [सखि म्लायमानशतपत्रस्येव ते मुखस्य छाया हृदयस्यास्वस्थता सूचयति। तत्कथय निर्वेदकारणम्। इह सम-दुःखा भवितुमिच्छामि।]

चित्र०—अच्छरा-वार-पज्जाएण इह भअवदो सुज्जस्स पादमूलो वट्टाण वट्टदित्ति वलिअखु उव्वसीए उक्कण्ठिदह्मि। [अप्सरो वारपर्यायेण इह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थान वर्तते इति बलवत् खलूर्वश्या उत्कण्ठितास्मि।]

सहजन्या—जाणे वो अण्डोण्णा सिणेहं। तदो-तदो। [जाने युवयो-रन्योन्यस्नेहम्। ततः ततः]

चित्र०—तदो इमाइ दिवसाइं कोणु खु वृत्तन्तोत्ति पणिधाणट्ठिदाए मए अच्छाहिदं उवलध्धं। [तत एतेषु दिवसेषु को नु खलु वृत्तान्त इति प्रणिघानस्थितया मया अत्याहितमुपलब्धम्।]

सह०—(सावेगम्) कोरिस विअ [कीदृशमिव ?]

चित्र०—उव्वसी किल तं रदि-सहाअं राएसि अमच्चेसु णिवेसिद-रज्ज-धुर गेण्हिअ गन्ध-मादण-वण विहरिदुं गदा। [उर्वशी किल तं रतिसहायं राजर्षिममात्येषु निवेशितराज्यधुरं गृहीत्वा गन्धमादनवन विहर्तुं गता।]

सह०—सो णाम संभोओ जो तारिसेसु पदेसेसु। तदो तदो। [सनाम संभोगो यस्तादृशेषु प्रदेशेषु। ततस्ततः ?]

चित्र०—तहिं खु मन्दाइणीए पुलिणेसु गदा सिअदा-पव्वद-केलीहिं कीलमाणा विज्जाधर-दारिआ उदयवदी णाम तेण राएसिणा चिर णिज्झाइदत्ति कुविदा उव्वसी। [तत्र खलु मन्दाकिन्याः पुलिनेषु गता सिकता-पर्वत-केलिभिः क्रीडन्ती विद्याधरदारिका उदयवती नाम तेन राजर्षिणा चिरं निध्यातेति कुपिता उर्वशी।]

व्याख्या—(ततः तृतीयाङ्कस्य समाप्तेरनन्तरं विगतं मनो यस्याः सा एवंविधा विमनस्का खिन्नचित्ता, "उरःप्रभृतिभ्यः कप्" (५-४-१५१) इति क (प्) प्रत्ययः, चित्रलेखा सहजन्या च प्रविशति।)

सहजन्या—(चित्रलेखां विलोक्य तां प्रति दृष्टिं निक्षिप्य) सखि! म्लायते इति म्लायमानं, शतं पत्राणि यस्य तच्छतपत्रं, म्लायमानं च तत् शतपत्रमिति म्लायमानशतपत्रं तस्य इव ते मुखस्य छाया कान्तिः हृदयस्य अस्वस्थता रुग्णावस्था सूचयति प्रकटयति। तत् निर्वेदस्य म्लानेः कारणं कथय। समं दुःखं यस्याः सा समवेदनामयी भवितुमिच्छामि। तव मुखे दृश्यमाना श्यामता तेऽन्तर्वेदना प्रकटयति। तव वेदनया च ममाऽपि दुःखं स्वाभाविकं तेन मां विस्पष्टं कथय स्वमनोवस्थाम्।

चित्र०—अप्सरसां वारः सेवायाः नियुक्तिस्तस्य पर्यायः क्रमस्तेन इह भगवतो देवस्य सूर्यस्य पादमूलस्य उपस्थानं पूजा सेवा वा वर्तते इति अस्मात् कारणात् समयाभावेन तां द्रष्टुं गन्तुमसमर्थतया उर्वश्या विनाऽहं बलवदधिकमुत्कण्ठिताऽस्मि खलु। पुराणेषु प्रसिद्धिर्यत् भिन्नेषु ऋतुषु अप्सरसः पर्यायेण सूर्यमुपतिष्ठन्ति। गर्ताङ्के एवोक्तं चित्रलेखया "वसन्तान्तरे उष्णसमये" इत्यादिनैतत्। भागवतानुसारेण ग्रीष्मर्तौ रम्भा मेनके सूर्यमुपतिष्ठेते कूर्म-पुराणानुसारेण च मेनका-सहजन्ये। कालिदासेन तु नामोविषये स्वातन्त्र्यमवलम्बितम्। उत्कण्ठालक्षणन्तु "रागे त्वलब्धविषये वेदना महती तु या—संशोषिणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः।"

सह०—जाने युवयोरन्योन्यं प्रति प्रेम। ततस्ततः किं सवृत्तम्?

चित्र०—तताऽनन्तरं एतेषु दिवसेषु यो नु खलु वृत्तोऽन्तो यस्य स वृत्तान्तः समाचारः इति शातु प्रणिधाने समाधौ विचारे वा स्थितया मया अत्याहितं महा भयम् उपलब्धम्। योगाङ्गेषु अष्टसु प्रणिधानं नामाष्टमम् अनेन अनुपस्थित-

वस्त्वपि प्रत्यक्षीकर्तुं शक्यते। उक्तं च शाकुन्तलेऽपि षष्ठेऽङ्के सानुमत्या—'अस्ति मे विभवः प्रणिधानेन सर्वं ज्ञातुम्।' प्रियेण सह कथं वर्तते उर्वशी इति विचारयन्त्या मया महदनिष्टं ज्ञातम्।

सह०—(आवेगेन सक्षोभेण सहेति सावेगम्) कीदृशं किम्प्रकारकमिव तदनिष्टम्।

चित्र०—उर्वशी किल त रतौ सुरतोपभोगे सहायस्तं राजर्षिम् अमात्येषु मन्त्रिषु निवेशिता स्थापिता राजस्य धूर्भारो येन तं गृहीत्वा गन्धमादनवनं विहर्तुं गता। अमा (समीपे) भव इत्यमात्यः 'अव्ययात्त्यप्' (४–२–१०४) इति सूत्रे 'अमेहक्वतसित्रेभ्य एव' इतिवार्तिकेन्त्यप्। गन्धमादनं नाम हिमवत्पुरस्यौषधिप्रस्थस्योपवनम्।

सह०—स नाम स एव सत्यं सम्भोगस्सुरतविलासो यस्तादृशेषु गन्धमादनसदृशेषु प्रदेशेषु। ततस्ततः ततः किं वृत्तम्? कालिदासेन उमाशङ्करयोरपि समागोत्सवो गन्धमादन एव वर्णितः।

चित्र०—तत्र खलु मन्दम् अवितुं शील यस्याः सा मन्दाकिनी सुरसरित् तस्याः पुलिनेषु वालुकामयोन्नतप्रदेशेषु गता सिकतायाः पर्वताः वालुकानिर्मिताः क्रीडनकपर्वताः तैः केलयः क्रीडास्ताभिः क्रीडन्ती विद्याधरस्य कस्यचिद् दारिकापुत्री उदयवती नाम काचिद् राजर्षिणा तेन चिरं निध्याता ध्यानपूर्वकमेकाग्र दृष्ट्या वा निरीक्षिता, नि + ध्यै + क्त। विद्याधरो नाम काचिद् देवमानुषमध्यगता जातिः। धरतीति धरः विद्यायाः गुटिकाञ्जनादिरूपायाः धर इति विद्याधरः इति अनेन कारणेन उर्वशी कुपिता।

चौथा अंक

अनुवाद—

(उदास चित्रलेखा तथा सहजन्या प्रवेश करती हैं)

सह०—चित्रलेखा को देखकर सखि, कुम्हलाते हुए शतदल कमल के समान तुम्हारे मुख की कान्ति हृदय की अस्वस्थता को प्रकट कर रही है। मुझे अपनी उदासी का कारण तो बताओ। मैं तुम्हारे दुःख में साझीदार बनना चाहती हूँ।

चित्र०—अप्सराओं की क्रम-क्रम से बारी के अनुसार मुझे भगवान् सूर्य की सेवा-पूजा करनी है। इस कारण मैं उर्वशी के लिये बहुत अधिक चिंतित हो रही हूँ।

सह०—तुम दोनों के पारस्परिक स्नेह को मैं जानती हूँ। फिर ? फिर ?

चित्र०—फिर इस बात का पता लगाने के लिये कि इतने दिनों में उसका क्या हाल-चाल रहा, जब मैंने ध्यान लगाया तो मुझे एक बड़ा अनर्थ मालूम हुआ।

सह०—(घबराहट के साथ) कैसा ?

चित्र०—अपने प्रणय के साथी राजर्षि को, जिसने राज्य का भार अमात्यों पर छोड दिया था, साथ लेकर उर्वशी विहार करने के लिये गन्धमादन वन में गयी।

सह०—ऐसे प्रदेशों में किया गया सभोग ही वास्तव में संभोग है। फिर ? फिर ?

चित्र०—वहाँ उर्वशी को (राजर्षि पर) क्रोध आ गया क्योंकि वे गंगा के बालुका-मय तटों पर जाकर, खेल के लिये बालू के पहाड़ बनाकर उनसे खेलती हुई उदयवती नाम की एक विद्याधर की लडकी को देर तक घूरकर देखते रहे।

टिप्पणी—विमनस्का—विगत मनो यस्याः सा। "उरः प्रभतिभ्यः कप्" (५-४-१५१) से समासान्त कप्। शतपत्रस्य—शत पत्राणि अस्य इति शतपत्र (कमलम्) तस्य।

प्रणिधानस्थितया—प्र + नि + धा + ल्युट् = प्रणिधानम् (समाधिः) तस्मिन् स्थितिः तया। योग की यह उच्चतम स्थिति है। अप्सराओं तथा सिद्धों आदि को यह स्थिति स्वतः प्राप्त मानी जाती थी। शाकुन्तल में सानुमती ने कहा है—"अस्ति मे विभवः प्रणिधाने न सर्व ज्ञातुम्।" अत्याहितम्—अतिशयेन आधीयते मनोऽत्र इति।

मूलपाठ—सह०—ह्रादव्व। दूराढो खु पणओ असहणो। तदो तदो ? [भवितव्यम् ! दूरारूढ: खलु प्रणयोऽसहनः। ततस्ततः ?]

चित्र०—तदो भट्टिणो अणुणअं अपडि वज्जमाणा गुरु-माव-संमूढहिअआ इथ्यिआ-जण-परिहरणिज्जं कुमारवणं पइट्टा। पवेसाणन्तरं च काणणो-वन्त-वत्ति-लदा-भावेण परिणद से रुवं। [ततो भर्तुरनुनयमप्रतिपद्यमाना गुरुशाप-संमूढ-हृदया स्त्रीजन-परिहरणीयं कुमारवनं प्रविष्टा। प्रवेशानन्तरं च काननोपान्तवर्ति-लता-भावेन परिणतमस्या रूपम्।]

सह०—णथ्यि विहिणो अलङ्घणिज्जं। तस्स अणुराअस्स अअं णाम एक्कवदे ईरिसो अणथ्यो। अह किमवथ्यो सो राएसी? [नास्ति विधेरलङ्घनीयम्। तस्यानुरागस्यायं नाम एकपद ईदृशोऽनर्थः। अथ किमवस्थः स राजर्षिः?]

चित्र०—तस्सिं एव काणणे पियदमं विचिण्णन्तो अहोस्ते अदिवाहेदि। इमिणा उण णिव्वुदाण पि उक्कण्ठाकारिणा मेहोदएण अण अणथ्याहीणो हविस्सदि। [तस्मिन्नेव कानने प्रियतमा विचिन्वन्नहो रात्रनतिवाहयति। एतेन पुनर्निवृत्तानामप्युत्कण्ठाकारिणा मेघोदयेनानर्थाधिनो भविष्यति।]

सह०—सहि तारिसा आकिदिविसेसा चिरं दुक्खमाइणो होन्दि। अवस्स किमपि अणुग्गहणिमित्त भूओ वि समाअम कारण हविस्सदि। ता एहि उद उम्मुहस्स भअवदो सुज्जस्स उवट्ठाणं करेहन। [सखि तादृशा आकृतिविशेषाश्चिर दुःखभागिनो न भवन्ति। अवश्यं किमप्यनुग्रह निमित्तं भूयोऽपि समागमकारणं भविष्यति। तदेहि उदयोन्मुखस्य भगवत. सूर्यस्योपस्थानं कुर्वः।] (इतिनिष्क्रान्ते)

प्रवेशकः

व्याख्या—सह०—भवितव्यम् एव भवितु शक्यम्। दूरसारूढ इति दूरारूढः प्रकृष्टः खलु प्रणयः असहनः न सहते एव शीलः। ततस्ततः अनन्तर किं वृत्तमिति प्रश्नः।

चित्र०—तत. भर्तु स्वामिनोऽनुनय प्रसादनम् न प्रतिपद्यते स्वीकरोतीति अप्रतिपद्यमाना गुरोर्भरतस्य शाप इति गुरुशापस्तेन सम्मूढ विमोहित हृदय यस्याः सा स्त्रीजनपरिहरणीय वर्ज्यं नारीभिरगम्य कुमारस्य षडाननस्य वन प्रविष्टा। प्रवेशस्यानन्तर च अस्या रूपमाकृतिः काननस्य उपान्ते प्रान्तभूमौ

वर्तते इति काननोपान्तवर्तिनी एवभूता या लता तस्या भावेन स्वरूपेण परिणत परिवर्तितम्। कुमारेण कार्त्तिकेयेन आजन्मब्रह्मचार्यमनुतिष्ठता स्ववासवने स्त्रीणा प्रवेशः सर्वथा निषिद्ध आसीत्। उर्वश्या शरीरमेव लता रूपेण परिणतमिन्द्रियाणा ग्राहिका शक्तिस्तु तथैवासीत्। अतएव वक्ष्यतेऽग्रे तथा 'अभ्यन्तरकरणया मया प्रत्यक्षीकृतवृत्तान्तः खलु महाराजः''।

सह०—विधेर्दैवस्य अलङ्घनीय लङ्घयितु न शक्य किमपि नास्ति। तस्य प्रवृद्धस्यानुरागस्य प्रेम्णोऽप्य नाम एकपदे सहसैव ईदृशोऽनर्थः। नामेति कुत्सने विस्मये वा। अथ अतोऽनन्तर साम्प्रत काऽवस्था यस्य स किमवस्थः स राजर्षिः ? पुरुरवस काऽवस्था साम्प्रतम् ?

चित्र०—तस्मिन्नेव गन्धमादने कानने प्रियतमा विचिनोतीति विचिन्वन् अन्वेषयन् अहोरात्रान् अहानि च रात्रयश्च अहोरात्रास्तान् "अहः सर्वैकदेश-सङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः" (५-४-४७) इति समासान्ताऽच् 'रात्राह्नाहाः पुसि च' (२-४-२९) इति पुस्त्वम्। एतेन पुनर्निवृत्ताना चिन्तारहिताना सन्तुष्टकामाना वा अपि उत्कण्ठा करोतीति उत्कण्ठाकारी तेन शान्तमनस्कानामपि मनसि औत्सुक्य जनयता मेघोदयेन अनर्थाधीन अनर्थस्य वशगतो भविष्यति। उक्त च मेघदूतेऽपि "मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः। कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने कि पुनर्दूरसस्थे ?"

सह०—सखि तादृशाः आकृताना विशेषः एवविधा अनिर्वचनीयसौन्दर्यानुभावसपन्ना. चिर दु ख भजन्ते इति दु खभागिनो भवन्ति। अत्रश्य किमपि अनुग्रह निमित्त यस्य तत् भूयोऽपि पुनरपि समागमस्य कारणमुपायो भविष्यति। तदेहि आगच्छ। उदयोन्मुखस्य उदयाचलमारोहत सूर्यस्योपस्थान पूजन कुर्वः। (इति निष्क्रान्ते) अथ समागमस्यावश्यभावि विनिश्चयात् नियताप्तिरिति चतुर्थ्यवस्था सूचिता। (प्रवेशकः समाप्तः)

अर्थोपक्षेपकोऽयम्। स च प्रथमाङ्कवर्जमन्यत्राङ्कारम्भे प्रयुज्यते। तथोक्त "प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः—अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेय शेष विष्कम्भके यथा।"

अनुवाद—सह०—हो सकता है। गहरा प्रेम असहनशील होता है। फिर ? फिर ?

अयमपि पटुर्धारासारो न बाण-परम्परा,
कनक-निकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी ॥१॥

(विचिन्त्य) क्व नु खलु रम्भोरुर्गता स्यात्।

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं;
सा चात्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥२॥

(दिशोऽवलोक्य सनिःश्वासम्) अये परावृत्तभागधेयानां दुःख-दुःखानुबन्धि। पुनः—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥३॥

पम्ये' (४-१-६९) इति ऊङ् स्त्रीप्रत्ययस्तेन रम्भऊरुरिति उकारान्तो निष्पन्नः, गता स्यात्।

तिष्ठेदिति—कोपवशात् क्रोधस्य कारणेन सा प्रभावो मापिहितेति प्रभाव-पिहिता—तिरस्करिण्यादि। विद्याप्रभावेणाच्छन्ना सा तिष्ठेत् पर सा दीर्घं चिर न कुप्यति। पिहितेति अपिपूर्वकस्या धा धातो' क्तक्त रूप धाधातोर्हीत्यादेशः, अपीत्यकरस्य च 'वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योर्पसर्गयो"रित्यनुसारेण लोपः। स्वर्गाय वा उत्पतिता भवेत् स्वर्गं गन्तुमुड्डीना वा स्यात् पर अस्या मनो हृदय मयि भावेन आर्द्रमिति भावार्द्रमनुरक्तम्। स्वर्गायेति "क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थानिनः" (२-३-१४) इति चतुर्थी। मे पुरः वर्तते इति पुरोवर्तिनी ता समक्ष स्थिता ता विबुधान् देवान् द्विषन्तीति विबुधद्विषो दानवा अपि हर्तुं न शक्ताः न समर्थाः। अनेन स्वशक्तिकथनाद् व्यवसायो नाम सन्ध्यङ्गमुक्त भवति। तथापि च साऽत्यन्तम् अदर्शन लोप गत इत्यय कोऽनिर्वाच्यो मे विधिर्दैवम्। शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥२॥

अये! परावृत्त विपरीत भागधेय भाग्य येषान्ते परावृत्तभागधेयास्तेषा दुःख दुःखमनुबध्नातीति दु:खानुबन्धि। विपद् विपदमनुबध्नाति। तदुक्त नीतिशतके "प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापद.।" कुतः कस्मादिद वक्तव्य भवतीति उच्यते—

अयमेकपद इति—एकपदे सहसा तया प्रियया्ऽय सुदुःखेन सह्यत इति सुदुःसहोऽसह्यः वियोगः च मे उपनतः सम्प्राप्तः। धरन्तीति धर, वारीणा धरा इति वारिधरा मेघा, नवाश्च ते वारिधरास्तेषामुदयस्तस्माद् नवमेघोदयाद् अहोभिर्दिवसैः निर्गतः आतपः येभ्यस्तानि निरातपानि। तेषा भावो निरातपत्व तेन रम्याणि तैरातपविरहितत्वान्मनोरमैर्भवितव्यम्। 'तत्समैकपदे तुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्' इति हलायुधः। औपच्छन्दसक छन्दः ॥३॥

अनुवाद—

(इसके बाद पागल का-सा वेष बनाये राजा प्रवेश करता है।)

राजा—अरे दुष्ट राक्षस! ठहर, ठहर। मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहा है? अरे! पर्वत की चोटी से आकाश मे उडकर मुझ पर बाणो की वर्षा कर रहा है! (अच्छी तरह देखकर)

अयमपि पटुधारासारो न बाण-परम्परा,
कनक-निकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया मम नोर्वशी ॥१॥

(विचिन्त्य) क्व नु खलु रम्भोरुर्गता स्यात्।

तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं,
सा चाऽत्यन्तमदर्शनं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥२॥

(दिशोऽवलोक्य सनिःश्वासम्) अये परावृत्तभागधेयानां दुःख दुःखानुबन्धि। कुतः—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥३॥

व्याख्या—(ततः प्रविशति उन्मत्तस्येव वेशो यस्य स तथाविध उन्मत्तवेशो राजा)—राजा—आ इति कोपे निपातः दुरात्मन् दुष्टरक्षः इति सबोधनम्, तिष्ठ तिष्ठ मा अग्रे याहि। क कुत्र मे प्रियतमामुर्वशीमादाय (आ+दा+ल्यप्) गृहीत्वा गच्छसि ? हन्त इति खेदे शैलस्य शिखर तस्माद् गगनमाकाशमुत्पत्य उड्डीयमानो माम् अभिवर्षसि, आकाशात् प्रहरसि मयि बाणान् (विभाव्य, वि+भू+णिच+ल्यप) सम्यग्दृष्ट्वा

पम्बे' (४–१–६९) इति ऊङ् स्त्रीप्रत्ययस्तेन रम्भऊररिति उकारवन्तो निष्पन्नः, गता स्यान् ।

तिष्ठेदिति—कोपवशात् क्रोधस्य कारणेन सा प्रभावो मापिहितेति प्रभाव-पिहिता—तिरस्करिण्यादि। विद्याप्रभावेणाच्छन्ना सा तिष्ठेत् पर सा दीर्घं चिर न कुप्यति। पिहितेति अपिपूर्वकस्या धा धातो क्तक्त रूप धाधातार्हियादेशः, अपीत्यकरस्य च "वष्टिभागुरिरल्लोप्रमवाप्योर्पसर्गयो"रित्यनुसारेण लोपः। स्वर्गाय वा उत्पतिता भवेत् स्वर्गं गन्तुमुड्डीना वा स्यात् पर अस्या मनो हृदय मयि भावेन आर्द्रमिति भावार्द्रमनुरक्तम्। स्वर्गायेति "क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थानिन " (२–३–१४) इति चतुर्थी। मे पुरः वर्तते इति पुरोवर्तिनी ता समक्ष स्थिता ता विबुधान् देवान् द्विपन्तीति विबुधद्विषो दानवा अपि हनु ँ न शक्ताः न समर्थाः। अनेन स्वशक्तिकथनाद् व्यवसायो नाम सन्ध्यङ्गमुक्त भवति। तथापि च साऽत्यन्तम् अदर्शन लोप गत इत्यय कोऽनिर्वाच्यो मे विधिर्देवम्। शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥२॥

अये ! परावृत्त विपरीत भागधेय भाग्य येषान्ते परावृत्तभागधेयास्तेषा दुःख दुःखमनुबध्नातीति दुःखानुबन्धि। विपद् विपदमनुबध्नाति। तदुक्त नीतिशतके "प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापद ।" कुतः कस्मादिद वक्तव्य भवतीति उच्यते—

अयमेकपद इति—एकपदे सहसा तया प्रियया अ सुदुःखेन सह्यत इति सुदुःसहोऽसह्यः वियोगः च मे उपनतः सम्प्राप्तः। धरन्तीति धर, वारीणा धरा इति वारिधरा मेघा, नवाश्च ते वारिधरास्तेषामुदयस्तस्माद् नवमेघोदयाद् अहोभिर्दिवसैः निर्गतः आतपः येभ्यस्तानि निरातपानि। तेषा भावो निरातपत्व तेन रम्याणि तैरातपविरहितत्वान्मनोरमैर्भवितव्यम्। 'तत्समैकपदे तुल्ये सद्यः सपदि च स्मृतम्' इति हलायुधः। औपच्छन्दसक छन्दः ॥३॥

अनुवाद—

(इसके बाद पागल का-सा वेष बनाये राजा प्रवेश करता है।)

राजा—अरे दुष्ट राक्षस ! ठहर, ठहर। मेरी प्रियतमा को लेकर कहाँ जा रहा है ? अरे ! पर्वत की चोटी से आकाश मे उडकर मुझ पर बाणों की वर्षा कर रहा है ! (अच्छी तरह देखकर)

यह नया बादल उमड रहा है, अभिमानी राक्षस नही, यह इन्द्र धनुष दूर तक खिचा हुआ है, शरासन धनुष नही; यह तेज वर्षा की धारा गिर रही है, बाणो की धारा नही और यह कसौटी पर सोने की रेखा जैसी विद्युत् है, मेरी प्यारी उर्वशी नही ॥१॥

(सोचकर) न जाने वह रम्भोरु (केले जैसी जघाओ वाली) कहाँ गयी होगी—

वह क्रोध के कारण दिव्यशक्ति से अपने को छिपाकर यही खडी रह सकती है किन्तु वह देर तक क्रुद्ध नही रहती । शायद वह स्वर्ग के लिये उड गयी है। किन्तु उसका मन तो मुझमे अनुरक्त है । मेरे सामने रहने पर उसे राक्षस भी उडा नही ले जा सकते । फिर भी वह आँखो के सामने से बिल्कुल ओझल हो गयी है । यह भी कैसा भाग्य है ॥२॥

(दिशाओ को देखकर—साँस छोडते हुए) जिनका भाग्य पलट जाता है उनका एक दु ख दूसरे को साथ लेकर आता है । क्योकि—

एक ओर तो सहसा ही प्रिया का यह असह्य वियोग मुझ पर आ पडा है और दूसरी ओर नये-नये बरसाती बादलो के उमडने से अब बिना धूप के मनोरम दिन होगे ॥३॥

टिप्पणी—उन्मत्तवेष—उन्मादग्रस्त राजा की ये उक्तियाँ हैं । दशरूपक मे कहा है कि सनिपात आदि रोगो के कारण उन्माद हो जाता है जिससे व्यक्ति विचार-शक्ति खो बैठता है । इसमे वह कभी रोता है, कभी गाता है, कभी हँसता है और कभी बैठा ही रहता है । भरत ने नाट्यशास्त्र मे कहा है कि यह इष्टजन के वियोग से उत्पन्न होता है। इसमे अकारण हँसना, रोना, बैठ जाना, चलना, दौडना आदि होता है। कनकनिकष—कनकस्य निकष स इव स्निग्धा । सोने की लकीर जैसी सुन्दर । रम्भोरू.—रम्भे इव ऊरू यस्या सा रम्भोरु । 'उरूत्तरपदादौपम्ये' ४–१–६९ सूत्र से 'ऊङ्' स्त्रीप्रत्यय होता है। प्रभावपिहिता—प्रभावेण पिहिता । तिरस्करिणी विद्या के प्रभाव से छिपी हुई। अपि+धा+क्त स्त्री=अपिहिता । "वष्टि भागुरिरल्लोप-मवाप्योरुपसर्गयो." से अनुसार अपि के 'अ' का लोप होने से पिहिता शेष रहता है ता हतुम्—इस पयन मे अपनी शक्ति से पयन के कारण व्यवसाय

तत् किं कथं नाह जलदानां समयस्य न प्रत्यादिशामि निराकुर्याम्। अथवा निराकरणे न कोऽपि लाभो यत सम्प्रति प्रवर्तते इति प्रावृट् तस्या भवाः प्रावृषेण्यास्तं 'प्रावृष एण्य' (४–३–१७) इति एण्यप्रत्ययः। एव लिङ्गैश्चिह्नैर्मम राज्ञः उपचारश्छत्रचमरवन्दिजनवाहनादि. सम्प्रति। कथमिव—

विद्युल्लेखेति—विद्युदेव लेखारूपकनकमथवा विद्युतो लेखेति विद्युल्लेखास्तैवकनकं तेन रुचिरं मनोज्ञमम्रपयोदो मम श्रियो वितानं श्रीमद् वा वितानमिति श्रीवितानं सुन्दरः उल्लोचः। निचुल्तरुमिर्मञ्जर्य एव *चामराणि इति मञ्जरीचामराणि ममोपरि व्याधूयन्ते वीज्यन्ते घर्मस्य आतपस्य* छेदाताघात् ग्रीष्मस्य समाप्तेः पटुतरा गीर्येषां ते पटुतरगिरो मधुरतरभाषिणो नीलकण्ठा मयूरा एव वन्दिनो यशोगायकः। वर्षाकाले मयूराः मधुरतर केकाः कुर्वन्तो नृत्यन्ति। धारासारम्य वर्षासम्पातस्य प्रचुरघनसम्पत्तेश्चोपनयने पराः सलग्ना अम्बूनि वहन्तीति अम्बुवाहा मेघाश्च नैगमा वणिज सन्ति। *पयोदानां पक्षे धारा एव सारो द्रव्य, वणिजां पक्षे च धारारूपं यत् सारं धनं* तस्य उपनयने प्रापणे सलग्नाः। निगमे वणिक्पथे भवाः नैगमाः। सानुमन्ता इति पाठे पर्वताः नैगमा सानव सन्ति येषा ते समनुमन्तः पर्वता अत्र परम्परितरूपकमलङ्कारः। सोऽपि पादत्रये शुद्धमन्तिके च पादे श्लिष्टम्। मन्दाक्रान्ता च वृत्तम् ॥४॥

भवतु किं को लाभ एव परिच्छदस्य उपकरणभूतस्य वस्तुनः *श्लाघया* प्रशंसया ? *यावदस्मिन् कानने प्रियामन्वेषयामि विचिनोमि* (विलोक्यतस्ततो दृष्टिं दत्वा) हन्त इति हर्षे व्यवसितस्य उर्वश्या अन्वेषणे व्यापृतस्य मे सन्दीपन प्रोत्साहकमिव सवृत्त जातम्। कुत कथमेवमित्येव विवादयति :—

आरक्तेति—इयं नवा चासौ कन्दली वर्दली (इति भाषायाम्) सलिल जल गर्भे येषां तानि तैरन्तर्गतजलै आरक्ता ईषद् रक्ता राजयो येषु तैः कुसुमैः *मा तस्याः प्रियायाः कोपाद् अन्तर्गतं बाष्पमयोस्ते तादृशे अविगलिताश्रुणी लोचने* नेत्रे स्मरयति। अन्तर्जलकन्दली कुसुमानि स्वीयरक्तवर्णेन कुद्धायास्तस्या आरक्ते अश्रुपूर्णे च नेत्रे स्मरयन्ति। कन्दली नाम लघुवृक्षो यस्य कुसुमानि

रक्तानि पीतानि च भवन्ति। स्मरणमलङ्कारः। आर्याच्छन्दः। णिजन्तस्य स्मृधातोरुत्कण्ठापूर्वकं स्मरणमत्रार्थः। अन्यथा स्मारयतीति प्रयोगः॥६॥

अनेन पथा, इतो गता इति कथं नु केन प्रकारेण तत्रभवती मया सूचयितव्या परिज्ञातव्या। यतः—

पद्भ्यामिति—यदि सा सु सुन्दर गात्र यस्याः सा पद्भ्या चरणाभ्या वसूनि घनानि सन्ति यस्या सा वसुमती पृथ्वी ता स्पृशेत् ततः तदा मेघैः अभिवृष्टा आर्द्रता नीताः सिकता—यासा तासु वनस्थलीषु वनस्याकृत्रिमभूमिषु गुरु नितम्बो यस्याः सा गुरुनितम्बा तस्याः भावो गुरुनिम्बता तया पश्चात् पृष्ठभागे नता गाढानुप्रविष्टा अलक्तकमङ्को चिह्नं यस्या सा लाक्षारागमयी अस्याः चारुः पदयोः पङ्क्तिः दृश्येत उर्वशी गुरुनितम्बिनी वनभूमिश्च वर्षणेन मृदुः तेन तस्या अनेन पथा गमने वनस्थल्या पादाङ्काः स्पष्टाः स्युरिति भावः। स्थली अकृत्रिमा भूमि.। वसन्ततिलका वृत्तम्॥६॥

अनुवाद—(हँसकर) सचमुच मैं व्यर्थ ही अपने मन के बढते हुए परिताप की उपेक्षा कर रहा हूँ क्योकि मुनि लोग भी कहते हैं कि राजा काल का कारण होता है। तो क्यो न मैं वर्षाकाल ही को न आने दूँ। किन्तु नही, क्योकि मेरा राजसी ठाठ-बाट वर्षा मे होने वाले साघनो से ही है।

बिजली की सुनहरी रेखा के कारण सुन्दर लगनेवाला बादल मेरा शोभामय शामियाना है। निचुल के वृक्ष मुझ पर अपनी मञ्जरियो के चँवर डुला रहे हैं। गर्मी के समाप्त हो जाने के कारण और अधिक मीठी बोली बोलने वाले मोर मेरे वन्दीजन हैं और घुआँधार पानी बरसाने वाले ये पर्वत मुझे भेंट मे अविच्छिन्न घन प्रदान करने वाले व्यापारी हैं॥ ४॥

खैर जाने दो, अपने ठाठ-बाट की प्रशंसा करने से क्या लाभ ? पहले इस कानन मे प्रिया को ढूँढूँ। (देखकर) ओफ ! ढूँढने का उपक्रम करते ही (मेरी पीडा का) उद्दीपन प्रारम्भ हो गया।

कदली का यह नया पौधा भीतर पानी और ऊपर लाल-लाल कलँगी लिये हुए फूलो से मुझे उसके भीतर आँसू भरे हुए क्रोध से लाल नेत्रो का स्मरण दिला रहा है॥ ५॥

कैसे पता लगाऊँ कि वह (श्रीमती) इस रास्ते से गयी है।

यदि उस सुगात्री (सुंदरी) ने पैरों से पृथ्वी का स्पर्श किया होता तो बड़े बड़े नितम्बों के कारण इस वनस्थली में बादलों की वर्षा से गीली बालू पर पीछे की ओर दबे हुए उसके महावर से रँगे पैरों के निशान दिखायी देते ।। ६ ।।

टिप्पणी---राजा कालस्य---महाभारत के उद्योगपर्व (१३२-१६) में कहा है---काल का कारण राजा या राजा का कालकारणम्'---इति ते संशयो मा भूत् राजा कालस्य कारणम ।

प्रावृषेण्यैः---प्रावृषि भवानि प्रावृषेण्यानि तैः । प्रावृष एण्य' ४-३-१७ से एण्य प्रत्यय होता है। धारासारोपनयनपरा---यह नैगमा (निगमे वणिक्पथे भवा =व्यापारी लोग) का विशेषण है। साथ ही सानुमन्ता (सानव श्रृङ्गाणि सन्ति येषा ते=पर्वत) का विशेषण है। नैगम पक्ष में (१) धारारूप यत् सारम् (बेरोक सम्पत्ति) तस्य उपनयने (लाने में) परा और सानुमान् के पक्ष में (२) धारासारस्य (लगातार वर्षा के) उपनयने परा---यह व्याख्या होगी। आरक्तराजिभि---आरक्ता (ईषद् रक्ता) राजयो येषु तानि आरक्तराजीनि तैः । कुसुमैः का विशेषण है। मेघाभिवृष्ट-सिकतासु---मेघैः अभिवृष्टा सिकता यासु ता, तासु। जिनकी बालू पर पानी बरस चुका है।

मूलपाठ---(परिक्रम्यावलोक्य च सहर्षम्) उपलब्धमुपलक्षण येन तस्या कोपना या मार्गोऽनुमीयते ।

हृतोष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिर्निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्,
च्युत रुषा भिन्नगतेरसशय शुकोदरश्याममिद स्तनांशुकम्।।७।।

(विभाव्य) कथ सेन्द्रगोप नवशाद्वलमिदम्। कुतो नु खलु निर्जने वने प्रिया प्रवृत्तिरव गमयितव्या। (दृष्ट्वा) अये आसारोच्छ्वसित-शैलेयस्थलीपाषाणमारूढ ---

आलोकयति पयोदान् प्रबल पुरोवात ताडित शिखण्ड ।
केकागर्भेण शिखी दूरोन्नमितेन कण्ठेन ।।८।।

(उपेत्य) यावदेनं पृच्छामि---

नीलकण्ठ ममोत्कण्ठा वनेऽस्मिन् वनिता त्वया,
दीर्घापाङ्गा सितापाङ्ग दृष्टा दृष्टि क्षमा भवेत् ॥९॥

कथमदत्वा प्रतिवचनं नर्तितुं प्रवृत्तः । किं नु खलु हर्षकारणमस्य । (विचिन्त्य) भवतु, विदितमेतत् ।

व्याख्या—(परिक्रम्येतस्ततोगत्वा विलोक्य परितो दृष्ट्वा सहर्षम्) चपलत्व प्राप्तमुपलक्षण चिह्नोयेन तस्याः कुप्यति एव शीला कोपना तस्याः मार्गो अनुमीयते कल्पनयता ज्ञायते—

हृतोष्ठेति—निमग्ना गम्भीरा नाभिर्यस्याः सा तस्याः तया च रुषा क्रोधेन मिश्राविसष्ठुला गतिर्यस्याः सा तस्याः प्रियायाः हृतः ओष्ठरागः यैस्तैः हृतोष्ठरागैः गृहीतोष्ठगतलाक्षारागैर्निपतद्भिरघो विगलद्भिरुदवस्व विन्दव इति उदविन्दवः (उदकस्योदादेशः) नयनयो रुदविन्दव इतिनयनाद विन्दवस्तैः अङ्कितमुपलक्षितम् इद शुकस्य उदरो मध्यभागः स इव श्याम हरितवर्णं च्युतम् स्रस्त स्तनांशुकमुत्तरीयं परिधानम् (दृश्यते)

शाद्वले (बालतृणेषु) हरितवर्णे स्थिताः रक्तवर्णा इन्द्रवधूटिकाः दृष्ट्वा राजा चिन्तयति यदिद मे प्रियायाः हरितवर्णं स्तनांशुकम् । यादृशो वर्णः स्तन-परिधानवस्त्रस्य तादृश एव हरितस्य शाद्वलस्य । रुदत्याः मे प्रियायाः अश्रुविन्दवः ओष्ठयोः लाक्षाणामपहृत्य तत्सम्पर्कवशेन रक्तवर्णा जाताः । तैश्च परिधाने निपत्य हरितवर्णे यत्र तत्र रक्त-बिन्दु चिह्नानि निहितानि । शाद्वले यत्र-तत्र स्थिता इन्द्रगोप्योऽपि रक्तवर्णत्वात् तथैव प्रतिभान्ति अतएव हरित दूर्वा तृणेषु राज्ञः स्वप्रिया परिधान-भ्रान्ति. । भ्रान्तिमानलङ्कारः । वंशस्थविल वृत्तम् ॥७॥

अत्र हृत+ओष्ठरागैरित्यत्र विकल्पेन पररूपम् "ओत्वोष्ठयोः समासे वा" इति वार्तिकेन । ओष्ठयोरलक्तकेन रञ्जन प्राचीनकालेऽति प्रसिद्धमासीत् । उक्त च कुमारसम्भवेऽपिकविना (३-३०) "रागेण बालारुण कोमलेन चूत-प्रवालोष्ठमलञ्चकार" इति । निम्ननाभिश्च सौन्दर्यवर्धिनीतिकविभिर्बहुशो भणितं "मध्ये क्षामा चकित हरिणी प्रेक्षणा निम्नानाभिः" (मेघ० २-२२) शुकस्य मध्यभागोऽन्याङ्गापेक्षया हरिततरो न भवति सामान्यतः । तथापि । कविना 'शुकोदरश्याम' मिति पदस्य यो व्यवहारः कृतः सतु शुकजाते-

विशिष्टं प्रकारमभिलक्ष्यैव। (विभाव्य ध्यानपूर्वकं दृष्ट्वा) भयाम् इन्द्र गोपैः सहितमिति सेन्द्रगोप वर्षा कालोद्भवैः इन्द्र गोपाख्यैः (वीरवहूटी इति भाषायाम्) कीट विशेषैर्युक्तं नव शाद्वल यत्र तत् स्थल बालतृणमयीभूमिः। कुतः कस्मात् जनात् न् खलु इति विसेक प्रियायाः प्रवृत्ति. समाचारोऽवागमपि तस्या लब्धव्या। (दृष्ट्वा)

अये आसारेण धारासम्पातेन उच्छासिता तुषारावृता शिलायाभवा इति शैलेयी स्थली। "नद्यादिभ्योढक्" सतत वृष्ट्या उच्छ्वसन्तीऽवेय पाषाणमयी भूमिः। तस्या पाषाण शिलाखण्डमारूढः शिखो इति अग्रिमेणान्वय।

आलोकयतीति—प्रबलस्तीव्रश्चासौ पुरोवातः पुरतोऽग्रता वहन्।

वायुस्तेन नर्तितः शिखण्डो वर्हो यस्य स एवविध शिखो मयूरः दूर दूर प्रदेशं यावद्दूरतो वा उन्नमितेन उद्गमितेन केका मयूरवाणी गर्भे अन्तरे यस्य स तेन कण्ठेन पयोदान मेघानालोकयति पश्यति। वर्षा-काले वायुः पुरतो वाति। मयूरस्यमनसि चप्रसन्नता जनयति तेन स नृत्यन् केका च कुर्वन् कण्ठ-मुन्नमय्य पयोदानवलोकयति। (उपेत्य समीप गत्वा) यावद् एनशिखिन पृच्छामि—आर्याच्छन्दः कण्ठेनेति उपलक्षणे तृतीया ॥८॥

नीलकण्ठ इति—सितेशुभ्रे अपाङ्गे यस्य स सबोधने सितापाङ्ग नीलः कण्ठ यस्य स नीलकण्ठस्तत्सबुद्धौ हे नीलकण्ठ त्वया काचिद् उद्गतः कण्ठ यस्या सा उत्कण्ठा उन्मुखी दीर्घे अपाङ्गे यस्या सा दीर्घापाङ्गा आकर्णपूर्ण नयना दृष्टो दर्शनेक्षमा योग्या इति दृष्टिक्षमा सुदर्शना अस्मिन् वने दृष्टा भवेत्। अथवा हे नीलकण्ठ! इय मे उत्कण्ठा जिज्ञासाऽस्ति। उत्कण्ठा लक्षण च "रागेष्वलब्ध विषये वेदना महतीतु या सशोषणी तु गात्राणा तामुत्कण्ठा विदुर्बुधाः।" इति अनुष्टुब्वृत्तम् ॥९॥

कथम् इत्याश्चर्ये अदत्वा एव प्रतिवचन प्रत्युत्तर नर्तितु प्रवृत्तः। किं न खलु हर्षकारणमानन्दहेतुरस्य (विचिन्त्य) भवतु विदित ज्ञातमेतत्—

अनुवाद—(इधर-उधर चलकर और देखकर आनन्द के साथ) अब पहचान मिल गयी जिससे उस कोपना (गुस्सैल) के मार्ग का अनुमान किया जा सकता है।

निश्चय ही यह मेरी गहरी नाभि वाली प्रिया का, तोते के पेट के समान गहरा हरा स्तनांशुक (स्तनों पर ओटने का दुपट्टा) है जो श्रम के कारण चाल के डगमग होने से गिर गया है। इस पर अपने साथ ओठों पर लगे लाल रंग को बहा लाने वाले, उसकी आँखों से नीचे टपकते हुये आँसुओं के (लाल) चिह्न (दाग) हैं ॥७॥

(ध्यानपूर्वक देखकर) अरे यह तो वीरबहूटियों से युक्त ताजी हरी-हरी घास का मैदान है। तो इस निर्जन वन में प्रिया का हाल-चाल कैसे मालूम करूँ ? (देखकर) अरे वर्षा की बौछार से कुहरायी हुयी पहाडी भूमि मे पत्थर पर बैठा हुआ—पखों पर तेज पुरवा के थपेडे खाता हुआ यह मोर कण्ठ को खूब ऊँचा उठाये और उसमे केका (मोर की बोली) भरे हुये बादलों को देख रहा है ॥८॥

(पास जाकर) तो इससे पूछूँ।

हे सफेद अपागों (नेत्रों की कोरें) और नीले कण्ठ वाले मोर ! क्या तुमने मेरी बडे-बडे अपागो और ऊँची गरदन वाली प्रिया को इस वन मे देखा है। वह देखने योग्य थी ॥९॥

अरे ! उत्तर बिना दिये ही नाचने लग गया। इसके आनन्द का क्या कारण हो सकता है ? (सोचकर) खैर मालूम हो गया।

टिप्पणी—हृतोष्ठरागैः—हृतः ओष्ठस्य रागो यैस्तैः। हृतोष्ठरागास्तैः। "ओत्वोष्ठयोः समासे वा" वार्तिक के अनुसार हृत+ओष्ठ=हृतौष्ठ तथा हृतोष्ठ ये दोनो रूप होते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि प्राचीन भारत मे स्त्रियाँ साधारणत. ओठों पर लाल रंग लगाती थीं। उद बिन्दवः—उदकस्य बिन्दव। बिन्दु, मन्थ आदि शब्द आगे रहने पर समास में उदक् का रूप उद हो जाता है। आसारो ''पाषाणम्—आसारेण उच्छ्वसिता इति आसारोच्छ्वसिता। सा चासौ शैलेय स्थली। तस्या पाषाण तम्। शिलाया भवा शैलेयी। "नद्यादिभ्याढक्" (४-२-९७) सूत्र से ढक् प्रत्यय और ढ को एय आदेश होता है। प्रबल ''शिखाण्ड.—प्रबलश्चासौ पुरोवातः। तेन ताडितः शिखण्ड यस्य। पुरोवात का ही अपभ्रंश रूप पुरवा या पुरवाई है। कण्ठेन—उपलक्षणे तृतीया है। उत्कण्ठा—उद्गतः कण्ठः यस्या. सा। उन्नत

वण्ड वाली। यह वनिता का विशेषण है। दीर्घापाङ्गा—दीर्घे अपाङ्गे यस्याः सा। आँखो की लम्बी कोरो वाली स्त्री। दृष्टिक्षमा—दर्शनीय या सुन्दरी।

मूल पाठ—मृदुपवन विभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घन रुचिर कलापो नि सपत्नोऽस्यजात'।
रति विगलित बन्धे केशहस्ते सुकेश्याः
सति कुसुम-सनाथे किं करोत्येपवर्ही ॥१०॥

भवतु, पर व्यसन निवृत्त न खल्वेन पृच्छामि। (परिक्रम्य) इयमातपान्त-संक्षुभितमदा जम्बू विटपमध्यास्ते परभृता। विहङ्गमेषु पण्डिता जातिरेषा। यावदेनामभ्यार्थये—

त्वा कामिनो मदनदूतिमुदाहरन्ति,
मानावभङ्ग निपुण त्वममोघमस्त्रम्।
तामानय प्रियतमा मम वा समीपं
मा वा नयाशु कलभापिणि यत्रकान्ता ॥११॥

किमाह भवती। कथ त्वामेवमनुरक्त विहाय गतेति। शृणोतु भवती।

कुपिता न तु कोपकारण सकृदप्यात्मगत स्मराम्यहम्।
प्रभुता रमणेषु योषिता न हि भाव स्खलितान्यपेक्षते ॥१२॥

कथ कथाच्छेद कारिणी स्वकार्ये एव सवता।

व्याख्या—मृदुपवनेति—मम प्रियेति मत्प्रिया तस्या विनाशस्तस्मात् मम प्रियाया अन्तर्धानात् अस्य मयूरस्य मृदुना मन्देन पवनेन विभिन्नः विलुलितः, घनश्चासौ रुचिर इति घनरुचिर', निविडः सुन्दरश्च अथवा घनइव रुचिरः मेघश्याम' कलाप' पिच्छभार बर्हो वा अद्य नि' सपत्नः प्रतिद्वन्द्विरहितः जात'। प्रियाया विद्यमानायां मयूरबर्हभारः तस्याः केशपाशेन साम्य नाभजत। अत्र विनाश शब्दोऽमङ्गलसूचक इति मन्येनाय काव्यदोषेषु परिगणितः। शोभना' केशा यस्या सा सुकेशी तस्याः रुचिर केशकलापायास्तस्या कुसुमै-सनाथे पुष्प-मज्जिते रतौ सुरत व्यापारे विगलितः शिथिली भूतो बन्ध यस्य तदृशेकेशा हस्ते केशपाशे सति विद्यमाने एप बर्हो मयूरः किं करोति। तदा

तु लज्जित सन्नेवमानन्देन नर्तितुं न शक्नुयात् प्रत्युतः लज्जितः सन्नधोमुखस्ति-ष्ठेत्। कुसुमशनाये इति विशेषण मयूरबर्ह-चन्द्रक-साम्य प्रदर्शनाय। व्यतिरेकालङ्कारः। मालिनी वृत्तम्। तल्लक्षणन्तु "नन मयययुतेऽत्र मालिनी मन्त्रुलोके" ॥१०॥

भवतु परस्यान्यस्य व्यसन कष्टं तेन निर्वृत्त सुखितमतएव नीच प्रकृति-मेन न पृच्छामि प्रियाविषये। पृच्छामीति भविष्यदर्थे लट् "वर्तमान सामीप्य वर्तमानवद्वा" इतिसूत्रेण। (परिक्रम्य) अयं इयम् आतपस्य ग्रीष्मकालस्य अन्त इति आतपान्तो वर्षाकालः तेन सधुक्षित सन्दीपितो मदो यस्याः स परेणभृता इति परभृता कोकिलः जम्बू विटपम् जम्बूवृक्षशाखाम् अध्यास्ते। "अधिशीङ्स्थाऽऽसा कर्म" ति द्वितीया। विहङ्गमेषु पक्षिषु पण्डिता जातिरेषा परभृता। यावद् एनाम् अभ्यर्थये प्रार्थयामि प्रियायाः विषये किञ्चित् सूचयितुम्।

त्वामिति—कामोऽस्तियेषा ते कामिनः कामुक जन त्वा मदनस्यकामदेवस्य दूति दूतीं सन्देशसहराम् उदाहरन्ति कथयन्ति। त्व मानस्य प्रणय रोषस्य अवभङ्गो विदारण तत्र निपुण चतुरं अमोघमविफलमस्त्रम्। त्वमेव मानिनीना मानविमोचने सदा समर्था। कल मधुर भाषते कूजति इति कलभाषिणी तत्सबुद्धौ हे कलभाषिणि ता प्रियतमा मम समीपमानय। चातुर्येण तस्याः मान दूरीकृत्यतामत्रा हर। वा अथ वा तस्या अत्र आनयन न सुकर यदि तदा यत्र कान्ता मे प्रिया विद्यते तत्र मा नय। यति शब्द इकारान्तः कविना रघुवशेऽपि प्रयुक्त "तेन दूतिविदित निषेदुषा" इत्यत्र। तदुक्त शब्दचिन्तामणौ "दूतिर्दूतीव दूतिका" इति। कोकिलायाः रतिदौत्य कुमारसम्भवेऽपि (४–१६) वर्णित यथा "रतिदूतिपदेषु कोकिला मधुरालाप निसर्ग पण्डिताम्" इति। मानविभञ्जन सम्बन्धेऽपि कुमारसम्भवे (३–३८) उक्त "चूताङ्कुरास्वाद कषाय कण्ठः पुस्कोकिलो यन्मधुर चुकूज—मनस्विनी-मान-विघात दक्ष तदेव जात वचन स्मरस्य" ॥११॥

किमाह भवती किं पृच्छति भवती। एवमति गाढम् अनुरक्त तस्या स्नि-ह्यन्त त्वा विहाय परित्यज्य कथ गता। शृणोतु भवती अस्योत्तरम्। आकाश-भाषितमिदम् कुपितेति—सा कुपिता इति सत्य परम् किन्तु अहमात्मान स्व-

निष्ठ सकृदपि एकमपि कोपस्य कारण न स्मरामि। सा कुपिता इति तु मे विदित पर केन मेऽपराधेन कुपिता इति मे न ज्ञातम्। योषिता स्त्रीणा रमयन्तिरम्यते वा येषु ते रमणापतयतेषु प्रभुता पूर्णाधिकारः। सा प्रभुता कोपाय भावस्य प्रेम्णः स्खलितानि नायिकान्तर दर्शनानुरागादीनि कारणानि नापेक्षते। कारणाभावेऽपि मानीनां कोपः सपद्यते न मूथः। विभावना, अर्थान्तरन्यासश्चालङ्कारः। वियोगिनी वृत्तम ॥१२॥

अनुवाद—मेरी प्रिया के खो जाने से अब इसके हौली-हौली हवा मे हिल्ते हुये, घने सुन्दर पखो का कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रह गया। यदि उस सुकेशी (सुन्दर बालो वाली) की फूलो से सजी और कामक्रीडा मे ढीली पडी हुयी चोटी आज होती तो यह मोर क्या करता ? ॥१०॥

जाने दो, दूसरे के दु ख से सुख मनाने वाले इस मोर से नहीं पूछूंगा। (इधर उधर चल्कर) यह परभृता कोकिल, जिसकी मस्ती ग्रीष्म ऋतु के बीत जाने से भडक उठी है, जामुन की डाल पर बैठी हुई है। पक्षियो मे यह पण्डित जाति होती है। इसी से अभ्यर्थना करूँ—

कामी लोग तुम्हे कामदेव की दूती कहते हैं। तुम (मानिनियो का) मानभग करने के लिये उत्तम और कभी व्यर्थ न जाने वाला अस्त्र हो। हे मधुर भाषिणि ! या तो उस प्रियतमा को मेरे पास ले आओ या जहाँ वह कान्ता है वहाँ मुझे ले चलो ॥११॥

क्या कहा आपने ? तुम तो इतने अनुरक्त थे। तुम्हे छोडकर कैसे चली गयी ? आप सुनिये।

यह कुपित हो गयी किन्तु स्मरण नहीं आता कि मैंने एक बार भी इसे क्रोध का काई कारण दिया हो। (वैसे) स्त्रियो का अपने प्रेमियों पर ऐसा अधिकार होता है कि उन्हे (क्रुद्ध होने के लिये अपने प्रेमियो की) प्रेम सम्बन्धी भूलो की आवश्यकता नही होनी ॥१२॥

से ऐसा अमङ्गलसूचक प्रयाग विप्रलम्भ शृङ्गार का पोषक ही है। रति विगलित बन्धे—रतौ विगलितः बन्धः यस्य, तस्मिन्। आतपान्त सन्धुक्षितमदा—आतपस्य अन्तः (वर्षाकाल) तेन सन्धुक्षितः (प्रवर्धितः) मदो यस्याः सा।

परता—परैणभृता (दूसरे के द्वारा पोषित) कहा जाता है कि कोयल अपने अण्डे प्रसविणी काकी (स्त्री-कौवा) के घोंसले में रख देती है। कौवा (मादा) ही उसे पालती है। इसीलिये कोकिला को परभृत कहते हैं। मदन दूतिम्—दूति शब्द इकारान्त भी है और ईकारान्त भी।

मूल पाठ—महदपि परदुःखं शीतलं सम्यगाहुः,
प्रणयमगणयित्वा यन्ममापद् गतस्य।
अधरमिव मदान्धा पातुमेषा प्रवृत्ता,
फलमभिमुखं पाकं राज जम्बुद्रुमस्य॥१३॥

एवं गतेऽपि प्रियेव मे मञ्जुस्वनेनि न कोपोऽन्याम् सुखमास्ता भवती। साधयामस्तावत्। (परिक्रामितकेन। कर्णदत्वा) अये दक्षिणेन प्रियाचरण-निक्षेप-शंसी नूपुररवः। यावदत्र गच्छामि। (परिक्रम्य) अहोधिग्-दिक्—

मेघ श्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुक चेतसाम्।
कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुर-शिञ्जितम्॥१४॥

भवतु, यावदेते मानसोत्सुकाः पतत्रिण. सरसो नोत्पतन्ति तावदेतेभ्यः प्रिया प्रवृत्ति रव गमयितव्या। (उपेत्य) भो भो जलविहङ्गमराज—

पश्चात् सरः प्रतिगमिष्यति मानस तत्
पाथेयमुत्सृज बिस ग्रहणाय भूयः।
मा तावदुद्धर शुचो दयिता-प्रवृत्त्या
स्वार्थात् सता गुरुतरा प्रणयिक्रियैव॥१५॥

यथोन्मुखो विलोकयति मानसोत्सुकेन मया न लक्षितेत्येव वचनमाह।

व्याख्या—कथ कथाया वार्तालापस्य छेदो भङ्गस्त करोतीति कथाच्छेदकारिणी स्वकार्ये एवसक्ताव्यापृता।

महदपीति--महद् असह्यमपि परेषादुःख परदुःख शीतलमनुद्वेगजनकं इति यत् आहुः जनाः कथयन्ति तत् सम्यग् अन्वर्थमेव । यद् आपदं गत इति आपद्गतस्तस्य मम प्रणयं याञ्चा प्रार्थना वा अगणयित्वा अवमत्य एषा परभृता मदेन अन्धा गर्वेन क्षीवतया वा विवेकरहिता राज-जम्बूद्रुमस्य उत्तमस्य जम्बू वृक्षस्य *अभिमुखः* सन्निकटः पाक पक्वावस्था यस्य तत् फलमधरमिव पातु प्रवृत्ता । जम्ब्वा सह राजशब्द. श्रेष्ठत्व प्रतिपादकः । अधरमिवेत्यत्रोपमा । अर्थान्तरन्यासोऽपि । मालिनी वृत्तम ॥१३॥

एवगतेऽपि सत्यामपि एतस्या स्थितौ एषा परभृता मे प्रिया इव प्रियः स्वनः शब्दो यस्याः सा प्रियभाषिणी इति अस्मात् कारणात् न कोपोऽस्या (करिष्यामि) सुखमानन्देन आस्ता तिष्ठतु भवती । साधयामो गच्छामस्तावत् । (परिक्रामितकेन इतस्तः परिक्रामन् कर्णं दत्वा किञ्चित् शृण्वन्) अये दक्षिणेन दक्षिणभागे *प्रियायाश्चरणौ तयोर्निक्षेपस्त शसतीति प्रिया चरण-निक्षेपशसी* प्रिया-पाद-न्यास सूचकः शब्दः श्रूयते इति शेषः । यावद् अत्र दक्षिणभागे गच्छामि । (परिक्रम्य दक्षिण-दिशि गत्वा) अहो धिग्-धिक् कष्ट-व्यञ्जक-मिदम् ।

मेघेति—मेघैः श्यामः इति मेघ श्यामाः घन कृष्णाः दिशो दृष्ट्वा मानसे उत्सुक चेतः—यस्यतेन *मानस-सरोवरं जिगमिषुणा* राजहसेन कूजित शब्दा-यितम् । इद नूपुराणा शिञ्जितं शब्दो न । वर्षासु हसा मानसं यान्तीति कवि-प्रुरुढिः । अनुष्टुपवृत्तम् ॥१४॥

भवतु नस्यादेतत् नूपुर शिञ्जितम् । यावत् एते मानसाय उत्सुकाः मानस जिगमिषवः पतत्राणि पक्षाः येषासन्तीति पतत्रिणो हसा सरसोऽस्मात्तडागात् न उत्पतन्ति नोड्डीयन्ते तावत् एतेभ्य. प्रियायाः प्रवृत्तिः समाचारो वृत्तं वा *अवगमयितव्या उपलब्धव्या* । (*उपेत्य निकट गत्वा*) भोः *जलस्य विहङ्गमा-* स्तेषा राजा इति जलविहङ्गमराजः तत्सम्बुद्धौ ।

पश्चादिति—त्वं मानसमेतन्नामक सरः ह्रद प्रति पश्चाद् गमिष्यसि । पथि साधु पाथेयं मार्गहित साधक बिसं भूय. पुनर्ग्रहणाय त्यज । पथिन् शब्दात् "पथ्यतिथिवसति स्वपतेर्ढञ्" (४-४-१०४) इति ढञ् (एय) प्रत्ययः । हंसा मानसं गच्छन्तः बिसं पाथेयं गृह्णन्ति । मेघदूतेऽप्युक्तम् 'आकैलासाद् बिसकिस-

स्यच्छेद पाथेय वन्तः" (२-११) तावत् पूर्वं दयितायाः। प्रवर्त्ति। समाचारस्तया दयिता विपयकोदन्त प्रदानेन मा शुच शोकाद् उद्धर वर्हिनिष्कासय। सता सज्जनाना प्रणयिनः याचकस्य क्रिया कार्यमिति प्रणयि क्रिया स्वार्थाद् गुरुतरा महीयसी। सज्जना स्वकार्यापेक्षया प्रणयिना कार्यं महत्तरं मन्यन्ते। अत्रार्थान्तरन्यासोऽलङ्कार'। वसन्त तिलका वृत्तम् ॥१५॥

यया येन त्वम् उन्मुखः मुखमुपरि कृत्वा विलोकयसि ते मानसोत्सुकेन मानसो पतने दत्तमनसा मया न लक्षिता नावलोकिता इत्येव वचनमाह कथयसीति मे प्रतिभाति।

टिप्पणी—शीतलम्—अनुष्ण अर्थात् जो उद्वेजक न हो। राजजम्बुद्रुमस्य—जम्बू द्रुमाणा राजा इति राजजम्बुद्रुमः तस्य। राजन शब्द का प्रयोग श्रेष्ठ अर्थ में हुआ है और "राजदन्तादिषु परम्' सूत्र से राजन् शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ है।

मानसोत्सुक चेनसाम—मानसाय उत्सुक चेन येषा त, तेषाम्। सस्कृत कवियो के अनुसार हस वर्षा ऋतु मे मानस-सरोवर का चले जाते हैं—' पावसे मानस यान्ति हसाः।"

शिञ्जितम्—आभूषणो के बजने का शब्द। "स्वनिते वस्त्रपर्णाना भूषणाना तु शिञ्जितम्।"

अनुवाद—ठीक ही कहा है कि दूसरो का महान् दुःख भी उत्तेजक नहीं होता (इसलिये) मुझ विपद-ग्रस्त की प्रार्थना की परवाह न करके यह कोकिल जामुनो के इस पेड के पकते हुय फल का चूसने म इस तरह लग गयी है जैसे मद मे अन्धी होकर (प्रिय क) अधर का पान कर रही हो ॥१३॥

ऐसा होने पर भी प्रिया के समान मधुरभाषिणी हान के कारण इस पर मुझे क्रोध नहीं है। आप सुखपूर्वक बैठिये। हम जाते हैं। (इधर-उधर टहलकर-कान लगाकर) अरे! यह दाहिनी ओर नूपुर की स्वर प्रिया के पाँव रखने की सूचना दे रहा है। यही जाता हूँ। (घूम-घूम कर) ओफ, हाय हाय!

यह दिशाओ को बादलो से श्याम दखकर मानस सरोवर को जाने के लिये उत्कण्ठित राजहसो का कूजन है। यह नूपुर का शिञ्जित (शब्द) नहीं है ॥१४॥

गतमर्मिति गम धातोर्नपुंसके भावे क्तः। अर्थापत्तिरलङ्कारः। औपच्छन्दसक छन्दः।

अतोऽस्माद्धेतोश्च—हंस इतिश्च—हे हंस मे कान्ता प्रयच्छ मह्य देहि। वअस्यागतिस्त्वया हृता चोरिता इति तु स्पष्टमेव। विभावित. एकदेशः दृष्ट. चौरितस्याश यस्मिन् स विभावितैकदेशस्तेन एतादृशेन चौरेण यद् अभियुज्यते स्वामिना चोरे चोरितत्वेन यदारोप्यते तत् चोरेण देय भवति। दशरूपककारेणाय श्लोकोऽसत्प्रलाप नाम्नो वीथ्यङ्गस्योदाहरणरूपेणोद्धृतः। असत्प्रलापश्च "असम्बद्धकथा प्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः" इति। अत्र चोरत्वकल्पेन उत्तरार्धस्य वस्तुतो हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अनुष्टुप् वृत्तम्।१७।

(विहस्य उत्पतन्त हस दृष्ट्वा विहस्य) एष राजास्तेनान् चोरान् अनुशास्ति दण्डयति इति भयाद् उत्पतितः उड्डीनः (परिक्रम्य) अये अयमिदानी प्रियासहायः प्रियासहाया सहचरी यस्य स चक्रवाकस्तिष्ठति। तावदेद पृच्छामि।

रथाङ्गेति—हे रथाङ्गनामन् रथस्य अङ्ग रथाङ्ग चक्र नाम यस्य स चक्रवाकः तत् सबुद्धौ रथाङ्ग चक्र तद्वद् (वर्तुलं) श्रोणिबिम्ब नितम्बमण्डल यस्याः सा।

तया चक्राकार—नितम्बमण्डल्या प्रियया वियुतो विरहितः मनोरथाना शतैर्बहुभिरभिलाषैः वृतः युतोऽय रथी रथवान् पृच्छति। अत्रानुप्रासच्छटा दृष्टव्या। राजा रथी, पक्षी रथाङ्गनामा, प्रिया रथाङ्गश्रोणिरित्येव परस्परस्नेह सम्बन्धः सुव्यक्त एव। रथाङ्गश्रोणिबिम्बेत्यत्र धर्मलुप्तोपमा अनुष्टुप् वृत्तम्।१८।

अथ कः कः इत्याह। चक्रवाकः कः क. इत्येवं विरौति। राजा च तद् विरुत प्रश्नवाचीति मत्वाऽर्थाय संयोजति। मा तावत् न खलु विदितोऽभिज्ञातोऽहमस्य। अतएव अयं 'कस्त्व'मित्यनुयुङ्क्ते अह पुनः—

सूर्याचन्द्रमसाविति—यस्य मातामहपितामहौ मातामहश्च मातुः पिता, पितामह. पितु. पिताचेति सूर्यश्च चन्द्रमाश्चेति सूर्याचन्द्रमसौ। 'देवता द्वन्द्वे चे' ति (६–३–२६) सूत्रेण सूर्यस्य । यश्च उर्वश्या भुवा च पृथिव्या च द्वाभ्यामपि स्वयं पतिवृतः पतिरूपेण स्वीकृतः। एवभूतोऽहमस्मि। पुरुरवाः बुधस्य पुत्र आसीद् बुधश्च चन्द्रमसः। एवं चन्द्रमास्तस्य पितामहोऽभूत्।

चलो, इन मानसोत्सुक पक्षियों के तालाब से उड़ जाने से पहले ही इनसे प्रिया का हाल जान लेना चाहिये। (पास जाकर) अरे जलीय पक्षियों के राजा!

उस मानस सरोवर की ओर बाद में चले जाना। मार्ग का सम्बल यह कमलनाल रख दो। इसे बाद में ले लेना। मेरी प्रिया का समाचार देकर मुझे शोक से बाहर निकाल लो। सज्जन के लिये याचकों का काम अपने काम से अधिक बड़ा होता है।१५।

तुम जो मुंह ऊपर उठाकर देख रहे हो इससे यह बात कह रहे हो कि मानस के प्रति उत्कण्ठित होने के कारण मैंने (प्रिया को) नहीं देखा।

मूल पाठ—यदि हंस गता न ते नतभ्रूः
सरसो रोधसि दर्शनं प्रिया मे।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः
सकलं चोरगत त्वया गृहीतम् ॥१६।

अतश्च—हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता।
विभाविर्तैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥१७॥

(विहस्य) एष चौरानुशासी राजेतिभयादुत्पतितः
अय! क्वमिदानीं प्रियामहायरचाच्ववाकस्तिष्ठति। तावदेनं प्रच्छामि।

रथाङ्गनामन् वियुतो रथाङ्गश्रोणि बिम्बया।
अयं त्वां पृच्छति रथी मनोरथशतैर्वृतः ॥१८॥

कथं काक इत्याह। मा तावत् न खलु विदितोऽहमस्य—
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृतः पतिद्वाभ्यामुर्वश्या च भुवः च यः ॥१९॥

गतममिति गम धातोर्नपुंसके भावे क्तः। अर्थापत्तिरलङ्कारः। औपच्छन्दसकं छन्दः।

अतोऽस्माद्धेतोश्च—हंस इतिश्च—हे हंस मे कान्ता प्रयच्छ मह्यं देहि। वअस्यागतिस्त्वया हृता चोरिता इति तु स्पष्टमेव। विभावितः एकदेशः दृष्टः चौरितस्यांश यस्मिन् स विभावितैकदेशस्तेन एतादृशेन चौरेण यद् अभियुज्यते स्वामिना चोरे चौरितत्वेन यदारोप्यते तत् चोरेण देय भवति। दशरूपककारेणाय श्लोकोऽसत्प्रलाप नाम्नो वीथ्यङ्गस्योदाहरणरूपेणोद्धृतः। असत्प्रलापश्च "असवद्धकथा प्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः" इति। अत्र चोरत्वकल्पेन उत्तरार्धस्य वस्तुतो हेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। अनुष्टुप् वृत्तम्।१७।

(विहस्य उत्पतन्त हंस दृष्ट्वा विहस्य) एप राजास्तेनान् चोरान् अनुशास्ति दण्डयति इति भयाद् उत्पतितः उड्डीनः (परिक्रम्य) अये अयमिदानी प्रियासहायः प्रियासहाया सहचरी यस्य स चक्रवाकस्तिष्ठति। तावदेद पृच्छामि।

रथाङ्गेति—हे रथाङ्गनामन् रथस्य अङ्ग रथाङ्ग चक्रं नाम यस्य स चक्रवाकः तत् संबुद्धौ रथाङ्ग चक्र तद्वद् (वर्तुलं) श्रोणिबिम्बं नितम्बमण्डलं यस्याः सा।

तया चक्राकार—नितम्बमण्डलया प्रियया वियुतो विरहितः मनोरथाना शतैर्बहुभिरभिलाषैः वृतः युतोऽय रथी रथवान् पृच्छति। अत्रऽनुप्रासच्छटा दृष्टव्या। राजा रथी, पक्षी रथाङ्गनामा, प्रिया रथाङ्गश्रोणिरित्येव परस्परस्नेह सम्बन्धः सुव्यक्त एव। रथाङ्गश्रोणिविम्बेत्यत्र धर्मलुप्तोपमा अनुष्टुप् वृत्तम्।१८।

अयं कः कः इत्याह। चक्रवाकः कः कः इत्येवं विरौति। राजा च तद् विरुत प्रश्नवाचीति मत्वाऽयार्थे संयोजति। मा तावत् न खलु विदितोऽभिज्ञातोऽहमस्य। अतएव अयं 'कस्त्व'मित्यनुयुङक्ते अहं पुनः—

सूर्याचन्द्रमसाविति—यस्य मातामहपितामहौ मातामहश्च मातुः पिता, पितामहः पितुः पिताचेति सूर्यश्च चन्द्रमाश्चेति सूर्याचन्द्रमसौ। 'देवता द्वन्द्वे चे' ति (६–३–२६) सूत्रेण सूर्यस्य । यश्च उर्वश्या भुवा च पृथिव्या च द्वाभ्यामपि स्वयं पतिवृतः पतिरूपेण स्वीकृतः। एवभूतोऽहमस्मि। पुरुरवाः बुधस्य पुत्र आसीद् बुधश्च चन्द्रमसः। एवं चन्द्रमास्तस्य पितामहोऽभूत्।

अत्रेय भविष्योत्तरपुराण कथाऽनुसन्धेयः—पुरा किल उमया सह निर्विघ्नं विहर्तुमिच्छन् शिव स्वविहारवने पुरुष-प्रवेश न्यषेधयत् । शशाय च य कोऽपि अत्रागमिष्यति स स्त्रीत्व प्राप्स्यतीति । कृतः युगारम्भे सूर्यस्य ······मनोः पुत्रः सुद्युम्नापरनामधेयः इलः मृगयावशात्तमागतः स्त्रीत्व च भजत् बुधस्ता रमणीयाकृति स्त्रिय दृष्ट्वाऽऽसक्तस्ता स्वाश्रममानीय तस्या विक्रमापरनामान पुरुरवस नाम पुत्रमुत्पादयामास। बुधश्च चन्द्रमस. पुत्रः । एव सम्बन्धेन सूर्यचन्द्रमसौ पुरुरवसो मातामहापितामहौ । कथ न जाने केन कारणेन तूष्णीमुत्तरमदत्वा । मौन स्थितः। भवतु । एवमुपालप्स्ये अधिक्षेप्स्यामितावत ।

अनुवाद—हे हंस यदि तुमने इस सर के किनारे मेरी तिरछी भौहों वाली प्रिया को नही देखा है तो चोर ! उसकी मस्ती और आनन्द से भरी लटपट चाल सारी की सारी तुमने कैसे पा ली है ? ।१६।

इसलिए, हस मेरी कान्ता दे दो। उसकी चाल तुमने चुराई है। जिसके पास चोरी के माल का एक हिस्सा भी देख लिया जाता है उसे मालिक का बताया सारा माल देना पडता है ।१७।

(हँसकर) यह चोरो को दण्ड देने वाला (राजा) है। इस डर से (हंस) उड गया। (इधर-उधर घूमकर) अरे यह तो चक्रवाक् अपनी प्रिया के साथ बैठा है तो इससे पूछूँ—

अरे चक्रवाक् ! चक्र जैसी नितम्ब बिम्बो वाली प्रिया से वियुक्त होकर सैकडो मनोरथो से घिरा हुआ यह रथी तुमसे पूछ रहा है ।१८।

अरे यह तो कः (कौन) क (कौन) कह रहा है। ऐसा मत कहो। निश्चय ही यह मुझे जानता नही है—

सूर्य जिसके नाना और चन्द्रमा जिसके बाबा हैं और उर्वशी और पृथ्वी दोनो ने स्वय होकर पति के रूप मे जिसका वरण किया है, (वह मैं पुरुरवा हूँ) ।१९।

चुप होकर क्यो बैठ गया ? खैर, मैं इससे शिकायत करूँगा—

नतभ्रू'—नते भ्रुवौ यस्याः सा। तिरछी भौंह नारी-सौंदर्य का अग मानी जाती हैं।

मदखेलपदम्—मदेन खेलानि पदानि यस्मिन तत्। अथवा मदेन खेला येषु तानि पदानि यत्र।

गतम्—गम्+क्त 'नपुंसके भावे क्तः' = गमनम्।

विभावितैक देशेन—विभावितः एकदेशो यस्मिन तेन—चोरेण।

देयंयदभियुज्यते—अभि+युज्+कर्मवाच्यलट्=स्वामी के द्वारा चोर पर जो भी आरोपित किया जाय वह देय होता है। देखिये, याज्ञवल्क्य स्मृति (२-२०) निह्नुतेऽभिहित नैकमेकदेशविभावितः दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः। दशरूपक में यह असत्यप्रलाप का उदाहरण दिया हुआ है।

रथाङ्गनामन्—रथस्य अङ्गं रथाङ्गम् (चक्रम्) नाम यस्य स रथाङ्गनामा=चक्रवाक्।

सूर्यचन्द्रमसौ—सूर्यश्च चन्द्रमाश्च इति सूर्याचन्द्रमसौ। "देवता द्वन्द्वे च" (६-३-२६) से सूर्य शब्द के आगे आनङ् हो जाता है जिसमें 'आ' शब्द रह जाता है।

मूल पाठ—सरसि नलिनीपत्रेणापित्वमावृत-विग्रहा,
ननु सहचरी दूरे मत्वा विरौपि समुत्सुकः।
इति च भवतो जाया स्नेहात् पृथक् स्थितिभीरुता,
मयि च विधुरे भावः कान्ता-प्रवृत्ति-पराङ्मुखः॥२०॥

सर्वथा मदीयानां भागधेयानां विपर्ययेण प्रभाव-प्रकाशः।

यावदन्यमवकाशमवगाहिष्ये। (पदान्तरे स्थित्वा)

भवतु न तावद् गच्छामि।

इदं रुणद्धि मां पद्ममन्तः कूजित-षट्पदम्।
मया दष्टाधरं तस्याः ससीत्कारमिवाननम्॥२१॥

भवतु अस्मिन्नेव कमलाध्यासिनि मधुकरे प्रणयित्वं करिष्ये इतो गतस्यानुशयो मा भूदिति।

मधुकर मदिराक्ष्याः शंस तस्याः प्रवृत्तिं—
(विभाव्य) वरतनुरथवाऽसौ नैव दृष्टा त्वया मे।
यदि सुरभिमवाप्स्यस्तन्मुखोच्छ्वास-गन्धं
तव रतिरभविष्यत् पुण्डरीके किमस्मिन्॥२२॥

व्याख्या–सरसीति—त्व सरसि ह्रदे नलिन्याः कमल-लतायाः पत्रेणापि आवृत्तो विग्रह, शरीर यस्याः ता सहचरतीति सहचरी ना प्रिया दूरे मत्वा ज्ञात्वा समुत्सुकश्चिन्तितः सन् विरौषि क्रन्दसि। इति अनेन हेतुना च यद्यपि जायाया स्नेहस्तस्मात् प्रियानुरागवशाद् भवतः पृथक् स्थितिः स्व स्थान तस्मात् भीरुता कातरतामपि विधुरे च तथापि प्रिया विरहिते मयि भवान् कान्तायाः प्रवृत्तिः वार्तावर्णन तस्मात् पराङ्‌मुख विमुखः। भवाश्च तथा प्रियायामनुरक्तो येन कमलपत्रान्तर्हितामपि तामपश्यन क्रन्दितुमारभसे पर प्रियाहीनस्य मम सन्तोषाय तद् वृत्तान्तमपि कथयसि। हरिणिवृत्तम।२०।

सर्वथा मम इमानि मदीयानि तेषा भागधेयाना दैवाना विपर्ययेण विरुद्धत्वेन प्रभावस्य प्रकाशप्रकटनम्। मदीय भाग्य विरुद्धरूपेण प्रभाव प्रकटयति। यावत् कञ्चित्तकालम् अन्यम् अवकाश स्थानम् अवगहिष्ये गमिष्यामि (पदान्तरे पदमेक गत्वैव स्थित्वा विरम्य) भवतु स्यादेव तथापि न गमिष्यामि इतः स्थानान्न यास्यामितावत्।

इदमिति—इदम् अन्तर्मध्ये कूजित गुञ्जन् षट्पदो भ्रमरः यस्मिन् तत् एवभूत पद्म कमल मया दृष्टः अधरः ओष्ठ यस्मिन्तत् तस्याः सीत्कारेण सहित ससीत्कारमाननमिव मा रुणद्धि निवारयति। पद्म गुञ्जद् भ्रमर ससीत्कार-मुर्वशी–मुखमिव प्रतिभाति सीत्कारश्च भ्रमर शब्द इव लक्ष्यते। सीत्कारश्च वष्टाभिव्यञ्जक–दन्तघटनाजनित शब्द। स च कामिना कामोद्दीपकः। अधर देशस्य वर्णन कविनाऽन्यत्रापि बहुधा कृतम्। "हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्रभिन्नान् प्रपीड्यमानानधरानपेक्ष्य" (४–६) इति च।२१।

भवतु अस्मिन् कमलमध्यास्ते इति कमलाध्यासी तस्मिन् कमलोपरि स्थितवती मधुकरे भ्रमरे प्रणयित्वमर्थित्व करिष्ये। इतो याचयिष्ये येन इतः अस्मात् स्थानात् गतस्य मेऽनुशयः पश्चात्तापो मा भूदिति।

मधुकरेति—हे मधुकर भ्रमर तस्या मदिरेऽक्षिणी यस्याः सा मदिराक्षी तस्याः मत्त नयनायस्तस्याः प्रियायाः प्रवृत्तिमुदन्त शस वयय। अथवा त्वया मे वरा तनुः शरीरं यस्याः सा सुन्दरी नैव दृष्टा। (विभाव्य ध्यानपूर्वक दृष्ट्वा) यदि त्व तस्याः मुखस्य उच्छ्वासः तन्मुखोच्छ्वासस्तस्य गन्धः यस्मिन् एतादृश सुरभि सुगन्धमवाप्स्यः अलप्स्यथाः तदाऽस्मिन् पुण्डरीके कमले। तव रति-

रनुराग: कथमभविष्यत् । मम प्रियाया मुखगन्धः कमलगन्धाद् वरीयानीति भावः । अत्र व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्य । मालिनी छन्दः ।२२।

अनुवाद—सरोवर मे जब कमलिनी के पत्तो से भी तुम्हारी सहचरी का शरीर ढक जाता है तो तुम उसे दूर समझ कर चिन्तित होकर चीख उठते हो । पत्नी-प्रेम के कारण तुम तो उससे पृथक् होकर रहने से इतना डरते हो और मैं जब प्रिया से वियुक्त (विधुर) हो गया हूँ तो तुम मेरी प्रिया का हाल-चाल बताने से भी मुँह मोड़ रहे हो ।२०।

सब तरह से मेरे ही भाग्य उलटे होकर अपना प्रभाव दिखला रहे हैं । तो अब दूसरे को चलू (दूसरे ही डग पर रुककर) जाने दो, नही जाऊंगा—

यह कमल जिसके भीतर भौंरा गुंजार कर रहा है, मेरे द्वारा ओठ के काटे जाने पर सी-सी करते हुये प्रिया के मुख-जैसा सुन्दर (लग रहा है) । यह मुझे (अपनी ओर आकर्षित कर) रोक रहा है ।२१।

खैर ! इस कमल पर बैठे हुये भौरे से ही याचना करूँ जिससे यहाँ से जा कर फिर पश्चात्ताप न हो ।

हे मधुकर ! उस नशीली आँखो वाली प्रिया का हाल-चाल बतलाओ । अथवा तुमने मेरी उस सुन्दरी को देखा ही नही है । यदि तुम्हे मुख के उच्छ्वास की सुगन्ध मिल गयी होती तो फिर इस पुण्डरीक पर तुम्हारा प्यार क्योकर होता ।२२।

टिप्पणी—देखिये शाकुन्तल (चौथा अक) नलिनीपत्रामात्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्ती चक्रवाकी आरटति ।

भागधेयम्—भाग एव भागधेयम् । भाग शब्द से स्वार्थ (बिना अर्थ परिवर्तन) मे धेय प्रत्यय लगता है "भागरूप नामभ्यो धेय.' इस वार्तिक से ।

अन्तः कूजितः—अन्तः कूजितः षट्पदः यस्मिन् तत् ।

मयि दष्टाधरम्—देखिये ऋतुसहार (५-६) हसन्ति नोच्चैर्दशनाग्र भिन्नान् प्रवीऽयमानानधटानवेक्ष्य ।

मदिराक्षी—मदिरे (मदयुक्ते) अक्षिणी यस्या. सा ।

तन्मुखोच्छ्वास गन्धम्—तस्या मुख तन्मुखम् । तस्य उच्छ्वासः । तस्य गन्धः यस्मिन् सः । तम् ।

मधुकर—इस २२वें श्लोक में व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है और मालिनी छन्द है।

मूल पाठ—साधयामस्तावत् (परिक्रम्यावलोक्य च) एष नीप-स्कन्ध-निषण्णा-हस्त-करिणी-सहायो नागराजस्तिष्ठति। अस्मात् प्रियोदन्त-मुपलप्स्येव। (विलोक्य) भवतु न त्वरा कार्या—

अयमचिरोद्गत—पल्लवमुपनीतं प्रियकरेणु–हस्तेन।
अभिलषतु तावदासव–सुरभि–रसं सल्लकी–भङ्गम्॥२३॥

(क्षणमात्रं स्थित्वा) हन्त कृता हिनकः संवृत्तः भवतु पृच्छामि।

मदकल युवति शशिकला गजयूथप यूथिका–शबलकेशी,
स्थिरयौवना स्थिता ते दूरालोके सुखालोका॥२४॥

(सहर्षम्) अहह अनेन स्निग्धमन्द्रेण गर्जितेन प्रियोपलम्भ शंसिना समाश्वासितोऽस्मि। साधर्म्याच्च त्वयि मे भूयसी प्रीतिः।

मामाहुः पृथिवी भृतामधिपतिं नागाधिराजो भवान्
अव्युच्छिन्न–प्रथु प्रवृत्ति भवतो दान ममार्प्यार्थिषु।
स्त्रीरत्नेषु ममोर्वशी प्रियतमा यूथे तवेयं वशा
सर्वमामनु ते प्रियाविरहिजा त्वं तु व्यथा मानुभूः॥२५॥

व्याख्या—साधयामो गच्छामस्तावत्। नाटकेषु प्रायेण णिजन्तः साध गमनार्थं प्रयुज्यते। (परिक्रम्यावलोक्य च) नीपो वृक्ष-विशेष- (नीव इति मराठी भाषायाम्) तस्य स्कन्धे विटपे निषण्ण. हस्तोकरःशुण्डा दण्डो वा यस्या. सा एव भूता या करिणी तस्य प्रिया सा सहाया यस्य सः अथवा नीपस्कन्धे निषण्णो निहितः करो यस्य एव भूतश्चासौ करिणी सहायः नागराजो गजराजः तिष्ठति। अस्मात् प्रियायाः उदन्त प्रवृत्तिमुपलप्स्ये प्राप्स्यामि। (विलोक्य) भवतु त्वरा शीघ्रता न।

अयमिति—अयं गज प्रिया या करेणुः हस्तिनी तस्याः हस्तेन उपनीतं समीपमानीतं। कार्या—अचिरोद्गतः नूतनोत्पन्नः पल्लव यस्य तम्, आसवो मद्यं तदिव सुरभिः सुगन्धिः रसो यस्य तम्, सल्लकी गज प्रियो वृक्षविशेषस्तस्याः भङ्गो नवपल्लवः त अभिलषतु आस्वादयतु। आर्याच्छन्दः।

(क्षणमेव इति क्षणमात्र स्थित्वा) हन्तेति हर्षे ·· नैत्यिक कर्मभोजनादि-कम् । कृतमाह्निक येन स कृत भोजनः सवृत्त जात । भवन् पृच्छामि—

मदकलेति—हे गज-यूथप: गजाना यूथो वृन्दम् । त पाति रक्षति इति गज यूथपः गजसमूहस्य नायकस्तत्सवुद्धौ मदेन कल. मधुराः या युवतयः मदोत्कटा युवतयः तासु शशिकला इव अन्या युवतयस्तारिका इव सा च चन्द्रखण्डमिव निष्कलङ्का । यूथिकाभिर्यूथिकापुष्पैः शबलाः चित्राः केशा यस्याः सा स्थिरमविनाशि यौवन यस्याः सा, सुख. प्रीतिजनकः आलोको दर्शन यस्याः सा ते दूरे दूरतोऽपि आलोके दृष्टिपथे स्थिता किं । त्वया दूरतोऽपि दृष्टा किम् ? अनुप्रासः, मदकलेत्यत्र परम्परित रूपक च । आर्यावृत्तम् ।२४।

(सहर्षम्) अ ह ह इति हर्षे, अनेन स्निग्धः मधुरः वर्णप्रियश्चासौ मन्द्रो गम्भीरस्तेन प्रियाया. उपलम्भः प्राप्ति' त शसति कथयतीति प्रियोपलम्भ शसी तेन गर्जितेन समाश्वासित· सन्तोषितः अस्मि ! "मन्द्रस्तु गम्भीरे" इत्यमरः । साधर्म्यात् समानो धर्मो यस्य स सधर्मस्तस्य भावस्तस्मात् सादृश्यात् त्वयि मे भूयसी अधिकतरा प्रीति. स्नेह भावः ।

मामाहुरिति—गजे नृपे च साधर्म्यमिति दर्शयति—मा पुरूरवस पृथ्वी बिभर्तीति पृथ्वीभृतस्तषा भूपालानाम् अधिपति स्वामिनमाहुः भवाश्च नागा-नामधिराजः स्वामी । अधिः राजाऽधिराज', अधिक. पतिरित्याधिपतिः । भूभृनाग शब्दयोः वेतार्थे पर्यायवाचित्व तेनोभावपि सदृशौ एकस्यैव वस्तुनो-ऽधिपतित्वादिति सङ्केत. । भवत. अर्थिषु भ्रमरेषु अव्युच्छिन्ना निरन्तरा पृथुः विपुला च प्रवृति गतिर्यस्य तद् एत दृश दान मदजल प्रवाहः, ममाऽपि अर्थिषु याचकेषु अव्युच्छिन्न प्रथु-प्रवृत्ति सन्तत विपुल च । प्रसारशील दान द्रव्यस्य । स्त्रीरत्नेषु रत्नतुल्यासु स्त्रीषु मम प्रियतमा उर्वशी, यूथे करिणीना यूथे समूह इय वशा करिणी तव प्रियतमा । ते सर्व माम् अनुमत्सदृशमस्ति पर त्व मम तुल्या प्रियाया विरहज्जाता प्रिया विरहजा व्यथा पीडा मा अनु भूः ज्ञाती तव मम च सर्व समानम् । पर त्व प्रियासनाथोऽहञ्च प्रिया-वियुक्तः । "जातौ जातौ यदुत्कृष्ट तद्रत्नमिति कथ्यते" इत्यनुसारेण स्त्रीरत्नेषु इत्युक्तिः । "वशा योषा सुता वन्ध्या स्त्री गुर्वी करिण्यपि" इति विश्वलोचनः प्रवृत्तिर्गजपक्षे प्रवाहार्थ, नृपपक्षे च प्रसारार्थ । तदुक्त "प्रवाहे वृत्त वृत्तान्ते प्रसारो दन्तयो-

रपि प्रवर्तने च वार्तया प्रवृत्तिः समुदीरिता।" इति। शार्दूल विक्रीडित छन्दः।२५।

अनुवाद—अच्छा मैं जाता हूँ (इधर-उधर चल कर और देख कर) यह गजराज खड़ा है जिसके साथ उसकी करिणी भी है जो नीप वृक्ष के तने पर अपनी सूंड रक्खे हुये है। इससे *प्रिया का समाचार प्राप्त करूँगा* (देख कर) खैर जल्दी नहीं करनी चाहिये।

यह अपनी प्रिया करेणु (हथिनी) द्वारा अपने हाथ से लाकर दी हुई सल्लकी की उस डाल को आनन्द से खाये जिसमें अभी शीघ्र ही पल्लव निकले हैं और जिसका रस मद्य के समान सुगन्धित होता है।२३।

(क्षण भर ठहर कर) अब तो इसने दोपहर का भोजन कर लिया। तो पूँछता हूँ—

हे हाथियों के समूह! क्या कभी तुम्हारी दूर तक देखने वाली दृष्टि के भीतर वह स्त्री आयी है जो मस्ती के कारण मनोहर लगने वाली युवतियों में चन्द्रकला जैसी है, जिसके केशों में जूही के फूल गुँथे हैं, जिसका यौवन सदा एक-सा रहता है, और जो देखने में भली लगती है।२४।

(प्रसन्नता के साथ) आ हा! इस मधुर और गम्भीर गर्जन से जो इस बात का द्योतक है कि तुम्हें मेरी प्रिया मिली है, मुझे सन्तोष प्राप्त हुआ है। दूसरे हम दोनों की बातें प्रायः मिलती-जुलती होने के कारण तुम पर मेरा और अधिक प्यार है।

मुझे लोग राजाओं का अधिपति कहते हैं और आप हाथियों के अधिराज हैं। मेरा दान याचकों के लिये निरन्तर और अधिक चलता रहता है, और *आपका भी दान (मदजल) भ्रमरों के लिये निरन्तर और अधिक बहता रहता* है। श्रेष्ठ स्त्रियों के बीच मेरी प्रियतमा उर्वशी है और झुण्ड में तुम्हारी प्रिया यह वशा (हथिनी है) तुम्हारी सारी बातें मेरे अनुसार हैं किंतु तुम प्रिया के विरह से पैदा होने वाली व्यथा का अनुभव मत करो।२५।

टिप्पणी—साधयामः—साध् (णिजन्त) धातु का प्रयोग 'जाना' अर्थ में नाटकों में होता है। "प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते" (साहि० द० ६–१४४)

सल्लकी भङ्गम्—सल्लकी एक वृक्ष का नाम है। हाथी इसके पत्तों को बहुत रुचि से खाता है। इसीलिये सल्लकी का दूसरा नाम 'गजभक्ष' भी है। भङ्ग=नये पल्लव।

अचिरोद्गत पल्लवम्—अचिराद् उद्गतः पल्लवः यस्य सः तम्।

मदकल युवति—मदेन कलाः युवतयः इति मदकल-युवतय.। तासु शशिकला इव इति मद......कला।

यूथिका शवल केशी—यूथिकाभिः (जूही के फूलो से) शवलाः केशाः यस्याः सा। इस श्लोक मे अन्य युवतियो को नक्षत्र और उर्वशी को शशिकला बतलाया है। देवता होने के कारण उसे स्थिर-यौवना कहा है।

अव्युच्छिन्न०—अव्युच्छिन्ना पृथुः प्रवृत्तिः यस्य तत्। नञ् (अ+वि+उत्+छिद् धातु+क्त) प्रवृत्ति शब्द के दो अर्थ हैं—(१) प्रवाह (गज पक्ष मे), (२) प्रसार या फैलाव (नृप पक्ष मे)

साधर्म्यात्—समानो धर्मो यस्य स सधर्मस्तस्य भाव. साधर्म्यम्, तस्मात्।

मूलपाठ—सुखमास्तां भवान्। साधयामस्तावत् (पार्श्वतो दृष्टि दत्वा) अये सुरभि कन्दरो नाम विशेष रमणीयः सानुमानालोक्यते। प्रियश्चायमप्सरसाम्। अपि नाम सुतनुरस्योपत्यकायामुपलभ्यते। (परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त मदीयैर्दुरति-परिणामैर्मेघोऽपि शतह्रदाशून्यः संवृत्तः। तथाऽपि शिलोच्चयमेतमपृष्ट्वा न निवर्तिष्ये।

अपि वनान्तरमल्प कुचान्तराश्रयति पर्वत पर्वसु संनता।
इदमनङ्ग-परिग्रहमङ्गना पृथुनितम्ब नितम्बवती तव॥२६॥

कथं तूष्णीमास्ते। शङ्के विप्रकृष्टो न शृणोतीति। समीपेऽस्यं गत्वा पुनरन पृच्छामि। (परिक्रम्य)

सर्व क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्ग सुन्दरी।
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया॥२७॥

(आकर्ण्य सहर्षम्) कथ यथाक्रमं दृष्टेत्याह। भवानपि अतः प्रियतरं शृणोतु। क तर्हि मम प्रियतमा। (नेपथ्ये तदेवाकर्ण्य) हा धिक्! ममैवायं कन्दर विसर्पी प्रतिशब्द.! (विषादं रूपयित्वा) श्रान्तोऽस्मि अस्यास्तावद्

गिरिनिधास्तीरे स्थितस्तरङ्गवातमासेविस्ये। इमां नवाम्बुकलुषामपि स्रोतोवहां पश्यतो मे रमते मनः।

तरङ्ग–भ्रूभङ्गाक्षुभित–विहग श्रेणि-रसना,
विकर्षन्ती फेन वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं यान्ती स्खलितमभिसन्धाय बहुशो,
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥२८॥

व्याख्या—सुखमानन्देन आस्तां तिष्ठतु भवान्। साधयामस्तावत्। (पार्श्वतउभयतो दृष्टि दत्वा निरीक्ष्य) अये सुरभयः सुगन्धमय्यः कन्दराः गुहाः यस्य स सुरभिकन्दरो नाम विशेषेण रमणीयोऽतिशय मनोहारी सानवः सन्ति यस्मिन् स सानुमान पर्वतोऽत्रलोक्य ते दृश्यते। प्रियश्च अय पर्वतो- ऽप्सरसाम्। अपि नाम इति वितर्के शोभना तनुर्यस्याः सा सुतनु सुन्दरी अस्य पर्वतस्य उपत्यकायामासन्न भूमौ उपलभ्येत प्राप्यते। "उपाधिभ्यात्यकतासन्ना- ऽऽरूढयोः (५–२–३४) रिति उपात् त्यकन् प्रत्ययः। (परिक्रम्य अवलोक्य च) हन्त इति खेदे मदीयंममकीनैर्दुरिताना पापाना परिणामैः पार्श्वः मेघोऽपि शतहृदया विद्युता शून्य इति शतहृदा शून्यः संवृत्तो जातः। मम पापानामय परिणामो यत्र केवलोऽहमपितु मेघोऽपि विद्युतो विप्रयुक्तो जातः। शत हृदाः अर्चीषि गर्जन शब्दा वा यस्या सा शतहृदा विद्युत्। तथापि एत पुरोवर्त्तमान शिलोच्चय पर्वतमदृष्ट्वा न निर्वर्तिष्ये परावृत्तो न भविष्यामि।

अपि वनान्तरेति—हे पृथुः नितम्बाः प्रान्तभागो यस्य तत्सम्बुद्धौ पृथु- नितम्ब पर्वत। अपि विमर्षे। अपि अन्य कुचयोः (मध्ये) अन्तरमवकाशो यस्याः सा पीनस्तनी, पर्वंसु गुल्फादिसन्धिषु सनता निमग्ना निगूढग्रन्थिरिति यावत् मांसलत्वादस्थि ग्रन्थीनामानम्रा वा प्रशस्तो नितम्बो यस्याः सा नितम्बवती, एव पर्वतः सा पर्वसु सनता एव वनान्तरवाम् साऽन्य कुचान्तरा, सद प्रदेशोऽनङ्ग परिग्रह साऽङ्गना। एतेन साधर्म्येण तस्यास्तत्र वनान्ते साऽः सुलभः। द्रुतविलम्बित वृत्तम्।२९।

अथ तूर्णीमास्ते, न ददाति मम प्रत्याख्यानम् यावद् यत् विप्रकृष्टा- द्दूरस्थ रवेन न शृणोषि। अथ समीपे गत्वा पुनरेव पृच्छामि।

सर्वेति—हे सर्वेषां क्षितिं बिभ्रति ते क्षितिभृतस्तेषां सर्वपर्वतानां नाथ स्वामिन् किं त्वया मया विरहिता विमुक्ता सर्वैरङ्गैः सुन्दरीति सर्वाङ्गसुन्दरी रामा मे कान्ता अस्मिन् वनोद्देशे वनभूमौ दृष्टा ? अनुष्टुब्वृत्तम् । अयं श्लोकोऽनेनैव रूपेण रामायणेऽरण्यकाण्डे उपलभ्यते । तेन कालीदासोऽपरि वाल्मीके. प्रभाव. स्पष्ट एव । अयं तु सर्व एव प्रसङ्गः रामायण प्रेरितो लक्ष्यते । अत्र त्रिगत नाम वीथ्यङ्गमुक्त भवति । तल्लक्षण तु साहित्यदर्पणे (६–२५७) त्रिगत स्यादनेकार्थे योज्न श्रुति साम्यत ।२७।

(आकर्ण्य सहर्षम्) कथं यथा क्रम क्रममनतिक्रम्य तेनैव क्रमेण दृष्टा इत्याह। राज्ञा स्वकथनमेव प्रतिध्वनिना गिरिभूमौ श्रुतम् । तस्यार्थस्तेनोत्तर-रूपेण गृहीत । यथा हे सर्वे क्षितिभृतां सर्वनृपाणां नाथ अस्मिन् वनोद्देशे त्वया विरहिता रामा मया दृष्टा । प्रतिध्वनौ त्वया मया चैतयनयोः विपर्ययेणान्वय । भवानपि अत अस्माद् वृत्तादपि प्रियतरं शृणोतु इति मङ्गलाशंसा । पुनरुर्वश्या विषये जिज्ञासु पृच्छति नृप —ववर्ताहि मे प्रियतमा, यदि त्वया दृष्टा तत्तस्या स्थान निर्दिश । (नेपथ्ये तदेव द्वितीय प्रश्न प्रतिध्व-निमाकर्ण्य) हा धिगिति खेदे । मम एवायं कन्दरे विसर्पति प्रसरति इति कन्दरविसर्पी प्रतिशब्द. प्रतिध्वनि । (विषाद दु.ख रूपयित्वा दर्शयित्वा) श्रान्तोऽस्मि । अस्यास्तावद् गिरिणद्याः पर्वतसरितस्तीरे स्थित तरङ्गवात नदीतरङ्ग—सस्पर्श—शीतल वात वायुमासे विष्ये । इमा नवेन अम्बुना जलेन कलुषामाविला मलिना वा स्रोतोवहा नदी स्रोतसा वहति ता मे मनो रमत विनोदितो भवति।

तरङ्गेति—यथा यस्माद् इयं स्रोतोवहा तरङ्गा एव भ्रुवो भङ्गा यस्याः सा तरङ्ग—भ्रू भङ्गा । उभयेषामपि कुटिलत्वात्तरङ्गाणां प्रियाया भ्रूभङ्गैः सह साम्य निरूपित भवति । क्षुभिताना भयवशेनोत्पतता विहगानां श्रेणि पङ्क्तिरेव रसना मेखला दाम यस्या सा । नदीतटे जलक्षोभभीता पक्षिण उड्डयमाना. शब्द कुर्वन्ति, प्रियाऽपि क्षुब्धा सती सहसा व्रजति तदा मेखला घण्टिकाः शब्द कुर्वन्ति । एवमत्र शब्द साम्य मेखलाया अयतायाः जलविहग पङ्क्तया च रूपसाम्यम् । सारम्भेण क्रोधेन शिथिल वसन वस्त्रमिव फेन कर्षन्ती आत्मवा सह यन्ती । वस्त्रफेनयो. शौक्ल्य, कर्षण च समानम् । फेनोऽपि शिलामिस्तटेद

या सघातादेव जायते। स च सघातः स्त्रीणा सरम्भ इव भवति (··· ··पक्षे स्खलितं मार्गगताः बाधा अभिसन्धाय मनसि विचार्य अविद्धमनृजु मार्गेण यान्ती मम स्खलित दोषम् अभिसन्धाय मनसि चिन्तयन्ती अविद्ध कुटिल क्वचिन्मन्द क्वचिच्चक्षिप्र यान्ती) इयमसहना न सहते एवं लीला। सहना नदी भावेन नदीरूपेण परिणता परिवर्तिता। अत्र उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम् ।२८।

अनुवाद—आप आराम से रहिये। मैं जाता हूँ। (दोनो ओर नजर डालकर) अरे, यह अत्यन्त सुन्दर सुरभि कन्दर नाम का पर्वत दिखायी देता है। यह अप्सराओं को प्यारा भी है। शायद वह सुन्दरी इसकी उपत्यका मे मिल जाय (इधर-उधर घूमकर और देखकर) ओफ ! मेरे पापो का परिणाम कि मेघ तक विद्युत से रहित हो गया। फिर भी इस पर्वत से बिना पूछे नही लौटूँगा।

हे बडे-बडे नितम्बो (ढालो) वाले पर्वत क्या तुम्हारे इस वन प्रदेश मे जिस पर कि काम का अधिकार है, कही वह स्त्री रहती है जिसके नितम्ब बडे-बडे हैं, जिसके दोनो स्तनों के बीच मे बहुत कम अन्तर है और जिसकी सभी सन्धियाँ (जोड) ठीक मुडी हुयी हैं ।२९।

चुप क्यो हो ? सम्भवतः दूर होने से सुन नही पाते हो। इसके पास जाकर इससे फिर पूँछता हूँ। (घूम-फिर कर) हे सब क्षितिभृतो (पर्वतो) के स्वामी तुमने इस रमणीय वन प्रदेश मे एक सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी को मुझसे विरहित देखा है ?२७।

(सुनकर आनन्द के साथ) अरे (यह तो) उसी क्रम से 'देखा है' ऐसा कह रहा है। इसलिये आप को भी प्यारी बात सुनने को मिले। फिर है कहाँ मेरी प्रियतमा ? (नेपथ्य मे वही अपनी बात को सुनकर) अरे धत् ! यह तो मेरी ही गुफा मे बिखरी हुयी प्रतिध्वनि है। (दुःख प्रदर्शित करके) थक गया हूँ। इस पहाडी नदी के किनारे बैठकर लहरो की वायु का सेवन करूँगा। यद्यपि यह नदी नये जल के आ जाने से मलिन है फिर भी इसे देख मेरा मन आनन्दित होता है।

इसकी तरङ्गे भ्रूभङ्गियाँ हैं, डर कर उडे हुये पक्षियो की पक्ति करधनी है, फेन क्रोध के कारण ढीला पड़ा वस्त्र है जिसे यह खीचती जा रही है,

बहुत-सी रुकावटों को बचा-बचा कर टेढी-तिरछी चल रही है। निश्चय ही वह असहनशीला इस नदी रूप मे बदल गयी है।२८।

टिप्पणी —उपत्यका—पर्वत के समीप की निचली भूमि। उप (समीपे) भवा उपत्यका। "उपाधिभ्यात्यकन्नासन्नारूढयोः" (५-२-३४) सूत्र से त्यकन प्रत्यय होता है।

शतह्रदा—शतं ह्रदाः। (चमक या किरणें) यस्याम्। बिजली।

अल्पकुचान्तरा—कुचयोः अन्तरं कुचान्तरम्। अल्प कुचान्तरं यस्याः सा।

नितम्बवती—प्रशस्तो नितम्बो यस्याः सा। नितम्ब पर्वत का ढालू भाग तथा कटि के नीचे का पिछला भाग।

क्षुभित···रसना—विहगाना श्रेणिः। क्षुभिता चासौ विहगश्रेणिः इति क्षुभित-विहगश्रेणिः। सैव रसना यस्याः सा।

सर्वक्षितभृर्ता—यह २७वा श्लोक रामायण के अरण्यकाण्ड (६४-२९) में इसी प्रकार मिलता है। सम्भवतः पुरूरवा का यह विलाप रामायण के राम-विलाप से ही प्रेरित है। इस श्लोक मे राजा का प्रश्न और प्रतिध्वनि के रूप मे पर्वत का उत्तर दोनो आ गये हैं। नाटक मे इसे त्रिगत नामक वीथ्यङ्ग कहते हैं। "त्रिगत स्यादनेकार्थं योजन श्रुति साम्यतः" (साहि० द० ६-२५७)।

तरङ्ग भ्रू-भङ्गा—इस २७वें श्लोक मे उर्वशी और नदी का साम्य पाँच बातों मे बतलाया गया है (१) तरङ्ग भ्रू भङ्गा, (२) क्षुभित विहग, (३) विकर्षन्ती फेनम्, (४) आविद्ध यान्ती, (५) स्खलितमभिसन्धाय।

मूलपाठ—भवतु याचिष्ये यावदेनाम्। (अञ्जलिबध्वा)

त्वयि निबद्धरतेः प्रियवादिनः प्रणय-भङ्ग-पराङ्‌मुखचेतसः
कमपराधलवं मम पश्यसि त्यजसि मानिनि दासजनं यतः ॥२९॥

अथवा परमार्थं सरिदेवैषा। न खलूर्वशी पूर्वसमपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति। भवतु अनिर्वेद प्राप्याणि श्रेयांसि। यवद् ममेव प्रदेशं गच्छामि यत्र मे नयनयोः सुनयना तिरोभूता। (परिक्रम्यावलोक्य) हन्त दृष्टमुपलक्षणं तस्या मार्गस्य।

नयने यस्या सा मे नयनयोः दुरवस्थात् तिरोहिताऽन्तर्भूता। (परिक्रम्य अवलोक्य) हन्त दृष्ट प्राप्तमुपलक्षण चिह्न तस्या मार्गस्य।

रक्तकदम्बेति—अय स रक्तकदम्बः एतन्नामको वृक्षः घर्मान्तिरसि घर्मस्य ग्रीष्मर्तोः अन्तः त शसतीति ग्रीष्मावसान सूचक असमग्रैरसम्पूर्णैः केसरैविषम नम्रोनत समग्रतया अविकसितत्वान्नतोनतमपि एक कुसुम प्रियया शिखाया-स्चूडाया आभरण कृतम्। रक्तकदम्ब. प्रथमवर्षविन्दुभिः सिक्तः सन् विकसति। अय वर्षारम्भ एव। तेन तत्पुष्प न सम्यक् फुल्लितमासीद्। तदुक्तं मेघदूते (१-२५) "त्वत्-सम्पर्कात् पुलकितमिव प्रौढ़ पुष्पे कदम्बैः"। स्मरण-लङ्कार। आर्याछन्दः॥३०॥

(विलोक्य) इम तावत् आसन्न सारङ्ग सार चित्रमङ्ग यस्य सः। पररूप-सन्धिः, "सारङ्गः पशुपक्षिणोः। सारङ्गोऽन्यः" सि० कौ० प्रियायाः प्रवृत्ते. निमित्त प्रियोदन्त ज्ञातुमभ्यर्थये प्रार्थये।

कृष्णेति—कृष्णा च सारा (शारा ?) शबला च कृष्णसारा सा छविर्यस्य याऽसौ सारङ्ग मृगः काननश्रिया वनलक्ष्म्या वन-शोभाया अवलोकाय दर्शनाय पातितः कटाक्ष इव कृतो दृष्टिपात इव लक्ष्यते प्रतीयते। कृष्णभूतमिश्रच्छविर्मृगो वनश्रियो दृष्टिपातेनोत्प्रेक्ष्यते। वनश्रियो दृष्टिरपि स्यामश्वेतैव। वन श्री च वनाधिष्ठात्री देवता वने निवसतीति कविषु रूढिः। उत्प्रेक्षालङ्कार। अनुष्टुब् वृत्तम।३१।

(विलोक्य) किं नु खलु इत्याश्चर्य मिश्रे खेदे माम् अवधीरयन् विडम्बयन् मत्प्रार्थनामवमन्यमानः अन्यतोमुख यस्य सोऽन्यतोमुखः अन्यस्या दिशि दत्त दृष्टि सवृत.। दृष्टा अस्यान्तिकमिति—अस्य अन्तिक समीप आयान्ती आगच्छन्तो मृगी स्तनपिवतीति स्तनपायी तेन स्तनधयेन शिशुना रुद्धा मार्गे एव निरुद्धा। अय भुग्ना ग्रीवा यस्य सोऽय सारङ्गोऽनन्य दृष्टिरेकाग्रेक्षणः सन् ता मृगीमवलोकयति। भुग्नेति भुजकौटिल्ये इति धातोः क्त प्रत्यये रूपम्। आर्या छन्दः।

हहो यूथपते ! हहो इत्यामन्त्रणे—

अपिदृष्टवानिति—अपित्व ममप्रिया दृष्टवानसि। ते तुभ्य तस्या उपलक्षण प्रत्यभिज्ञान चिह्नं कथयामि तत् शृणु अवधारय। यथैव ते सहचरी

रवन-ऋदन्व सोऽय प्रियया घर्मान्तगसि यस्यैकम्।
कुसुम ममग्र केसर-विपममपि कृत शिराभरण ॥३०॥
(विलोक्य) इय यावत् प्रिया-प्रवृत्ति निमित्त मारङ्गमामीमभ्यर्थये।
कृष्ण मारच्छविर्योऽसौ दृश्यते कानने श्रिया,
वनशोभावलोकाय कटाक्ष इव पातित ॥३१॥
(विलोक्य) किं न खलु मामवधीरयन्निव अन्यतो मुख सवृत्तः।
(दृष्ट्वा)
अस्यान्तिकमायान्ती शिशुना स्तनपायिना मृगी रुद्धा।
तामयमनन्य दृष्टिर्भुग्न ग्रीवो विलोकयति ॥३२॥
हहो यूथपते !
अपि दृष्टवानसि मम प्रिया वने
कथयामि ते तदुपलक्षण शृणु।
पृथुलोचना सहचरी यथैव ते
सुभग तथैव खलु साऽपि वीक्षते ॥३३॥
व्याख्या—भवतु याचिष्ये पृच्छामि तावदेना स्रोतोवहा। (अञ्जलिं बद्ध्वा)

त्वय्यीति—हे मानिनि त्वयि निबद्धा निवेशिता रतिरनुरागो यस्य तस्य, प्रिय वदति एव शील प्रियवादी तस्य चाटूक्तिभि प्रसादयत, प्रणयस्य प्रार्थनाया भङ्गस्तस्मात् पराङ्मुख विपरीत चेतो यस्य तस्य तदा तवेच्छानुकूलमेव कार्यं कुर्वतः मम् यम अपराधस्यलव दोपस्य लेशमपि पश्यति यत कारणाद् दासजन सेवक त्यजसि ? परिकरालङ्कारः। द्रुतविलम्बित वृत्तम्।२९।

इद पद्य मम्मटेन अनभिहित वाच्यत्वदोपस्योदाहरण रूपेणोद्धृतम् अपिरत्रानभिहितः स चावश्यक.।

अथवा एषा परमार्थेन वस्तुत. सरिदेव ननु म प्रिया। नैषा खलु उर्वशी। यतो पुरुर्वसमपहाय व्यवत्वा कदापि समुद्रमभिसरति प्रियारूपेण गच्छति सा समुद्राभिसारिणी न भविष्यति उर्वशी। इयन्तु समुद्रमभिसरतितेन नदी एवैषा। भवतु, श्रेयांसि शुभानि अनिर्वेदन प्राप्याणि शोकोद्विग्नेन मनसा श्रेयसा प्राप्तिर्न सभवति। यावदमुमेव प्रदेश स्थान गच्छामि यत्र सा सुनयना सुन्दरे

नयने यस्या सा मे नयनयोः दवभयात् तिरोहिताऽन्तर्भूता। (परिक्रम्य अवलोक्य) हन्त दृष्ट प्राप्तमुपलक्षण चिह्न तस्या मार्गस्य।

रक्तकदम्बेति—अयं स रक्तकदम्बः एतन्नामको वृक्षः घर्मान्तरासि घर्मस्य ग्रीष्मर्तोः अन्तः त शसतीति ग्रीष्मावसान सूचक असमग्रैरसम्पूर्णैः केसरैर्विषम नम्रोनत ममप्रतया अविकसितत्वात्नतोनतमपि एक कुसुम प्रियया शिखाया-चूडाया आभरण कृतम्। रक्तकदम्ब. प्रथमवर्षोदबिन्दुभिः सिक्तः सन् विकसति। अथ वर्षारम्भ एव। तेन तत्पुष्प न सम्यक् फुल्लितमासीद्। तदुक्तं मेघदूते (१–२५) "त्वत्–सम्पर्कात् पुलकितमिव प्रौढ पुष्पै कदम्बैः"। स्मरण-लङ्कार। आर्याछन्दः॥३०॥

(विलोक्य) इम तावत् आसन सारङ्ग सार चित्रमङ्ग यस्य सः। पररूप सन्धिः, "सारङ्गः पशुपक्षिणोः। सारङ्गोऽन्यः" सि० कौ० प्रियायाः प्रवृत्ते. र्निमित्त प्रियोदन्त ज्ञानुमभ्यर्थये प्रार्थये।

कृष्णेति—कृष्णा च सारा (शारा ?) शबला च कृष्णसारा सा छविर्यस्य योऽसौ सारङ्ग. मृगः काननश्रिया वनलक्ष्म्या वन-शोभाया अवलोकाय दर्शनाय पातितः कटाक्ष इव कृतो दृष्टिपात इव लक्ष्यते प्रतीयते। कृष्णभूतमिश्रच्छविर्मृगो वनश्रियो दृष्टिपातेनोत्प्रेक्ष्यते। वनश्रियो दृष्टिरपि श्यामश्वेतैव। वन श्री च वनाधिष्ठात्री देवता वने निवसतीति कविषु रूढिः। उत्प्रेक्षालङ्कारः। अनुष्टुब् वृत्तम।३१।

(विलोक्य) किं नु खलु इत्याश्चर्य मिश्रे खेदे माम् अवधीरयन् विडम्बयन् मत्प्रार्थनामवमन्यमानः अन्यतोमुख यस्य सोऽन्यतोमुखः अन्यस्या दिशि दत्त दृष्टि सवृतः। दृष्ट्वा अस्यान्तिकमिति—अस्य अन्तिक समीप आयान्तो आगच्छन्तो मृगी स्तनपिबतीति स्तनपायी तेन स्तनधयेन शिशुना रुद्धा मार्गे एव निरुद्धा। अथ भुग्ना ग्रीवा यस्य सोऽय सारङ्गोऽनन्य दृष्टिरेकाग्रेक्षणः सन् ता मृगीमवलोकयति। भुग्नेति भुजकौटिल्ये इति धातोः क्त प्रत्यये रूपम्। आर्या छन्दः।

हहो यूथपते! हहो इत्यामन्त्रणे—

अपिदृष्टवानिति—अपिरेव ममप्रिया दृष्टवानसि। ते तुभ्यं तस्या उपलक्षण प्रत्यभिज्ञान चिह्नं कथयामि तत् शृणु अवधारय। यथैव

प्रियतमा पृथुलोचना पृथुनी लोचने यस्याः सा दीर्घनेत्रा तथैव खलु इति विनिश्चये सा सुभगा सुन्दरी अपि वीक्षते अथवा सुभग मनोहर। पश्यति। साऽपि तव सहचरी विशालाक्षीति त्वं तां प्रत्यभिज्ञातुं शक्नोसि। मञ्जुभाषिणीवृत्तम् ।३३।

अनुवाद—खैर, इससे याचना करूँगा (हाथ जोड कर)

हे मानिनि ! मेरा प्रेम तुम्ही मे केन्द्रित है। तुम्हारे अनुकूल ही प्यारी बात बोलता हूँ, जिससे तुम्हारे प्रणय का भङ्ग हो ऐसी बात से अपना मन हटाये रखता हूँ। ऐसा छोटा सा भी कौन सा अपराध देखा है जिससे इस दास जन को छोड रही हो।२९।

अथवा यह सचमुच नदी है। उर्वशी कभी पुरूरवा को छोडकर समुद्र का अभिसरण नही करेगी। अस्तु, खिन्नता और ग्लानि से कभी कल्याण की प्राप्ति नही होती। अब मैं उसी प्रदेश को जाता हूँ जहाँ वह सुनयना मेरी आँखों से ओझल हुयी थी। (इधर-उधर चल कर और देखकर)। वाह ! वाह, उसके मार्ग की पहिचान दिख गई।

यह वह रक्त-कदम्ब है जिसके, ग्रीष्मावसान को सूचित करने वाले एक फूल को जब कि वह पूरे केसर न निकल पाने के कारण खुरदुरा ही था, प्रिया ने आभूषण बनाकर चोटी मे लगा लिया था।३०।

(देखकर) अब प्रिया का समाचार पाने के लिये इस बैठे हुये मृग से प्रार्थना करूँ।

काली और कबरी छबि वाला यह (मृग) ऐसा दिखायी दे रहा है जिसे वनश्री ने कानन की शोभा देखने के लिये कटाक्षपात किया हो।३१।

(देख कर) न जाने क्या इसने मेरी अवज्ञा करके दूसरी ओर मुँह कर लिया। (देखकर) इसके पास आती हुयी मृगी को उसके दूध पीने वाले बच्चे ने रोक लिया है। यह गर्दन को टेढा करके एकाग्र दृष्टि से उसका देख रहा है।३२।

अरे यूथ के मालिक !

क्या तुमने मेरी प्रिया को वन मे देखा है। मैं तुम्हे उसकी पहचान बताता हूँ, सुनो ! जैसे यह बडे-बडे नेत्रो वाली है तुम्हारी साथिन प्यारे प्यारे ढग से देखती है वैसे ही वह भी देखती है।३३।

टिप्पणी—प्रणय भङ्ग चेतस —प्रणयस्य भङ्ग इति प्रणय भङ्ग, तस्मात पराङमुख चेतो यस्य स तस्य। २९वें श्लोक की प्रथम पक्ति के तीनों पद मम के विशेषण हैं जिनसे पता चलता है कि उवशी को मुझ (पुरूरवा) पर क्यो क्रोध नही करना चाहिये। यहाँ मम के ये तीनों विशेषण विशेष अभिप्राय से रखे गये हैं। अत यहाँ परिकर अलङ्कार है। 'उक्ति विशेषणै सामिप्रायै परिकरो मत।"

अनिर्वेद प्राप्याणि०—देखिये रामायण अनिर्वेद श्रियोमूलमनिर्वेद पर सुखम।"

रक्त-कदम्ब—यह वृक्ष का नाम है। कदम्ब वर्षा के प्रारम्भ होने पर फूलता है। अभी वर्षा का आरम्भ है इसीलिये अप्रमग्र केसर'-तथा 'एकम' ये विशेषण प्रयुक्त हुये हैं।

सारङ्गम्—सारम् (चितकबरा Spotted या बिन्दकीदार) अङ्ग यस्य स सारङ्ग। पररूप संधि हुयी है।

भुग्न ग्रीव—भुग्ना (भुज्+क्त—टेढा होना) ग्रीवा यस्य स।

मूलपाठ—कथमनादृत्य ममवचन कलत्राभिमुख स्थित। उपपद्यते। परिभवस्पद दशा विपर्यय। इतो वयम् (परिक्रमितकेन) (अवलोक्य) अये किं नु खलु शिलाभेदान्तरगत नितान्त रक्तमिदमालोक्यते।

प्रभालेपी नाय हरिहृत मृगस्याभिपलव,
स्फुलिङ्ग स्यादग्नेगगनभिवृष्ट पुनरिदम्।
(विभाव्य) अये रक्ताशोक स्तवक-समरागो मणिरय
यमुद्धतु व्यवसित इवालम्बित कर ॥३४॥

हरित मे मन ! आदास्ये तावदेनम्। अथवा—
मन्दारपुष्पैरधिवासितायां यस्या शिखायामयमर्पणीय।
सैवप्रिया सम्प्रति दुर्लभा मे किमेनमस्रापिहत करोमि ॥३५॥

(नेपथ्ये) वत्स गृह्यतां गृह्यताम्।

संगमनीय इति मणिः शैलसुता चरण-राग-योनिरयम्।
आवर्जितं धार्यमाणः सङ्गममचिरात् प्रियं जनेन ॥३६॥

व्याख्या—वयमित्याश्चर्ये मद् वचनम् अनादृत्य अवमत्य कलत्राभिमुख दयिताया सम्मुखे स्थितः। उपपद्यते युज्यते। दशा याः विपर्ययः विरुद्धता विधौ प्रतिकूले जन. परिभवस्य अधिक्षेपस्य आस्पद स्थान भवति। गमिष्यामो वय इतः अस्मात् स्थानात्। (परिक्रमितकेन परितस्त्येतस्ततः अवलोक्य च) अये किं नु खलु विभिद शिलायाः भेदस्तत्रगत शिलान्तर वर्तमान नितान्त रक्तं लाहित्मालोक्यते—

प्रभालेपीति—प्रभया दीप्त्या लिम्पति व्याप्नोति इति प्रभा लेपी अयं हरिणा सिंहेन हतस्य गजस्य अभिलषत. मामस्य खण्ड न। यद्यपीद प्रभया दीप्यमान दृश्यते तथापीद गजमामखण्ड न। मद्देऽपि तत्र लोहितवर्णस्य दीप्तेरभावात्। यदि नेद मामखण्ड तदाऽग्ने स्फुलिङ्गः कणः स्यात्। पुनरिद गगनेऽभिवृष्टम्। (विनाश्य ध्यानपूर्वक निरीक्ष्य) अये अय रक्तश्वासौ अशोक नस्य स्तबकस्तेन गर्भो रागो यस्य स. एव भूतः अशोक पुष्प गुच्छ सदृश रक्तवर्णः मणि पद्मरागः यमुद्धर्तुं हर्तुं पूपा पुष्णातीति सूर्यः अवलम्बिताः प्रसारिताः करा हस्ता. किरणा वा यन सोऽवलम्बित कर व्यवसित "इव (लक्ष्यते) वि+अव+सा+क्त। अत्र पूर्वार्धे ससन्देह, उत्तरार्धे चोत्प्रेक्षा। शिखरिणी वृत्तम्।३४।

रूत्पत्तिकारण यस्य सा पार्वती--चरणलौहित्य प्रसूतोऽय मणिः सगमनीय इति नामा शैलसुता उमा स्वचरणयोर्यं लाक्षारागमाधारयत् स नव्या क्षालितः कयोश्चित् शिलाखण्डयोर्मध्ये निक्षिप्ता हरीभूतश्च मणिरूपे परिणतः। अयमगि-घार्यमाणः—णिजन्तस्य धृ धातोः कर्मणि शानच्—अचिराच्छीघ्र' प्रियजनेन सगममावहति। एतावदाकाशभाषितम्। आर्यावृत्तम्।

अनुवाद—अरे यह तो मेरी बात की परवाह न कर अपनी पत्नी की ओर मुंह करके खडा हो गया। ठीक ही है। भाग्य की विपरीत दशा मे (मनुष्य) अपमान का पात्र बन जाता है। जाता हूँ यहाँ से (इधर-उधर चलकर) (देखकर). अरे! शिला की दरार के भीतर पडा हुआ यह खूब लाल लाल क्या दिखायी देता है?

यह प्रभा से व्याप्त वस्तु शेर के द्वारा मारे हुये हिरन के मास का टुकडा नही है। फिर क्या यह आग की चिनगारी होगी? किन्तु अभी अभी तो आकाश से पानी गिर चुका है। (अच्छी तरह से देखकर) अरे! रक्त अशोक के गुच्छे के समान लाल रग की यह मणि है जिसे लेने के लिए ही सूर्य ने मानो अपने कर (हाथ और किरण) नीचे फैला दिये हैं ॥३४॥

यह मेरे मन को आकृष्ट कर रहा है। इसे ले लूंगा। अथवा—

जिस प्रिया की मन्दार के फूलो से महकती हुयी चोटी मे इस मणि को लगाना चाहिये था वह प्रिया ही आजकल मेरे लिये दुर्लभ हो गयी है तो फिर इसे आसुओ से भिगोकर क्या करूँगा?

(नेपथ्य मे) बेटा, लेलो, लेलो!

शैलपुत्री पार्वती के पैरो के महावर से पैदा हुयी यह सगमनीय मणि है। इसे पहन ले तो यह शीघ्र ही प्रियजन से सगम करा देता है ॥३६॥

टिप्पणी—प्रभालेपी—प्रभायाः लेपः इति प्रभा लेप सोऽस्यास्तीति प्रभालेपी।

रक्ताशोक ''रागः रक्ताश्चासौ अशोक', तस्य स्तवकः इति रक्ताशोक स्तवक, तेन समोरागा यस्य। यहा उत्प्रेक्षालङ्कार है। सूर्य की लाल किरणे मानो मणि को लेने के लिये उसके फैले हुये हाथ हैं।

व्यवसितः—वि+अव+षो धातु (स)+क्त।

शैलसुता ' 'योनिः—शैल सुतायाः चरणौ इति शैलसुता चरणौ तयोः रागः योनिः (जन्मस्थानम्)।

धार्यमाणः—धृ धातु (धारण करना) + णिच् + कर्मवाच्य में शानच्। शैलपुत्री उमा के चरणों में लगा हुआ लाक्षाराग (महावर) उनके स्नान करने के समय घुलकर दो शिलाखण्डों के बीच में जाकर जम गया और धीरे-धीरे मणि के रूप में बदल गया था।

नेपथ्ये—नेपथ्य से प्रारम्भ कर ३६वें श्लोक के अन्त तक का भाग "आकाशभाषित" है।

अस्रोपहृतम्—आस्रैः (अश्रुभिः) उपहृतः इति अस्रोपहृतः तम्।

मूलपाठ—राजा (*कर्णं दत्वा*) को नु खलु मामेवानुशास्ति। (दिशोऽवलोक्य) अये अनुकम्पते मां कश्चिन्मृगचरी मुनिर्भगवान्। भगवान् अनुगृहीतोऽस्म्यहममुपदेशाद् भवतः। (मणिमादाय) हं हो संगमनीय—

तया विमुक्तस्य विलग्नमध्यया
भविष्यति त्वं यदि संगमाय मे।
ततः करिष्यामि भवन्तमात्मनः,
शिखामणिं बालमिवेन्दुमीश्वरः ॥३७॥

(परिक्रम्यावलोक्य च) अये किं नु खलु कुसुमरहितामपि लतामिमां पश्यतो मे रतिरूपलभ्यते। अथवा स्थाने मनोरमा ममेयम्। इयं हि—

तन्वीमेघजलार्द्र पल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः,
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद् विश्रान्त पुष्पोद्गमा।
चिन्ता मौनमिवाश्रिता मधुलिहां शब्दैर्विना लक्ष्यते,
चण्डीमामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥३८॥

यावदस्याः—प्रियानुकारिण्याः परिष्वङ्ग-प्रणयी भवति। (इति स तामालिङ्गति)

(*ततः प्रविशति तत्स्थाने एवोर्वशी*)

राजा—(निमीलिताक्ष एव स्पर्शं रूपयित्वा) अये उर्वशी गात्र स्पर्शादिव निवृत्तं मे शरीरम्। तथापि न पुनः प्रत्ययः विश्वासः। कुतः—

समर्थये यत्प्रथमं प्रियां प्रति-
क्षणेव तन्मे परिवर्ततेऽन्यथा।
अतो विनिद्रे सहसा विलोचने
करोमि न स्पर्श–विभावित–प्रियः ॥३६॥

(शनैश्चक्षुषी उन्मील्य) कथं सत्यमेवोर्वशी ?

व्याख्या—राजा—(कर्णं दत्वा ध्यानपूर्वक निशम्य) को नु खलु मामेव अनुशास्ति आदिशति मणिं गृहीतुम्। (दिशोऽवलोक्य सर्वतो दृष्ट्वा) अये अनुकम्पते अनुगृह्णाति मा कोऽपि मृगचारी मृग इव चरति स तृण-फल-जल-वृत्तिः परिव्राजकः मुनिर्भगवान पूज्यः। भगवन् अनुगृहीतोऽस्मि अह भवत उपदेशात्। महतीय भवतः कृपा यद् भवान् मामेवमादिष्टवान्। (मणिमादाय) ह हो सगमनीय।

तर्येति—यदि त्व विलग्न मध्यया विलग्नः क्षीणः विशेषेण लग्न मध्यः कटिभागोयस्याः सा तया क्षीणकस्य प्रियया वियुक्तस्य विरहितस्य मे सङ्गमाय पुनर्मेलनाय भविष्यसि। तादर्थ्यै चतुर्थी, तदाऽहमीश्वरः शिवः बालश्चासौ चन्द्रस्त बालचन्द्रमिव आत्मनः स्वस्य शिखामणि चूडामणि करिष्यामि। शिरसि धारयित्वा परमादर प्रदर्शयिष्यामि। उपमालङ्कारः। वशस्थ वृत्तम्। (परिक्रम्य अवलोक्य च) अये इत्याश्चर्ये हर्षे च, किं नु खलु कुसुमरहिता निष्पुणामपि इमा लता पश्यतो मे रति निर्वृत्तिरनुरागो वा उपलब्धा। मे इति कर्त्तरि षष्ठी। अथवा स्थाने युक्तमेव यदेषा मे मनोरमा मनः रमयति इति। इय हि—

तन्वीति—तन्वी सुन्दरी मेघजलेन वर्षासलिलेन आर्द्राः पल्लवा यस्या सा तस्या भावो मेघ जलार्द्रपल्लवता तया अश्रुभिः धौतोऽधरो यस्याः सा धौताधरा इव। लता वर्षण जलेन आर्द्रपल्लवा प्रिया च प्रणिपात–उल्लङ्घन्–जात–पश्चात्तापा अश्रुमिः सिक्ताधरा। उभे च तन्व्यौ। लता स्वेषा पुष्पाणा कालः प्रादुर्भाव समय. तस्य विरहोऽपगमः तस्मात् स्वकालविरहात् पुष्पोद्गम कालव्ययात् विश्रान्ता विरति गतः पुष्पोद्गमो यस्याः सा विश्रान्त पुष्पोद्गमा। आभरणैः-भूषणैः शून्या प्रिया इव। यथा लता पुष्पैः शून्या तथा खिन्न मानसा प्रिया आभूषणै रहिता। मधुलिहल्लीति मधुलिहल्लेषा भ्रमराणा शब्द विना चिन्तया

कृत मौनमिति चिन्ता मौनमास्थिता गृहीतवती लक्ष्यते। लता भ्रमर-शब्दाभावेन मौनवती प्रिया तु पश्चात्ताप-जनित-चिन्तया तूष्णीं भूता। एवमेषा पादयोः पतित पाद पतित कृतप्रणिपात मामवधूय तिरस्कृत्य जातोऽनुतापो यस्या सा चण्डी क्रुद्धा उर्वशी इव (लक्ष्यते)। उत्प्रेक्षालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्। अत्र कार्यान्वेषणाद् विबोधन नाम सन्ध्यङ्गमुक्त भवति। ३८॥

यावदस्या प्रियामनुकरोतीति प्रियानुकारिणी तस्या प्रियानुकारिण्याः उपर्युक्तरीत्या प्रियाचेष्टा विडम्बयन्त्या परिस्वङ्गे आलिङ्गने प्रणयः इति परिस्वङ्ग-प्रणयः। सोऽस्ति अस्येति परिस्वङ्गप्रणयी आलिङ्गनाकाङ्क्षी भवामि। (इति लतामालिङ्गति) अत्रालिङ्गनस्य उर्वशी प्राप्ति'' नाम सन्ध्यङ्ग मुक्त भवति।

राजा—निमीलिते सवृते एवाक्षिणी नेत्रे यस्य स निमीलिताक्ष इव स्पर्शं उर्वशीगात्रस्पर्शमिव रूपयित्वा (प्रदर्श्य) अये मे शरीर उर्वशीग त्राणा सपर्वादिव निर्वृत्त विश्रान्ति गतम्। यथा उर्वशी स्पर्शेन शरीर शान्तिम् लभते तथैवास्याः स्पर्शेनालभत। तथापि विश्वासो पुनर्नास्ति:—

समर्थये इति—यत् नूपुर–रवादिक प्रथम पूर्व प्रिया प्रति उर्वशीमनुसन्धाय समर्थये भावयामि तत् क्षणेन अन्यथाऽन्य प्रकारेण तद्विरारज्हस–रवादिरूपेण परिवर्तते। अतोऽनेन कारणेन साम्प्रतमपि मे प्रिया लताद्यन्य रूपे परिणता न भवेदिति स्पर्श–विभावित प्रिय. स्पर्शेन अङ्गस्पर्शेन विभाविता निरूपिता प्रिया येन स एवभूतोऽपि लोचने विनिद्रे उन्मीलिते न करोमि! वशस्थ वृत्तम्।३९।

(शनैश्चपणी नेत्रे उन्मील्य) कथमिति हर्षे सत्यमेव उर्वशी!

अनुवाद—राजा— (कान लगाकर) यह कौन मुझे ही आदेश दे रहा है। (दिशाओं को देख कर) अरे यह कोई मृगयान जीवन बिताने वाला पूज्य मुनि मुझ पर अनुकम्पा कर रहा है। भगवान् आपके आदेश से मैं अनुगृहीत हूँ। (मणि को लेकर) अरे संगमनीय!

यदि तुम उस पतली कमर वाली (प्रिया) से वियुक्त हुये मुझ (पुरुरवा) को उससे मिला दोगी तो तुम्हें इस प्रकार अपनी शिरामणि बना लूंगा जैसे शिव ने बाल चन्द्र को बनाया है।३७।

(इधर-उधर घूमकर और देखकर) अरे पुष्परहित होने पर भी, न जाने क्यों, इस लता को देखकर रति की प्राप्ति हो गयी है। अथवा ठीक ही यह मेरी मनोरमा है। यह—

वर्षा के जल से पत्तों के भीगे होने के कारण लगता है कि, जैसे इसके अधरों का रंग आंसुओं से घुल गया है। फूलने की ऋतु बीत जाने से इसका पुष्पोद्गम प्राप्त हो गया है, इससे यह आभूषण से शून्य (दिखाई देती) है। भौरों का गुञ्जन न होने से यह चिन्ता के कारण मौन बैठी हुयी-सी दिख रही है। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वह चण्डी (क्रोधमयी) पैरों में पड़ने पर भी मेरा तिरस्कार करके अब पश्चात्ताप-सा कर रही है।३८।

अच्छा प्रिया का अनुकरण करने वाली इस लता से आलिङ्गन की प्रार्थना करूँ। (लता का आलिंगन करता है) (तब उसी स्थान पर उर्वशी प्रवेश करती है)

राजा—(आँखें बन्द किये-किये ही स्पर्श का प्रदर्शन करके) मेरे शरीर को इस प्रकार सुख मिल गया जैसे उर्वशी के शरीर के सम्पर्क से हुआ हो। फिर भी मुझे विश्वास नहीं होता, क्योंकि—

पहले मैं जिस बात को प्रिया के प्रति समझता हूँ वह क्षण भर में बदल कर कुछ और हो जाती है इसलिये स्पर्श से प्रिया को समझ लेने पर भी मैं सहसा अपनी आँखें नहीं खोल रहा हूँ।३९।

(धीरे से दोनों नेत्र खोलकर) अरे, सचमुच ही उर्वशी।

टिप्पणी—विलग्नमध्या—विशेषेण लग्नः मध्यः यस्याः सा। पतली कमर वाली।

शिखामणि...मीश्वरः—उपयुक्त उपमा है। जिस प्रकार शिव ने हलाहल की जलन को शान्त करने के लिये बाल-चन्द्र को 'शिखामणि' बनाया था उसी प्रकार पुरूरवा विरह की जलन को शान्त करने के लिये 'सगमनीय' को "शिखामणि" बनाने का सङ्कल्प करता है।

तन्वी मेघ०—राजा लता और उर्वशी में साम्य देखता है क्योंकि (१) लता के पत्ते वर्षा-जल से भीगे हैं जो उर्वशी के आंसुओं से भीगे अधर जैसे लगते हैं, (२) लता पर पुष्प नहीं है, उर्वशी भी वियोग-शोक में आ॰,

धारण किये होगी। (३) लता पर (पुष्प न होने से) भौंरे नहीं मँडरा रहे हैं अतः वह निःशब्द है, उर्वशी भी शोकमग्न होने से मौन होगी।

'लता कोपना उर्वशीव लक्ष्यते' यहाँ कार्य के अन्वेषण के कारण 'विबोधन' नाम सन्ध्यङ्ग है।

लतामालिङ्गति—यहाँ आलिंगन के उर्वशी प्राप्ति के कारण होने से 'आदान' नामक सन्ध्यङ्ग है।

स्पर्श ·प्रिय—स्पर्शेन विभाविता (निरूपिता) प्रिया येन सः।

मूलपाठ—उर्वशी (वाष्प विसृज्य) जेदु जेदु महाराओ। [जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—त्वद् वियोगोद्भवे तन्वि मया तमसि मज्जता।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धाऽसि चेतनेव गतासुना ॥४०॥

उर्वशी—अब्भन्तर करणाए मए पच्चक्खी किद-वुत्तन्तो खु महाराओ। [अभ्यन्तर-करणया मया प्रत्यक्षीकृत वृत्तान्तः खलु महाराजः।]

राजा—अभ्यन्तर करणयेति न खलु ते वचनार्थमवैमि।

उर्वशी—कह इस्स। इम दाव पसीददु महाराओ ज मए कोववसं गदाए एद अवत्थन्तर पाविदो महाराओ [कथयिष्यामि। एतत्तावत् प्रसीदतु महाराजो यन्मया कोपवश गतया एतदवस्थान्तर प्रापितो महाराजः।]

राजा—कल्याणि! न तावदह प्रसादयितव्यः। त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नः सवाह्यान्तःकरणो ममान्तरात्मा। कथय कथमियन्तं कालमवस्थिता मया विना भवती।

उर्वशी—सुणादु महाराओ। भअवदा कुमारेण सासदं कुमारव्वदं गेण्हिअ अकलुसो णाम गन्धमादण कच्छो अज्झासिदो किदो अ एस विही। [शृणोतु महाराजः। भगवता कुमारेण शाश्वत कुमारव्रतं गृहीत्वा अकलुषो नाम गन्धमादन कच्छो अध्यासिता कृतश्चैव विधि:]

राजा—क इव ?

उर्वशी—जा इमं पदेशं इत्थिआ पविसदि सा लदाभावेप परिणमिस्सदि। गोरी चरण-संभवं मणि विणा तदो ण मुच्चिस्सदित्ति। साहं गुरुसाव संमूढ-हिअआ देवदासमअ विसुमरिअ अगहिदाणुआआ कुमारवणं पविट्ठा। पवेमाणन्तर एव्व वासन्तीलदा संवुत्ता। [यैतं प्रदेशं स्त्री प्रवेक्ष्यति सा लता भावेन परिणंस्यति। गौरी-चरण-संभवं मणि विना ततो न मोक्ष्यत इति। साऽहं गुरुशाप-संमूढ हृदया देवता समयं विस्मृत्या गृहीतानुनया कुमारवनं प्रविष्य। प्रवेशानन्तरमेव वासन्ती-लता सवृत्ता।]

व्याख्या—उर्वशी—(वाष्पमश्रु विमुच्य विसृज्य) जयतु जयतु महाराजः।

राजा—हे तन्वि सुन्दरि तव वियोग इति त्वद्विरागस्तमादुद्भवो यस्य तस्मिन् त्वद्विरहजन्ये तमसि मज्जता शोकावृतेन मया दिष्ट्या भाग्येन गताः असवो यस्य तेन निर्गत–जीवितेन जनेन चेतना इव त्वमुर्वशी प्रत्युपलब्धा पुनः प्राप्तासि। यथा मन्‌चेतनामवाप्य पुनः सचेत. मनु कार्य करुं क्षमो भवति तथाऽहं त्वा प्राप्य जातोऽस्मि। अनुष्टुब्वृत्तम्।४०।

उर्वशी—अभ्यन्तराणि करणानि इन्द्रियाणि यस्याः स, तया अन्तर्गतेन्द्रिय वृत्तिरूपया मया अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष कृतः इति प्रत्यक्षीकृतः वृत्तान्तो यस्य स प्रत्यक्षवद् दृष्टप्रवृत्ति खलु महाराज.। मया महाराजस्य सर्वमाचरित प्रत्यक्ष-वद् दृष्टम्।

राजा—अभ्यन्तर करणा इति यदुक्तं भवत्या तस्य वचनार्थं तात्पर्यं नअवेमि।

उर्वशी—कथयिस्यामि। एतत् तावत् प्रमादतु मनाराराजं मर्षयतु यन्मया कोपवश क्रोधाधीनता गतया एतदवस्थान्तर प्रापितो गमितो महाराजः।

राजा—कल्याणि! न तावदहं प्रमादयितव्य. त्वं मा प्रमादयितुं नार्हसि। मम बहिर्भवानि बाह्यानि तानि च अन्तश्च अन्तर्गतानि च करणानि इति बाह्यान्तःकरणानि तानि च चतुर्दश। तत्र बाह्यानि "श्रोत्रं त्वक चक्षुषी जिह्वा, नासिका चैव पञ्चमी–पायुपस्थ हस्तपादं वाक्‌-चैव दशमी स्मृता" इति दश। अन्तःकरणानि च मनोबुद्धिश्च चित्तमहङ्कारश्चेति चत्वारि। आत्मा

चैतेया सर्वेषामधिष्ठाता । तं बाह्यान्त.करणैः सहति इति सबाह्यान्तःकरणः अन्तरात्मा त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नो मुदितः । कथ केन प्रकारेण इयन्त दीर्घं काल मया विना मद्विरहिता अवस्थिता भवती इति कथय । एतावान् विरहदीर्घः कालोभवत्या केन प्रकारेण व्यतीतः ।

उर्वशी—शृणोतु महाराज । भगवता पूज्येन कुमारेण कार्तिकेयेन शाश्वतमखण्ड कुमारव्रत ब्रह्मचर्यं गृहीत्वा अकलुषो नाम गन्धेन मादयति मत्त करोतीति गन्धमादनः तस्य कच्छ जलप्राय' प्रान्तप्रदेशः अध्यासितः वासाय स्वीकृत' । नैष्ठिक व्रत गृहीत्वा कुमारः अकलुषाख्ये जलाशयेऽन्यवसत् । कृतश्च एष विधिर्नियमः ।

राजा—क इव, को विधि, कृत कुमारेण ?

उर्वशी—या स्त्री एत प्रदेश प्रवेक्ष्यति सा लताभावेन परिणस्यति लता रूपे परिणता भविष्यति । गौर्याश्चरणौ ताभ्या सभव उत्पत्तिर्यस्य त गौरी-पादोत्पन्न मणि विना ततो लताभावान मोक्ष्यते मुक्तो न भविष्यति । साऽह गुरो भरतस्य शापस्तेन समूढ हृदय यस्या सा भरतशापाज्जडत्वमापन्ना देवता-समय कुमार कृत विधि विस्मृत्य अगृहीतानुनया न गृहीतः स्वीकृतोऽनुनय प्रणिपातो मया सा उल्लङ्घित-प्रणिपाता कुमारवन प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरमेव वासन्ती वसन्ते पुष्प्यतीति वासन्ती कुन्दलता सवृत्ता "कालात्साधुपुष्प्यत्-पच्य-मानेषु" (४-३-४३) इति अण ।

राजा—कल्याणि ! मुझे मनाने की आवश्यकता नही है। तुम्हारे दर्शन से ही बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों के साथ मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो गयी। बतलाओ मेरे बिना इतने समय तक तुम किस तरह रही ?

उर्वशी—सुनिये महाराज ! पूज्य कुमार शाश्वत् ब्रह्मचर्य व्रत लेकर गन्धमादन के अकलुष नाम कच्छ मे रहने लगे और उन्होंने यह नियम किया—

राजा—क्या नियम ?

उर्वशी—जो स्त्री इस प्रदेश मे प्रवेश करेगी वह लता रूप मे बदल जायगी और गौरी के चरण से उत्पन्न मणि के बिना उसमे मुक्त नही होगी। सो मैं गुरु के शाप के कारण हृदय मे विवेकहीन होकर देवता के नियम को भूल गयी और (आपके) अनुनय स्वीकार न करती हुई कुमार वन मे घुस गयी। बस प्रवेश के बाद ही वासन्ती लता बन गयी।

टिप्पणी—गतासुना—गतः असवः यस्य स गतासु तेन मृत व्यक्तिना असु—प्राण। मृत व्यक्ति के लिये चेतना का जो मूल्य है वही पुरूरवा अपने लिये उर्वशी का मूल्य मानता है।

अभ्यन्तर करणया—अभ्यन्तराणि करणानि यस्या सा तया। करण-इन्द्रियाँ (ज्ञान तथा कर्म सम्बन्धी "श्रोत्र त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी—पायूपस्थ हस्तपाद वाक् चैव दशमी स्मृता।" साख्यदर्शन तीन अन्तरिन्द्रियाँ मानता है—बुद्धि, मनस और अहंकार। वदान्त चित्त को चौथी मानता है।

सबाह्यान्त करण.—बहिर्भवानि बाह्यानि। बाह्यानि च अन्तर च तानि करणानि इति बाह्यान्त करणानि। तैं सहितः।

गन्धमादन कच्छ—हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक नगर के उपवन का नाम गन्धमादन है। कुमारसम्भव म शिव और पार्वती विवाहोपरान्त रमण के लिये गन्धमादन पर जाते हैं।

मूलपाठ—राज—सर्वमुपपन्नम्—

रति-खेद सुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवास गतम्।—
सा त्वं प्रिये सहेया. कथं मदीयं चिर वियोगम्॥४१॥

चैतेषा सर्वेषामधिष्ठाता । तै बाह्यान्तःकरणैः सहति इति सबाह्यान्तःकरणः अन्तरात्मा त्वद्दर्शनादेव प्रसन्नो मुदितः । कथं केन प्रकारेण इयन्तं दीर्घं कालं मया विना मद्विरहिता अवस्थिता भवती इति कथय । एतावान् विरहदीर्घः कालोभवत्या केन प्रकारेण व्यतीतः ।

उर्वशी—*शृणोतु महाराजः । भगवता पूज्येन कुमारेण कार्तिकेयेन* शाश्वतमखण्ड कुमारव्रत ब्रह्मचर्यं गृहीत्वा अक्लुषो नाम गन्धेन मादयति मत्त करोतीति गन्धमादनः तस्य कच्छः जलप्रायः प्रान्तप्रदेशः अध्यासितः वासाय स्वीकृतः । नैष्ठिक व्रत गृहीत्वा कुमारः अक्लुषाख्ये जलाशयेऽन्यवसत् । कृतश्च एष विधिर्नियमः ।

राजा—क इव, को विधिः कृत कुमारेण ?

उर्वशी—या स्त्री एत प्रदेश प्रवेक्ष्यति सा लताभावेन परिणस्यति लता रूपे परिणता भविष्यति । गौर्याश्चरणौ ताभ्या सभव उत्पत्तिर्यस्य त गौरीपादोत्पन्न मणि विना सतो लताभावात् मोक्ष्यते मुक्तो न भविष्यति । साऽहं गुरो भरतस्य शापस्तेन समूढ हृदय यस्याः सा भरतशापाज्जडत्वमापन्ना देवतासमय कुमार कृत विधि विस्मृत्य आगृहीतानुनया न गृहीतः स्वीकृतोऽनुनय प्रणिपातो मया सा उल्लङ्घित-प्रणिपाता कुमारवन प्रविष्टा । प्रवेशानन्तरमेव वासन्ती वसन्ते पुष्पयतीति वासन्ती कुन्दलता सवृत्ता "कालात्साधुपुष्प्यत्-पच्यमानेषु" (४–३–४३) इति अण् ।

अनुवाद-उर्वशी—(आसू गिरा कर) जय हो ! महाराज की जय हो !

राजा—हे सुन्दरि ! तुम्हारे वियोग से पैदा होने वाले शोक मे डूबते हुये मुझे भाग्य से तुम इस तरह मिल गयी जैसे मरे हुये व्यक्ति को चेतना मिल जाय ।४०।

उर्वशी—मैंने अपनी अन्तरिन्द्रियो से महाराज के हाल-चाल को प्रत्यक्ष देख लिया है ।

राजा—अन्तरिन्द्रियो से तुम्हारी इस बात के तात्पर्य को नही समझ पा रहा हूँ ।

उर्वशी—बतलाऊँगी । पहले आप इस बात के लिये नाराजी छोड दें कि मैंने क्रोध के वश में आकर आपको इस परिवर्तित दशा मे पहुँचा दिया है

राजा—कल्याणि ! मुझे मनाने की आवश्यकता नही है। तुम्हारे दर्शन से ही बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों के साथ मेरी अन्तरात्मा प्रसन्न हो गयी। बतलाओ मेरे बिना इतने समय तक तुम किस तरह रही ?

उर्वशी—सुनिये महाराज ! पूज्य कुमार शाश्वत् ब्रह्मचर्य व्रत लेकर गन्धमादन के अकलुष नाम कच्छ मे रहने लगे और उन्होने यह नियम किया—

राजा—क्या नियम ?

उर्वशी—जो स्त्री इस प्रदेश मे प्रवेश करेगी वह लता रूप मे बदल जायगी और गौरी के चरण से उत्पन्न मणि के बिना उससे मुक्त नही होगी। सो मैं गुरु के शाप के कारण हृदय मे विवेकहीन होकर देवता के नियम को भूल गयी और (आपके) अनुनय स्वीकार न करती हुई कुमार वन में घुस गयी। बस प्रवेश के बाद ही वासन्ती लता बन गयी।

टिप्पणी—गतासुना—गतः असवः यस्य स गतासु· तन मृत व्यक्तिना असु—प्राण। मृत व्यक्ति के लिये चेतना का जो मूल्य है वही पुरूरवा अपने लिये उर्वशी का मूल्य मानता है।

अभ्यन्तर करणया—अभ्यन्तराणि करणानि यस्या सा तया। करण- इन्द्रियाँ (ज्ञान तथा कर्म सम्बन्धी "श्रोत्र त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी—पायूपस्थ हस्तपाद वाक् चैव दशमी स्मृता।" सांख्यदर्शन तीन *अन्तरिन्द्रियाँ मानता है—बुद्धि, मनन और अहंकार।* वेदान्त चित्त को चौथी मानता है।

सबाह्यान्त.करण.—बहिर्भवानि बाह्यानि। बाह्यानि च अन्तर च तानि करणानि इति बाह्यान्त करणानि। तैं सहित.।

गन्धमादन कच्छ—हिमालय के ओषधिप्रस्थनामक नगर के उपवन का नाम गन्धमादन है। कुमारसम्भव मे शिव और पार्वती विवाहोपरान्त रमण के लिये गन्धमादन पर जाते हैं।

मूलपाठ—राजा—सर्वमुपपन्नम्—

रति-खेद सुप्तमपि मां शयने या मन्यसे प्रवास गतम्।—
सा त्वं प्रिये सहेथाः कथं मदीयं चिर वियोगम् ॥४१॥—

इदं तद् यथा कथितं त्वं-संगम-निमित्तं मुनेरूपलभ्य मणिप्रभावादासदिता त्वमस्माभिः। (रमणं दर्शयति)

उर्वशी—अम्मो संगमणीओ। अदो खु महाराएण आलिङ्गिमेत्तव्व पकिदिथ्थह्मि सवुत्ता। [अहो संगमनीयः। अतः खलु महाराजेन आलिङ्गितमात्रैव प्रकृतिस्थाऽस्मि संवृत्ता।] (मणिमादाय मूर्धनि वहति)

राजा—एवमेव सुन्दरि स्थीयताम्

स्फुरता विच्छुरितमिदं रागेण मणेर्ललाट निहितस्य।
श्रियमुद्वहति मुखं ते वालातप रक्त-कमलस्य।।४२।।

उर्वशी—महन्तो खु कालो तुह पइट्ठाणादो निग्गदस्य। असूअन्ति मं पकिदोओ। ता यहि णिवुत्तह। [महान् खलु कालस्तव प्रतिष्ठाना-न्निर्गतस्य। असूयन्ति मह्यं प्रकृतयः तदेहि निवर्तावहे।]

राजा—यदाज्ञापयति भवती।

उर्वशी—कहं महाराओ गन्तुं इच्छदि ? [कथं महाराजो गन्तुमिच्छति ?]

राजा—अचिर-प्रभा-विलासितैः पताकिना,
सुरकार्मुकाभिनव-चित्र शोभिना।
गमितेन खेलगमने विमानता
नय मा नवेन वसति पयोमुचा।।

(इतिनिष्क्रान्ताः सर्वे)

चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः

व्याख्या—राजा—सर्वमुपपन्न त्वया यदुक्त तद्युक्तम्।

रतिखेदेति—या त्व शयने रत्या खेदः रतिखेदस्तेन सुप्त सुरतश्रमावाप्त-निद्र मा प्रवासगत दूरस्थमिदम-यते। स्म प्रिये! सा त्व सदा वियोगभीता मदीय चिर वियोग कथ सहेथा सोढवतीति भावः। आर्या जातिः।४१।

इद तद् यथाकथित पूर्वोक्तानुसारेण 'त्वत्संगम-निमित्त तव समागमे हेतुमू इमुपाय मनेरुपलभ्य प्राप्य मणिप्रभावात् त्वमस्माभिरासादिता, प्राप्ता। (मणि दर्शयति)

उर्वशी—अहो सगमनीय एतनामको मणिः अतोऽनेन कारणेन महाराजेन आलिङ्गता एव इत्यालिङ्गित मात्रा एव प्रकृतिस्था स्वस्था पूर्वावस्थागनम् सवृत्ता जाताऽस्मि। (मणिमादाय गृहीत्वा मूर्धनि शिरसि प्रियाया भाले निवेशयति)

राजा—एवमेव अनयैव मुद्रया सुन्दरि ! क्षणमात्र स्थीयताम्।

स्फुरतेनि—ललाटे निहित इति ललाट निहितो भाले निवेशितस्तस्य मणेः सगमनीयस्य स्फुरता सर्वतः प्रसरता रागेण प्रभया विच्छुरित ससक्त ते मुख बालरचामौ आतपः तेन रक्त यत् कमल तस्य बालार्क किरण रञ्जितस्य पङ्कजस्य श्रिय शोभामुद्वहति धारयति। निदर्शनालङ्कार। आर्याजातिः।४२।

उर्वशी—महान् खलु काल. तव प्रतिष्ठानात् राजधान्याः निर्गतस्य असूयन्ति मह्य प्रकृतयः प्रजा। प्रतिष्ठान गता नागरिका नगरे तवानुपस्थितौ मामेवापराधिनी मत्वा मह्य क्रुध्यन्ति। मह्यमिति 'क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थाना य प्रति कोप' इति चतुर्थी। तदेहि आगच्छ निवर्तामहे प्रतिगच्छाव.।

राजा—यदाज्ञापयति भवती।

उर्वशी—क्थ महाराजो गन्तुमिच्छति इत।

राजा—अपि खेल सलील गमन यस्यः सा सम्बोधने ललितगतिके ! अचिरप्रभाया. विद्युत विलसितानि अलोकास्तै पताकिना ध्वजयुक्तेव, कर्मणे कर्मसु व प्रभवनि तरकार्मुक कर्मणि ठकञ् "५-१-१०३" इति सुरकार्मुकमिन्द्रधनु तदेवाभिनव चित्र तेन शाल्ते शोभते इति सुरकार्मुकाभिनव चित्र शालिना, अतएव विमानता विमानरूप गमितेन प्रापितेन नवेन पयोमुच-तीति पयोमुक् मेघेन मा वर्सति वासस्थान नय प्रापय पयोदो विमानस्थानीयः, तदीया विद्युत-पताका, इन्द्रधनुश्च विमाने आलिखितमिति कल्पना। (इति सर्वे निष्क्रान्ताः रङ्गभूमे. गता)

चतुर्थोऽङ्कः समाप्तः

अनुवाद—राजा—सब ठीक समझ लिया।

प्रिये ! जो तुम रति क्रीडा मे थककर शैय्या पर सो जाने पर मुझे परदेश गया-सा मान लेती थी उन्हीं तुमने मेरे चिर वियोग को कैसे सहा होगा ? ।४१।

अरे, यह जैसा तुमने बताया है, तुम्हारे मिलने की साधन मणि मुनि से पाकर उसके प्रभाव से मैंने तुम्हे पाया है। (मणि दिखाता है)

उर्वशी—अरे संगमनीय! इसीलिये महाराज के आलिङ्गन करते ही मैं जैसी थी वैसी हो गयी। (मणि लेकर सिर पर रख लेती है)

राजा—सुन्दरि! क्षण भर इसी तरह खड़ी रहो। मस्तक पर रखी हुई मणि से फूटकर निकले हुये रंग से विच्छुरित (मिलकर) होकर तुम्हारा मुंह प्रातः काल की धूप से रंगीन (लाल) कमल की शोभा को धारण कर रहा है।

उर्वशी—प्रतिष्ठान से निकले तुम्हे बहुत समय बीत गया अब मुझसे नाराज हो रहे होंगे। इसलिये आओ, लौट चलें।

राजा—जो आपकी आज्ञा!

उर्वशी—महाराज किस प्रकार जाना चाहते हैं?

राजा—बिजली की चमक की पताका बनाकर, इन्द्र-धनुष के भीतर बनी हुई चित्रकारी का ध्यान देकर, हे मनोरम चालवाली प्रिये! तुम मुझे बादल के विमान से मेरे निवास-स्थान को ले चलो।४३।

(सब चले जाते हैं)

चतुर्थ अंक समाप्त हुआ

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति हृष्टो विदूषकः)

मूलपाठ—विदू०—ही ही भो दिट्ठिआ चिरस्स कालस्स उव्वसीसहाओ णन्दन-वण-प्पमुहेसु देवदारण्णेसु विहरिअ पडिणिवुत्तो पिअवअस्सो। दाणि ससक्कारोवआरेहिं पकिदीहिं अणुरज्जन्तो रज्जं करोदि। असंताणत्तण वज्जिअण किवि से हीणं। अज्ज तिहि विसेसोत्ति भअवदीणं गङ्गा-जमुणाणं संगमे देवीहिं सह किदाहिसेओ संपदं उवआरिअं पविट्ठो। ता जाव तत्तभवदो अलंकरीअमाणस्स अणुलेवणमल्ले अग्गभागी होमि। (इति परिक्रामति) [ही ही भो दिष्ट्या चिरस्य कालस्य उर्वशी सहायो नन्दनवन-प्रमुखेषु देवतारण्येषु विहृत्य प्रतिनिवृत्तः प्रियवयस्यः। इदानीं ससत्-कारोपचारैः प्रकृतिभिरनुरज्यमानो राज्यं करोति। असन्तानत्वं वर्जयित्वा न किमप्यस्य हीनम्। अद्य तिथिविशेष इति भगवत्योः गङ्गायमुनयोः संगमे देवीभिः सह कृताभिषेकः साम्प्रतमुपकार्यां प्रविष्टः। तद् यावत् तत्रभवतोऽलङ्क्रियमाणस्यानुलेपनमाल्ये अग्रभागी भवामि।] (इति परिक्रामति)

(नेपथ्ये)

हध्धी हध्धी। दुऊलुत्तरच्छदे तालवेण्टाधारे णिक्खिविअणीअमाणो मए भट्टिणो अब्भन्तर-विलामिणी-मोलिरअण जोग्गो मणी आमिस-सङ्किणा गिध्धेण अक्खित्तो। [हा धिक्! हा धिक्! दुकूलोत्तरच्छदे तालवृन्ताधारे निक्षिप्य नीयमानो मया भर्तुरभ्यन्तर-विलासिनी-मौलिरत्न-योग्यो मणिरामिषशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्त.।

विदूषक—(आकर्ण्य) अच्चाहिद। परं बहुमदो क्खु मो वअस्सस्स संगमणीओणाम चूडामणिः। अदो खु असमत्तणेवच्छो तत्तभवं आसणादो उट्ठिअ इदो एव्व आअच्छदि। जाव ण उवसप्पामि। [अत्याहितम्। परं बहुमतः खलु सवयस्यस्य संगमनीयो नाम चूडामणिः। अतः खल्वसमाप्तनेपथ्यस्तत्रभवानासनादुत्थायेत एवागच्छति। यावदेनमुपसर्पामि।]

प्रवेशकः

पञ्चमोऽङ्कः

व्याख्या—इदानीं यथास्थानं सन्निवेशितान् मुखसन्ध्यादिरूपानर्थान् समन्वेतु निर्वहणसन्धिगर्भं पञ्चममङ्कं प्रारभते कविः। निर्वहणसन्धिलक्षणं च दशरूपके 'बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्-ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्' इति। तत्रादि म वृत्तोपन्यासार्थं विदूषक प्रवेशं सूचयन्नाह ततः प्रविशतीति। हृष्टः प्रसन्नमनाः। हृष् धातोः क्तः।

विदू०—ही ही भोः इति आश्चर्ये। दिष्ट्या सौभाग्येन चिरस्य कालस्य बहुकालेन उर्वशीसहाया यस्य स तथाविधउर्वशीसहायः नन्दनवन प्रमुख येषां तेषु नन्दनवनादिकेषु बहुषु देवतारण्येषु देववनेषु विहृत्य विहारं कृत्वा प्रतिनिवृत्तः गृहं प्रत्यागतः प्रियवयस्यः पुरूरवः। इदानीं प्रतिष्ठानगमनानन्तरं स प्रकृतिभिः प्रजाजनैः सत्कारोपचारैः सम्मान-सेवादिक्रियाभिरनुरज्यमानः प्रसाद्यमानः राज्यं करोति राज्यकार्याणि पर्यवेक्षते। प्रजास्तस्य सत्कारादिभिर्मनो रञ्जयन्ति। असन्तानत्व अपत्यहीनता वर्जयित्वा विहाय न किमपि अस्य हीनम्। न सन्तानादृते कस्याप्यन्यस्य वस्तुनोऽभावः। अद्यतिथिविशेष पर्वविशेषः कश्चिदितिकृत्वा भगवत्योर्गङ्गायमुनयोः सङ्गमे देवीभिः सह कृतः अभिषेकः स्नानं येन स एव भूत साम्प्रतम उपकार्यत इति उपकारी तस्या पटभवने (tent) प्रविष्टः। तद् यावत्तत्र भवतो वयस्यस्य अलङ्क्रियत इति अलङ्क्रियमाणः तस्य भूष्यमाणस्य अनुलेपनं च माल्यं चेति अनुलेपनमाल्यं तत्र कुङ्कुम वस्तूरिकायुद्वर्तनद्रव्येषु माल्यादिषु च अग्रभागी प्रथमाग्रोपभोक्ता भवामि। ब्राह्मणत्वाद् वयस्यत्वाच्च विदूषकः राज्ञोपभुज्यमानस्य वस्तुनः पूर्वभाग लभते।

नेपथ्ये—हाधिगिति कष्टसूचकम्। दुकूलम् उत्तरच्छदो यस्य तस्मिन् दुकूलावृते तालवृन्ताधारे तालवृन्तपत्रे तन्निर्मितपेटिकायां वा निक्षिप्य निधाय मया नीयमानः उह्यमानो भर्तुः स्वामिनः अभ्यन्तर-विलासिन्याः परमप्रियायाः कान्ताया उर्वश्या मौलिस्तत्र रचनयोग्योभूषण स्थानीयः धारणयोग्यो वा मणिः आमिष मांसं शङ्कते इति आमिषशङ्की तेन गृध्रेणाक्षिप्तः गृहीत। रक्त प्रभा विस्फुरितयाम्मांसमिति बुद्ध्या गृध्रेण गृहीतो [illegible]मानलङ्कारः।

विदू०—(आकर्ण्य) अत्याहितम्हद् भय महानन्थों वा। पर बहुमतः अत्यादरपात्र म वयस्यस्य सगमनीयो नाम चूडामणिः। ननु खलु न समाप्त नेपथ्य वेशरचना येन सोऽगृहीतसकल परिधान एव भवान राजा आसनाद् उत्थाय इतोऽभ्यादिशि एवागच्छति। यावद् एन उपसर्पामि अस्य निकट गच्छामि। इतिनिष्क्रान्त.। प्रवेशक लक्षण मुक्त प्रागेव।

अनुवाद—(आनन्द मग्न विदूषक प्रवेश करता है)

विदू०—हा हा! मेरा प्यारा वयस्य उर्वशी के साथ नन्दन आदि देववनो में चिरकाल तक विहार करके सौभाग्य से लौट आया है और अब प्रजा द्वारा सम्मानसूचक उपहारो से अनुरञ्जित होकर राज्य कर रहा है। एक सन्तानहीनता को छोडकर उसके पास और किसी बात की कमी नहीं है। आज विशेष पर्व होने के कारण भगवती गगा-यमुना के सगम पर रानियो के साथ स्नान करके इस समय रावटी (तम्बू) के भीतर चला गया है। तो जब तक वे वस्त्राभूषण पहनते हैं तब तक मैं भी उनके (लिये तैयार किये गये) अनुलेपन (सुगन्धित तेल आदि) और माल्य (पुष्पादि) मे अग्रिम भाग ग्रहण करूँ। (चलता है)

(नेपथ्य मे) हाय हाय! स्वामी की अन्तरग वाता के सिर पर सजाने योग्य मणि को, जिसे मैं ताडपत्र की पिटारी मे रेशमी वस्त्र ऊपर से ढक कर लिये जा रहा था, एक गिद्ध ने मास समझ कर झपट लिया।

विदू०—(सुन कर) बडा बुरा हुआ। उस सगमनीय नाम के चूडामणि का तो मेरे प्रिय मित्र बडा आदर करते हैं। इसलिये व वस्त्राभूषणा का पूरी तरह बिना पहने आसन से उठ कर इधर ही आ रहे हैं। तो इनके पास चलूँ।

(यह प्रवेशक हुआ)

टिप्पणी—नन्दनवन प्रमुखेषु—नन्दयतीति नन्दनम्। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच' सूत्र से नन्द् धातु के आगे ल्यु (यु) प्रत्यय हुआ और "युवोरनाकौ" से यु का अन् आदेश। नन्दन वन प्रमुख येषा तानि नन्दनवन प्रमुखानि तेषु। यहाँ इन्द्रवन से नहीं, अपितु गन्धमादन पर्वत के उपवनो से आशय है।

दुकूलोत्तरच्छदे—दुकूलम् उत्तरच्छदो यस्य तस्मिन् । अभ्यन्तर...योग्यः—अभ्यन्तर विलासिन्याः मौलिः । तस्मिन् रचने योग्यः । प्रियतम कान्ता के मस्तक पर पहनने के योग्य ।

आमिषशङ्किना—आमिष शङ्कते इति आमिषशङ्की तेन । मांस की शङ्का करने वाला ।

असमाप्तनेपथ्यः—न समाप्त नेपथ्यं (वेषादि प्रसाधन) यस्य सः ।

प्रवेशक.—प्रवेशक की परिभाषा पीछे दी जा चुकी है ।

मूलपाठ—(तत प्रविशति सावेग परिजनो राजा)

राजा—आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहग तस्करः ।
येन तत्प्रथमं स्तेय गोप्तुरेव गृहे कृतम् ।।१।।

किराती—एसो एसो खु मुह कोडि-लग्ग-हेम सुत्तेण मणिणा आलिहन्तो विअआआसं पडिब्भमदि । [एष एष खलु मुख कोटि लग्न हेमसूत्रेण मणिना आलिखन्निवाकाश परिभ्रमति]

राजा—पश्याम्येनम्—

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः ।
अशोकस्तवकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ।२।

(प्रविश्य चापहस्ता यवनी)

व्याख्या—तत इति—आवेगेन क्षोभेण सहितः परिजनो यस्य तादृशो राजा प्रविशति रङ्गभूमौ । राज्ञः परिवारो मणिनाशान्वेषणजन्य चिन्ता व्यग्रता युक्तः ।

राजा—आत्मनइति—आत्मनः स्वस्य वध मणिरूपम् आहर्ता वोढा असौ विहगस्चासौ तस्करोतीति तस्कर इति विहग तस्करः पक्षि चोरः क ? (अस्ति) येन तत् प्रथम यस्य तदिनि तत्प्रथम बहुव्रीहिः समास तत्पूर्वं स्तेय स्तेनस्य भाव. कर्म वा, चौर्यं गोप्तुः बहुमूल्यधन सरक्षकस्य ममैव गृह कृतम् । आहर्ता इति आपूर्वकाद् हृधातो. "तृन्" (३–२–१३५) इनि "तद्धर्म तच्छील तत्साधुकारिषु" (३–२–१३४) अर्थेषु तृन् प्रत्ययस्तेन 'कर्तृ कर्मणा इति' (२–३–६५) इति षष्ठी न 'नलोकाव्ययनिष्ठा खलर्थतृनामि' इनि (२–३–६९) निषेधात् । वधस्य मणितादात्म्यादत्र रूपकालङ्कारः तस्मिन् काल मणिचाराय मृत्युदण्डस्यविधिरासीदित्यपि स्पष्टम् । तत्प्रथम स्तेयमित्येन व्यज्यते यत् गृहेण प्रथमवारमेवचौर्यं कृतमन्यथा राज्ञो दण्डस्या प्रतिहततया स पूर्वमेव वधमप्राप्स्यत् । अनुष्टुब् वृत्तम् ।१।

किराती—एष एष प्रत्यक्ष दृश्यमानः खलु मुखस्य कोटिरग्रभागस्तत्र लग्नं हेमसूत्र सुवर्णसूत्र यस्य तादृशेन मणिना आकाशम् आलिखन् इव परिभ्रमति । हेमसूत्र मुखेन धारयन् रागमयेन मणिना चित्रमिवालिखन्नाकाशे पर्यटति ।

राजा—पश्याम्येनम् । अमाविति—मुखे आलम्बित गृहीत हेमसूत्र कनकमय डोरक यस्य त मणि बिभ्रन् धारयन् मण्डलेन चारः मण्डलाकारगमन तत्र शीघ्र त्वरितवेग. क्षिप्रगतया मण्डलाकारमुत्पतन् असौ विहगः अलातस्य ज्वलत्काष्ठस्य चक्र तेन प्रतिमा उपमाऽस्य सोऽलात चक्रप्रतिमः भ्रमितज्वलत्काष्ठ सम प्रभः त, तस्यमणेः रागस्तद्रागस्तस्य रेखाः ताभा तन्निर्मितो वा वलय' इति तद्रागरेखा वलयस्त तनोति विस्तारयति । उपजाति वृत्तम् ।२।

किं नु खलुकर्तव्यं येन मणिर्लभ्यते ।

दुकूलोत्तरच्छदे—दुकूलम् उत्तरच्छदो यस्य तस्मिन् । अभ्यन्तर...योग्यः—अभ्यन्तर विलासिन्याः मौलिः । तस्मिन् रचने योग्यः । प्रियतम कान्ता के मस्तक पर पहनने के योग्य ।

आमिषशङ्किना—आमिष शङ्कते इति आमिषशङ्की तेन । मांस की शङ्का करने वाला ।

असमाप्तनेपथ्य.—न समाप्त नेपथ्यं (वेशादि प्रसाधन) यस्य सः ।

प्रवेशक.—प्रवेशक की परिभाषा पीछे दी जा चुकी है ।

मूलपाठ—(ततः प्रविशति सावेग परिजनो राजा)

राजा—आत्मनो वधमाहर्ता क्वासौ विहग तस्करः ।
येन तत्प्रथमं स्तेयं गोप्तुरेव गृहे कृतम् ॥१॥

किराती—एसो एसो क्खु मुह-कोडि-लग्ग-हेम-सुत्तेण मणिणा आलिहन्तो विअ आआसं पडिब्भमदि । [एष एष खलु मुख कोटि लग्न हेमसूत्रेण मणिना आलिखन्निवाकाश परिभ्रमति]

राजा—पश्याम्येनम्—

अमी मुखालम्बित हेम-सूत्रं
बिभ्रन् मणि मण्डल चार शीघ्र ।
अलात-चक्र प्रतिमं विहङ्ग स
तद्राग रेखा वलयं तनोति ।२।

प्रभापल्लवितेनासौ करोति मणिना खगः। -
अशोकस्तवकेनेव दिङ्मुखस्यावतंसकम् ।३।

(प्रविश्य चापहस्ता यवनी)

व्याख्या—तत इति—आवेगेन क्षोभेण सहितः परिजनो यस्य तादृशो राजा प्रविशति रङ्गभूमौ। राज्ञः परिवारो मणिनाश-तदन्वेषणजन्य चिन्ता व्यग्रता युक्तः।

राजा—आत्मनइति—आत्मनः स्वस्य वध मणिरूपम् आहर्ता वौढा असौ विहगश्चासौ तस्करोतीति तस्कर इति विहग तस्करः पक्षि चोरः क? (अस्ति) येन तत् प्रथम यस्य तदिति तत्प्रथम बहुव्रीहिः समास तत्पूर्वं स्तेय स्तेनस्य भावः कर्म वा, चौर्यं गोप्तुः बहुमूल्यधन सरक्षकस्य ममैव गृहे कृतम्। आहर्ता इति आपूर्वकाद् हृधातोः "तृन्" (३-२-१३५) इति "तद्धर्म तच्छील तत्साधुकारिषु" (३-२-१३४) अर्थेषु तृन् प्रत्ययस्तेन 'कर्तृ कर्मणो कृति' (२-३-६५) इति षष्ठी न 'नलोकाव्ययनिष्ठा खलर्थतृनामि' इति (२-३-६९) निषेधात्। वधस्य मणितादात्म्यादत्र रूपकालङ्कारः तस्मिन् काले मणिचोराय मृत्युदण्डस्यविधिरासीदित्यपि स्पष्टम्। तत्प्रथम स्तेयमित्येन व्यज्यते यत् गृध्रेण प्रथमवारमेवचौर्यं कृतमन्यथा राज्ञो दण्डस्या प्रतिहततया स पूर्वमेव वधमप्राप्स्यत्। अनुष्टुब् वृत्तम्।१।

किराती—एष एष प्रत्क्ष दृश्यमानः खलु मुखस्य कोटिरग्रभागस्तत्र लग्नं हेमसूत्र सुवर्णसूत्र यस्य तादृशेन मणिना आकाशम् आलिखन् इव परिभ्रमति। हेमसूत्र मुखेन धारयन् रागमयेन मणिना चित्रमिवालिखन्नाकाशे पर्यटति।

राजा—पश्याम्येनम्। असाविति—मुखे आलम्बित गृहीत हेमसूत्र कनकमय डोरक यस्य त मणि बिभ्रन् धारयन् मण्डलेन चारः मण्डलाकारगमन तत्र शीघ्र. त्वरितवेगः क्षिप्रगत्या मण्डलाकारमुत्पतन् असौ विहगः अलातस्य ज्वलत्काष्ठस्य चक्र तेन प्रतिमा उपमायस्य सोऽलात चक्रप्रतिमः भ्रमित-ज्वलत्काष्ठ सम प्रभः त, तस्यमणेः रागस्तद्रागस्तस्य रेखाः तासा तन्निर्मितो वा वलयः इति तद्रागरेखा वलयस्त तनोति विस्तारयति। उपजाति वृत्तम्।२।

किं नु खलुकर्तव्य येन मणिर्लुप्यते।

विदू०—(उपत्य राज्ञ समीपमागम्य) अलमत्रघृणया कृपया। अपराधी शासनीय दण्डनीय ।

राजा—सम्यगुचितमेवाह उक्तवान् भवान। धनुधनुर्मे उपनीयता तावत।

(निष्क्रान्ता राज्ञो वचनमाकर्ण्य धनुरानेतु यवनी परिचारिका मञ्चाद् बहिर्गता।)

राजा—वयस्य न दृश्यते विहङ्ग चोरपक्षी।

विदू०—इतोऽस्मात स्थानात दक्षिणान्तेन दक्षिणदिशाया अग्रत पलायित स शासनीयो दण्ड्य कुणपभोजन कुणप शवोमृतशरीर भोक्ता यस्य स मतमासाद पक्षी गृध्र ।

राजा—(परिवृत्य दृष्टि परावृत्य दक्षिणस्या दिशिनिक्षिपन् अवलोक्य मणि हरन्त पक्षिणम्) दृष्ट इदानीम।

प्रभेति—असौ खग प्रभया दत्या पल्लवितेन विस्तृतेन अशोकस्य स्तवक गुच्छस्येव मणिना दिङ्मुखस्य दिशामुखस्य अवतस कर्णभूषण करोति। अशोकगुच्छवद रक्तवर्णेन मणिना दिक्वध्वा मुखमवतसयन्निव लक्ष्यतेऽयं खग । अत्रनायक खा दिशा च वधू म गश्च कर्णाभूषणम्। उत्प्रेक्षालङ्कार। अशोकस्तवकेन यथासमा च। अनुष्टुब वृत्तम ।३

(प्रविश्य चाप हस्ते यस्या सा शार्ङ्गिणी यवनी परिचारिका)

अनुवाद—(घबराये से परिजनो के साथ राजा आता है)

राजा—स्वयं अपनी हत्या को बुलाने वाला वह चोर पक्षी कहाँ है जिसने यह पहला पहला चोरी रक्षक के ही घर में की है?

किराती—मणि (के पिराने) का सोने का धागा मुह के अगले भाग मे लटकाये हुए मणि से आकाश मे रेखायें सी खींचता सा यह-वह घूम रहा है।

राजा—देख रहा हूँ इसे—

यह मणि को जिसकी सोने की जंजीर इसके मुख मे लटकी हुयी है लिये हुये जल्दी जल्दी चक्राकार घूम रहा है और जलता हुयी लकड़ी के लूके

सा दिखने वाला, मणि के रंग की रेखा का (लाल) गोला-सा बना रहा है। तो क्या किया जाय ?

विदू०—(पास आकर) इस पर दया न कीजिये। अपराधी को दण्ड देना उचित है।

राजा—आपने ठीक कहा। धनुष्, धनुष् (तो लाओ) (धनुष पकड़ने वाली यवनी बाहर जाती है।)

राजा—मित्र ! पक्षी दिखाई नहीं देता।

विदू०—वह दण्डयोग्य मुर्दाखोर दक्षिण की ओर निकल गया।

राजा—(मुड़कर, देखकर) अब दिख गया।

फूटती हुई प्रभा से पल्लव-युक्त-सी दिखने वाली मणि लिये यह पक्षी ऐसा लग रहा है जैसे अशोक के गुच्छे के कर्णफूल दिशा के मुख में पहना रहा हो। (हाथ में धनुष लिये हुये यवनी प्रवेश करती है)

टिप्पणी—वधमाहर्ता—आ+हृ+तृन्। 'तच्छील, तद्धर्म, तत्साधुकारिषु' इन अर्थों में हृ धातु से तृन् प्रत्यय हुआ है। इसलिये 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से कर्म में 'वधम्' में षष्ठी नहीं होती क्योंकि "नलोकाव्यय निष्ठा खलर्थतृनाम्" सूत्र से उसका निषेध हो जाता है।

विहगतस्करः—तत्करोतीतितस्करः। त् को स् हो जाता है। विहगश्चासौ तस्कर इति विहगतस्करः।

स्तेयम—स्तेनस्य (चोरस्य) भावः कर्म वा स्तेयम्।

आलिखन्निव—यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार है।

मुखा····सूत्रम्—मुखे आलम्बित हेमसूत्र यस्य सः। तम्

मण्डलचारशीघ्रः—मण्डलेन चारः इति मण्डलचारः तेन शीघ्रः (क्षिप्रचारी)।

अलातचक्रप्रतिमम्—अलातस्य चक्रमिति अलातचक्रम्, तेन प्रतिमा यस्य। तद् यथा स्यात्तथा। न लात (गृहण) यस्य तद् अलातम्।

धनुर्ग्राहिणी—धनुः गृह्णातीति धनुर्ग्राहिणी (यवनी) देखिये शाकु० (२) ८ ष चापहस्ताभिर्यवनीभिः।

प्रभापल्लवितेन—प्रभया पल्लवितः (विस्तृतः) इति प्रभापल्लवितः तेन।

कुणपभोजनः—कुणपं (मृत-मासम्) भुङ्क्ते इति। घृणाबोधक विशेषण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है।

अवतंसकम्—अवतसयतीति अवतसकम्। कर्णाभूषण।

मूलपाठ—यवनी—भट्टा एदं हथ्थावाव-सहिदं सरासणं। [भर्तः एतद् हस्तावाप-सहितं शरासनम्]

राजा—किमिदानी धनुषा। वाणपथमतीतः क्रव्यभोजनः। तथाहि—

आभाति मणिविशेषो दूरमिदानी पतत्रिणानीतः।
नक्तमिव लोहिताङ्गः परुष-घनच्छेद-सयुक्तः ॥४॥

(कञ्चुकिन विलोक्य) लातव्य मद्वचनादुच्यता नागरिकः। सायं निवास वृक्षाश्रयी विचीयता विहग दस्युरिति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति निष्क्रान्त.)

विदू०—उवविसदु भवं संपदं। कहिं गदो रअण-कुम्भीलओ भवदो सासणादो मुच्चिस्सदि। [उपविशतु भवान् साम्प्रतम्। क गतः रत्नकुम्भीरको भवत. शासनान्मोक्ष्यते] (इत्युपविशतः)

राजा—वयस्य!

रत्नमिति नमे तस्मिन् मणौ प्रयासो विहङ्गमोत्क्षिप्ते।
प्रियमानेनास्मि सखे संगमनीयेन संगमितः।५।

विदू०—णं परिगदथ्थो ह्मि किदो भवदा। [ननु परिगतार्थोऽस्मि कृतो भवता]

(ततः प्रविशति सशरं मणिमादाय कञ्चुकी)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः

अनेन निर्भिन्न तनुः स वध्यो
वलेव ते मार्गणता गतेन।
प्राप्यापराधोचितमन्तरिक्षात्
समौलिरत्नः पतितः पतत्री।६।

(सर्वे विस्मयं रूपयन्ति)

यवनी—भर्तः स्वामिन् एतद् हस्तावापेन करक्षकेन परिधानेन सहितं शरा सनं शिष्यते अनेनेति शरासनं धनुः । उपनीतमिति शेषः । हस्तावापस्तु ज्याघातवारणसाधनं धनुर्धारिभिः हस्तेधारितं भवति ।

कालिदासकाले यवन्यः (Iranian girls) परिचारिकाः अन्तःपुरे नियुक्ता भवन्तिस्म । ताश्च राज्ञो धनुरासनरक्षणार्थं व्यापृताः शाकुन्तलेऽप्युपलभ्यन्ते । "एष बाणासनं हस्ताभिर्यवनीभिः..." शाकु० २ । एता धनुर्ग्राहिण्यः परि-चारिका भिन्नजातीयाः नानादेशीया वैदेशिकावासिन्यो वा आसन् ।

राजा—किमिदानीं धनुषा । न धनुषा कोऽपिलाभ इदानीं विलम्बो जातः । कन्दकभक्ष्य मांस तद्भुङ्क्ते इति कृत्य भोजनः पिशिताशः खगः बाणस्य पन्थाः इति बाणपथस्तं बाणपातप्रदेशमतीत्य अतिक्रान्तवान् । "अक्षद्युरभ्ययामानसे" (५-४-७४) इत्यन्तावयवः अ प्रत्ययः । तथाहि—

आभातीति—पतत्त्रिणा पतत्रे पक्षौ स्तः यस्य सपतत्री तेन पक्षिणा इदानीं दूरं नीतं मणिविशेषः उक्तो मणिः नक्तं रात्रौ परुषाणां अविरलानां घनानां छेदेषु खण्डेषु सम्भृतः सन् लोहिताङ्गः मङ्गलग्रहः इवाभाति राजते । लोहितमङ्गं यस्य स लोहिताङ्गो भौमः । भौमो रक्तवर्णं नक्षत्रम् मणिरपि रक्तवर्णः । गृध्रस्य घनपक्षयोर्मध्ये मणिस्तथैवरमाति यथा परिणतमेघ मध्ये मंगलग्रहः शोभते । उपमालङ्कारः । आर्याजातिः ।४।

(कञ्चुकिन विलाक्य) लातन्य इति कञ्चुकिनाम मद्वचनाद् ममाज्ञया उच्यतां विज्ञाप्यतां नागरिकः नगरे नियुक्तः रक्षाविधानार्थं राज्याधिकृतः पुरुषः नायनिवास वृक्षमाश्रयतीति निवासवृक्षाश्रयी वासार्थं वृक्षमाश्रितवान् विहागदचासौ दस्युरिति पक्षि चोरो विचीयतामन्विष्यताम् इति ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देव स्वामी तथैव करिष्ये ।

विदू०—उपविशतु विश्राम्यतु भवान् साम्प्रतम् । कः गतः कुत्रात्मानं संगोपयन् रत्नस्य कुम्भीरकः चोरः भवतः शासनाद् दण्डाद् आत्मानं मोक्ष्यते मोचयितुं शक्ष्यति । अनेन राज्ञः सर्वत्राप्यस्खलित शासन भवति । (इति उपविशति)

राजा—वयस्य ! रत्नमिति—विहङ्गमेन पक्षिणा अपहृते तस्मिन् मणौ रत्नं महार्घं वस्तु इति कृत्वा मे प्रयासः विचेतुं प्रयत्नो न । सर्वे तेन

संगमनीयेन नाम्ना मणिना प्रियया सगमितो मेलितोऽस्मि । तेनैव मणिना सहायेन मे प्रियया सगमो विहित इति कारणेन मे तस्मिन्नादरः । आर्याजातिः ।५।

विदू०—ननु परिगतः सम्यग्ज्ञात. अर्थो यस्य स तादृशः कृतोऽस्मि भवता।

(तत प्रविशति शरेण बाणेन सहित मणिम् आदाय कञ्चुकी लाञ्छ्यः)

कञ्चुकी—जयतु जयतु देवः !

अनेनेति—वधमर्हतीति वध्य स पतत्री विहग मार्गणतावाणत्वं तेन प्राप्तेन ते बलेन दावस्या निर्भिन्ना तनुर्यस्य स भिन्नदेहः सन् प्राप्तश्चासौ अपराधः इति प्राप्तापराधस्तत्र उचित योग्य यथास्यात्तथा मौलिरत्नेन सगमनीयेन मणिना सह इति समौलि रत्नः पतितः । अत्र च खगे बाणेन हतेऽपि वत्स्य तद्हेतुरववर्णनात् असम्बन्धेऽपि सम्बन्धदर्शनादतिशयोक्तिरलङ्कारः। आर्या जाति ।६। (सर्वे विस्मयमाश्चर्यं रूपयन्ति प्रदर्शयन्ति)

अनुवाद—यवनी—स्वामिन्, यह रहा हस्त-त्राण के सहित धनुप।

राजा—अब धनुप से क्या लाभ ? वह मास-भोजी तो बाण की पहुँच के बाहर निकल गया और अब पक्षी द्वारा दूर ले जाया गया वह विशिष्ट मणि ऐसा दिखायी दे रहा है जैसे रात मे घने मेघ खण्डो से युक्त मगल नक्षत्र हो।

(कञ्चुकी को देखकर) लातव्य, मेरी ओर से नगरपाल से कह दो कि सायकाल निवास-वृक्ष का आश्रय लेने पर उस चोर-पक्षी को पकड़ लें।

कञ्चुकी—जो आप की आज्ञा (चला जाता है)

विदू०—अभी तो आप बैठिये। वह रत्न का चोर कहाँ जाकर आपके दण्ड से छूट सकेगा ? (दोनो बैठ जाते हैं)

राजा—मित्र ! पक्षी के द्वारा उड़ाये हुये उस मणि के विषय मे मेरा यह प्रयास इसलिये नहीं है कि वह रत्न है। सखे ! उस सगमनीय ने मुझे प्रिया से मिलाया है।

विदू०—आपने वास्तविक बात से परिचित करा दिया।

(तब कञ्चुकी बाण के सहित मणि को लेकर आता है)

कञ्चुकी—जय हो, जय हो महाराज की !

आपकी शक्ति ने ही बाण का रूप लेकर इस वध्य पक्षी की देह को वेध डाला है और यह पक्षी अपराध के योग्य (दण्ड) पाकर शिरो-रत्न के साथ अन्तरिक्ष से (नीचे) गिर गया है।६। (सब आश्चर्य प्रदर्शित करते हैं।)

टिप्पणी—हस्तावापसहितम्—धनुष चढ़ाने पर प्रत्यञ्चा की रगड़ से उँगलियाँ छिल जाती हैं। उससे रक्षा के लिये हाथ में हस्तावाप (arm guard) पहना जाता है।

शरासनम्—शराः अस्यन्तेऽनेन इति शरासनम्। अथवा शराणाम् आसनम्।

बाणपथम्—बाणस्य पन्थाः इति बाणपथन्तम्। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय होकर टि का लोप होने से अकारान्त 'पथ' बन जाता है।

पतत्त्रिणा—पतत्त्रं पक्षः इति पतत्त्रम्। पतत्त्रे अस्य स्तः इति पतत्त्री (पक्षी)

लोहिताङ्ग.—लोहित (रक्तवर्णम्) अङ्गं यस्य सः। मंगल ग्रह।

परुष-घनच्छेद-संयुक्त.—परुषः (पूरी तरह घिरा-घोटा) यः घनस्य छेदः (खण्ड) तेन संयुक्तः।

नागरिक—नगरे नियुक्तः (रक्षा-कार्यार्थम्) इति। पुलिस का शहर कोतवाल।

समौलिरत्न—मौलौ मौलेः वा रत्नम् इति मौलिरत्नम्। तेन सहितः।

मूलपाठ—कञ्चुकी—अद्भिः प्रक्षालितो मणिः कस्मै प्रदीयताम्।

राजा—किराति! अग्निशुद्धमेनं कृत्वा पेटके प्रवेशय।

किराती—जं भट्टा आणवेदि। [यद् भर्ता आज्ञापयति] (इति मणिं गृहीत्वा निष्क्रान्ता)

राजा—लातव्य! अपि जानीते भवान् कस्यायं बाण इति।

कञ्चुकी—नामाङ्कितो दृश्यते। न तु मे वर्णविचारक्षमा दृष्टिः।

राजा—तेन ह्युपनय शरम्।

(कञ्चुकी तथा करोति। राजा नामाक्षराण्यनुवाच्य सापत्नपा दृश्यति)

कञ्चुकी—यावन्नियोगमनुष्ठं करोमि। (इतिनिष्क्रान्तः)

विदू०—किं भवं कि आदेदि। [किं भवान् किमादिशति]

राजा—शृणु तावत् प्रहर्तुर्नामाक्षराणि। (वाचयति)

उर्वशीसंभवस्यायमैलसूनोर्धनुभृतः।

कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्तुर्द्विषदायुषाम्॥७॥

विदू०—(सपरितोषम्) दिट्ठिआ संतादेण वड्ढदि भवं। [दिष्ट्या संतानेन वर्धते भवान्]

राजा—सखे कथमेतत्। अन्यत्र नैमिषेय सत्रादवियुक्तोऽहमुर्वश्या। न च मया गर्भलक्षणमालक्षिता। कुत एव प्रसूतिः। किं तु—

आसीत् पयोधराग्रश्यामलितमुखं पाण्डुराननच्छायम्।

तानि दिनानि यथरतूत् केवलमलसेक्षणा तस्याः॥८॥

व्याख्या—कञ्चुकी—इत्यमुक सन्दर्भमुदो मणिः अङ्कितः यस्मैन प्रक्षालित साम्प्रतं करोमि प्रदीयताम्।

राजा—किराति! किर्र पर्यन्तभूमिमर्पतीति किराति दासीति वा किराती तद् संबुद्धी एवं मणिम् अभिनवा गुडमिवपिहितुद इत्या देहि कञ्चुकी प्रवेशय।

किराती—जं भट्टा स्वामी आज्ञापयति तदनुसारेण पेटिका प्रवेशयिष्यामि। (मणि गृहीत्वा निष्क्रान्ता)

राजा—जानामि अपि जानाति भवान् कस्याय बाण इति। कस्य करोत निहतोऽयं पक्षी।

कञ्चुकी—बाणस्तु नाम्ना अङ्कितश्चिह्नितो दृश्यते पर वृद्धत्वात् मे दृष्टिः वर्णानां विचारे विभावने तत्र क्षमायतकाल।

राजा—तेन तत वर्णविचाराक्षमत्वेन वाणम् उपनय समक्षमीपमानय।

(कञ्चुकी तथा करोति वाणमुपनयति। राजा नामोऽक्षराणि अनुवाच्य पठित्वा आत्मनः सापत्यता न पतन्ति पितरो येनेत्यपत्य तेन सह इति सापत्यस्तस्यभावस्ता रूपयति प्रकटयति)

कञ्चुकी—यावत्नियोगमाज्ञां अनुष्ठ करोमि अनुतिष्ठामि। (इतिनिष्क्रान्तः)

विदू०—राजानं विचारमग्नं दृष्ट्वा पृच्छति—भवान् किं विचारयति ?

राजा—शृणु तावत् प्रहर्तुः पक्षिण उपरि बाणस्य क्षेप्तुर्नाम अक्षराणि। (वाचयति बाणे उत्कीर्णान्यक्षराणि पठति)

उर्वशीति—अयं उर्वश्याः सम्भवो जन्म यस्य स तस्य उर्वशी जातस्य ऐतस्य पुरूरवसः सूनुः पुत्रस्तस्य धनुर्बिभर्तीति धनुर्भृत् तस्य द्विषन्ति द्रुह्यन्तीति द्विषन्तः तेषां आयूंषि इति तेषां शत्रुप्राणानां प्रहर्तुर्नादिवरस्य कुमारस्य आयुष एतन्नामकस्य बाणोऽस्ति। इला पुरुरवसो माताऽऽसीत्। अनुष्टुब्वृत्तम्।७।

विदू०—(परितोषेण हर्षेण सहितम्) दिष्ट्या सौभाग्येन भवान् सन्तानेन सन्तन्यते कुलमनेन सततं तिष्ठति वा कुलमिति सन्तानस्तेन भवान् वर्धते। पूर्वत्र विदूषकेणोक्तमासीद् यद्राज्ञः सन्तानहीनत्वमेव दुःखकारणम्। साम्प्रतं सन्तान-मभिप्रेक्ष्य तस्य परितोषः स्वाभाविक एव।

राजा—सखे कथमेतत्। कथमुर्वश्या सन्तानोत्पत्तिः सम्भवति। नैमिषेय निमिषायामरण्याम्भव नैमिषेयं सत्रं तस्मादन्यत्र सम्प्रति अहमुर्वश्या अवियुक्तः। एवं नैमिषारण्ये सत्रवर्जयित्वा सर्वत्राह प्रियया सहैवासम्। न च मया गर्भस्य व्यक्तिः उपस्थितिलक्षणानि उपलक्षिता दृष्टा कुतः एव प्रसूतिः प्रसवः। यदा गर्भस्यैव चिह्नानि नादर्शनं तदा प्रसवस्य तु का कथा।

नैमिषं नामारण्यं पुरा ऋषीणां वासस्थलमासीत्। तत्र बहवो यज्ञाः प्रति-पादिताः आसन् नृपतिभिः। अत्रैव सौतिराविरभवद् यो महाभारतं प्रोक्तवान्। तत्र तु चतुर्दशदिनान्यारभ्य षण्मासान्त भवति। यत्रदीक्षितो यजमान पत्नी विनैवाक्षी अध्वरस्नान्नाया यागसमाप्तिपर्यन्तं निवसति। तेन सत्रकाले राज्ञः प्रियाविरहितस्थितिर्वर्णिता। साम्प्रतं किञ्चित् स्मरन् कथयति राजा-किन्तु।

आविलेति—तानि दिनानि तेषु दिनेषु तस्या वपुः शरीरं आविले कृष्णे पयोधरयोरग्रे कोटी चूचुके यस्मिन् तत् कृष्ण चूचुकम्, लवलीलता विशेष स्तद् वत् पाण्डुरा सिता आननस्य मुखस्य छाया कान्तिः यस्मिन् तत् आपाण्डु मुखशोभम् केवलम् अलसे ईक्षणे यस्मिन् तत् शिथिल दृष्टिः अभूत्। गर्भ चिह्नान्येतानि।

अनुवाद—कञ्चुकी—मणि का पानी से धो डाला है। यह किसे दे दिया जाय ?

राजा—किराति ! इसे आग में शुद्ध करके पेटी में डाल दो।

किराती—जो आपकी आज्ञा। (मणि को लेकर चली जाती है)

राजा—लातव्य ! क्या आपको मालूम है कि यह किसका वाण है ?

कञ्चुकी—नामाङ्कित (नामलिखा) दिखता है किन्तु मेरी दृष्टि वर्णों की पहचान नहीं कर पा रही है।

राजा—तो वाण मेरे पास लाओ।

(कञ्चुकी वैसा करता है। राजा नाम के अक्षरों को पढ़कर स्वयं को पुत्रवान् प्रदर्शित करता है)

कञ्चुकी—मैं तब तक आदेश-कार्यों को पूरा करूँ। (जाता है)

विदू०—आप क्या सोच रहे हैं ?

राजा—प्रहार करने वाले के नाम के अक्षर सुनो। (पढ़ता है)

शत्रुओं के जीवन पर प्रहार करने वाले, उर्वशी से उत्पन्न, ऐल के पुत्र धनुर्धारी कुमार आयुष का यह वाण है।७।

विदू०—(हर्ष के साथ) भाग्य से आप पुत्रवान बन गये हैं।

राजा—मित्र यह कैसे ? एक नैमिष के सत्र को छोड़कर और कहीं तो मैं उर्वशी से अलग नहीं रहा। मैंने उसमें गर्भ के लक्षण नहीं देखे। सन्तान कहाँ से होगी ? किन्तु—

उन दिनों उसके शरीर में स्तनों का अगला भाग ज्यादा काला पड़ गया था, मुख की कान्ति लवली लता के पत्तों की तरह पीली हो गयी थी और आँखें अलसायी-अलसायी थीं।

टिप्पणी—किराती—किरं (पर्यन्त भूम्यग्रम्) अतति इति किराती। अथवा किरति शरान् इति।

वर्ण विचारक्षमा—वर्णानां विचारः, तत्र क्षमा। अक्षरों को परखने या पहचानने योग्य।

सापत्यताम्—पतन्ति (पितरः) येन तदपत्यम्। तेन सहित सापत्यः तस्य भावः सापत्यता ताम्।

विदू०--(विलोक्य) किं ण खु सो एसो तत्तभवं क्खत्तिअ-कुमारओ जस्स णामङ्किदो गिद्धलक्ख-भेदी अध्धणाराओ। तह वहुअरं भवन्तं अणुकरेदि। [किं न खलु स एष तत्रभवान् क्षत्रियकुमारको यस्य नामाङ्कितो गृध्र-लक्ष्य-वेधी अर्धनाराचः। तथा बहुतरं भवन्तमनुकरोति]

राजा--स्यादेवम्। अतः खलु--

वाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन्
वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादः।
संजात वेपथुभिरुज्झित-धैर्य-वृत्ति-
रिच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमङ्गैः॥६॥

व्याख्या--विदू०--मा भवान् सर्वं मानुषीणा धर्मं गर्भचिह्नादिक दिव्यासु दिवि भवासु संभावयतु। दिव्यात्वात तस्या मानुषं वत् सर्वं न संभवति। तासां दिव्याना चरितानि कार्याणि प्रभावेण दिव्यशक्त्या निगूढानि अव्यक्तानि भवन्ति। तेन गर्भव्यक्त्यभावेऽपि तस्याः प्रसव-संभवः।

राजा--अस्तु तावदेवं यथा भवानाह। पुत्रसंवरणे पुत्रजन्मगोपने किं कारणं तत्र भवत्याः।

विदू०--मा वृद्धा पुत्रजन्मना हृतयौवना राजा परिहरिष्यति उपेक्षिष्यते इति कारणेन तया पुत्रजन्म न प्रकटितम्।

राजा--परिहासेनकृत परिहासो न कार्यः। पुत्र संवरणे कारणं किञ्चिच्चिन्त्यताम्।

विदू०--को देवताना रहस्यानि मर्माणि तर्कयिष्यति अनुमानेन ज्ञातुं शक्ष्यति।

कञ्चुकी--जयतु जयतु देवः वर्तता देव सर्वोत्कर्षेण। देव च्यवनस्य एतन्नाम ऋषेराश्रमात कुमार गृहीता तापसी प्राप्ता समागता। च्यवनस्य वर्णनं सर्वतः पूर्वम्-वदेःदिनं कृतं लभ्यते। ऋदिवर्या तस्मैपुनर्यौवन प्रदत्तम्। महाभारतेऽपि च्यवन सुकन्ययोः कथा विद्यते। सादेवं भवन्त द्रष्टुमिच्छति।

राजा--उभय तापसी कुमार च अविलम्बित शीघ्रं प्रवेशय।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (निष्क्रम्य वहिर्गत्वा चाप हस्ते यस्य तेन दृष्टोत्तधनुष कुमारेण तापस्या च सह प्रविष्टः पुनरागत)

कञ्चुकी—इत इतो देवो अनेन मार्गेणागच्छतु। (सर्वे परिक्रम्य गच्छन्ति)

विदू०—(विलोक्य) विस्मय स एव क्षत्रियकुमारो यस्य नाम्ना अङ्कितः लक्ष्य विध्यति एव शीलो लक्ष्यवेधी अर्धनाराचः। नराणा समूहो नार तत चामतीति नाराच। अर्धचन्द्राकारोऽग्रभागो यस्य सः अर्धनारच उच्यते। तथा बहुतर भवन्तम् अनुकरोति आकृत्या भवत्सदृशो दृश्यते।

राजा—स्यादेवम् सभवति। अन्य खलु

वाप्पायत इति—अस्मिन् कुमारे निपतिता ममदृग्बाष्पमुद्वमतीति बाष्पायते। इम दृष्ट्वा मम नेत्रयोरश्रूणि प्रभवन्ति। हृदय वात्सल्यस्य बन्धोऽस्मिन् इति वात्सल्यवन्धि उद्गतवात्सल्यभाव जायते। मनसश्चित्तस्य प्रसाद प्रीतिर्भवति। धैर्यस्य वृत्तिरिति धैर्यवृत्तिः, उज्झिता त्यक्ता धैर्यवृत्तिरात्मनियन्त्रण येन सोऽधीर स्वभावोऽह सजात. वेपथुर्येषा तैः सकम्पैरङ्गैर्गात्रैरेन कुमारम् अदय गाढ परिरब्धुमालिङ्गितुम् इच्छामि। बाष्पायते इत्यत्र "बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने" (३–१–१६) इति सूत्रेण क्यङ प्रत्ययः। वेपथुरित्यत्र कम्पनार्थात् वेप् धातोरथुच्। माधुर्यप्रसादाख्यौ गुणौ। वसन्ततिलका वृत्तम्।९।

अनुवाद—विदू०—आप दिव्य स्त्रियो मे मानवियो के सारे लक्षणो की सभावना मत कीजिये। उनके कार्य दिव्यशक्ति के बल से प्रकट नही होने पाते।

राजा—शायद जैसा आप कहते है वैसा ही हो किन्तु पुत्र को छिपाकर रखने मे उसका क्या हेतु हो सकता है?

विदू०—बुड्ढी हो जाने से राजा मुझे छोड न दे।

राजा—उपहास रहने दीजिये। सोचिये।

विदू०—देवताओ की भेदभरी बातो का अनुमान कौन करे?

(प्रवेश करके)

कञ्चुकी—जय हो, जय हो महाराज की! देव, च्यवन के आश्रम से एक कुमार को लेकर तपस्विनी आयी है। आप से मिलना चाहती है।

राजा—दोनो को तुरन्त भीतर लाओ।

कञ्चुकी—जो आप की आज्ञा (बाहर जाकर हाथ मे धनुष थामे हुये कुमार तथा तपस्विनी के साथ प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—इधर से, भगवति इधर से। (सब चलते हैं)

विदू०—(देखकर) क्या यह वही क्षत्रियकुमार तो नही है जिसके नामाङ्कित अर्धचन्द्राकार बाण ने गिद्ध का लक्ष्य वेधा है और आपसे बहुत अधिक मिलता जुलता है ?

राजा—ऐसा हो सकता है। इसीलिये तो—

इस पर दृष्टि पड़ते ही मेरी आँखो म आँसू आ रहे है, हृदय मे वात्सल्य उमड आता है और मन मे प्रसन्नता है। मैं अपना गम्भीर स्वभाव छोड कर कम्पभरे हुये अगो से इसे कन्धे पर छाती से लगा लेना चाहता हूँ।९।

टिप्पणी—च्यवनाश्रमात्—ऋग्वेद के अश्विन सूक्तो मे च्यवन का बार बार उल्लेख हुआ है। उन्हें अश्विन देवो की कृपा से पुनर्यौवन की प्राप्ति हुई थी। महाभारत में च्यवन और सुकन्या की कथा मिलती है।

अर्धनाराचः—नराणा समूह. नारम्। नारम् आचामतीति नाराचः। अर्धश्चासौ नाराचः इति अर्धनाराचः।

बाष्पायते—बाष्पम् (अश्रु) उद्वमति इति बाष्पायते। 'बाष्पोष्मभ्या-मुद्वमने' ३-१-१६ सूत्र से उद्वमन अर्थ मे बाष्प के आगे 'क्यङ्' प्रत्यय होकर 'बाष्पाय' यह आत्मनेपदी धातु बनती है।

सजात वेपथुभिः—सजात वेपथु. येषु तानि सजात वेपथूनि तैः।

परिरब्धुम्—परि+रभ्म्+तुमुन्। आलिङ्गितुम्।

मूलपाठ—कञ्चुकी—भगवति ! एव स्थीयताम्। (तापसीकुमारौ स्थितौ)

राजा—अम्ब ! अभिवादये।

तापसी—महाभाअ सोमवंस-वित्थार इत्तओ होहि। (आत्मगतम्) अह्मो अनाचक्खिदो वि विण्णादो इमस्स राएसिणो आउस्स अ ओरसो सम्बन्धो। (प्रकाशम्) जाद प्रणम दे गुरु। [महाभाग सोमवश विस्तारयिता

भव। (आत्मगतम्) अहो अनाख्यातोऽपि विज्ञातोऽस्य राजर्षेरायुषश्चौरस सबन्ध। (प्रकाशम्) जात प्रणम ते गुरुम्]

(कुमारश्चापगर्भमञ्जलि करोति)

राजा—आयुष्मान् भव।

कुमार --(आत्मगतम्)

यदि हार्दमिद श्रुत्वा पिता ममाय सुनोहमस्यति।
उत्सङ्गवर्धितानां गुरुषु भवत् कीदृश स्नेह ।१०।

राजा—भगवति ! किमागमनप्रयोजनम्।

तापसी—सुणादु महाराओ। एसो दीहाऊ आऊ जादमेत्तो एव्व उव्वसीए किंवि णिमित्त अवेक्खिअ मम हत्थे णासीकिदो। ज खत्तिअ-कुमारअस्स जादकम्मादि विहाण त स भअवदा च्चवणेन असेस अणुचिट्ठिद। गहिदविज्जो धणु वेदे अहिविणादो। [शृणोतु महाराज ! एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृत। यत् क्षत्रियकुमारस्य जातकर्मादि विधान तदस्य भगवता च्यवनेनाशेषमनुष्ठितम्। गृहीतविद्यो धनुर्वेदेऽभिविनीत]

राजा—सनाथ खलु सवृत्त।

तापसी--अज्ज पुप्फ समिदत्थ इसि कुमार एहिं सह गदेण इमिणा अस्सम विरुध्द आअरिद। [अद्य पुष्प समिदर्थमृषिकुमारकै सह गतेनानेनाश्रमविरुद्ध माचरितम्]

विदू०—(सावगम्) किं विअ ? [किमिव]

तापसी—गहिदामिसो किल गिध्दो पादव सिरे णिलीअमाणो अणेण लक्खीकिदो वाणस्स। [गृहीतामिषः किल गृध्र पादप शिखरे निलीयमानोऽनेन लक्ष्यीकृतो बाणस्य]

(विदूषक राजानमवलोकयति)

अथ प्रविश्य—कञ्चुकी—भगवति ! आदरस्य सन्धीयतमिदम्। एव स्थाप्यताम्। (उभौ तिष्ठत)

राजा—अम्ब ! पूज्यात्वात् वृद्धात्वाच्च सम्बोधनमिदं तापस्याः । अभिवादये प्रणमामि ।

तापसी—महाराज सोमवंशस्य विस्तारयिताऽभिवर्धको भव । (आत्मगतम्) अहो अनाख्यातो मम कथनात् पूर्वमेव अस्य राजर्षे आयुषः कुमारस्य च औरसः पितृपुत्रसम्बन्धो विनाऽपि आकृतिसाम्यात् समानलक्षणयोगाच्चानयोर्जन्यजनकसम्बन्धोऽकथितोऽपि ज्ञायत एव । उरसः अयमित्यौरसः 'उरसोऽण्' (४–४–९४) इत्यण् प्रत्ययः । (प्रकाशम्) जातपुत्र प्रणम अभिवादय ते गुरुम् पितरम् । (कुमारः चापो गर्भे यस्य तादृशमञ्जलिं करोति । साञ्जलिः प्रणमन्नपि चापं न विसृजति)

राजा—प्रणतमायुष्यस्य स आयुष्मान् चिरञ्जीवी भव ।

कुमारः—(आत्मगतम्) यदीति–यदि अयं पुरुरवा मम पिता जनकः, अहं च अस्य सुत इति श्रुत्वा इदमेतादृशं हार्दं हृदयस्य प्रेम विलक्षणं प्रेम भवति तदा उत्सङ्गे पितुरङ्के वर्धितानां पोषितानां गुरवः पितृषु कीदृशं स्नेहमेवत । यदि पितृपुत्रयोः तादृशसम्बन्धश्रवणमात्रेणापि अलौकिकं प्रेम प्रादुर्भवति तदा पितुरङ्के लालितानां पुत्राणां जनकेषु कीदृशं प्रेम भविष्यति । (आर्याजातिः) ॥१०॥

टिप्पणी—चापगर्भम्—चापः गर्भे यस्य स. तम् । धनुष हाथ मे पकडे-पकडे हाथ जोडता है । यह क्षत्रियोचित प्रणाम पद्धति है ।

हार्दम्—हृदयस्य कर्म हार्दम् । हृदय को प्रिय लगने वाला ।

भगवति !—तपस्विन्यो देवताश्च वाच्या भगवतीति च'—ना० शा० १९-२१ । नाटक मे देवियो और तपस्विनियो को 'भगवती' कह कर सम्बोधित करने की प्रथा थी ।

किमपि निमित्तमवेक्ष्य—इस कथन से निम्नलिखित बाते ज्ञात होती हैं—(१) सत्यवती के पास बालक विद्यासमाप्ति-काल तक के लिये रखा गया । (२) सत्यवती को इस बात का पता नही था कि बालक को उसके पास रखने का क्या कारण है ? यह बालक के दर्शन से होने वाले उर्वशी वियोग से अनभिज्ञ थी । (३) च्यवन को बालक के माता पिता का नाम नही मालूम था ।

यथाशास्त्रम्—शास्त्राणि अनतिक्रम्य इति । शास्त्रानुकूल ।

अभिविनीत.—अभि+वि+नी धातु+क्त प्रत्यय । शिक्षित किया ।

गृहीतामिष—गृहीताम् आमिष येन सः । मास का टुकडा पकडे हुये ।

मलपाठ—राजा—ततस्तत. ।

राजा—(कुमारमवलोक्य) एह्येहि वत्स !

सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपगतेन
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव ।११।

तापसी—जाद आणन्देहि पिदरं। [जात आनन्दय पितरम्]

(कुमारो राजानमुपगम्य पादग्रहण करोति)

राजा—(कुमारं परिष्वज्य पादपीठे चोपवेश्य) वत्स इतस्तव पितुः प्रियसखब्राह्मणमशङ्कितो वन्दस्व।

विदू०—किं ति सङ्किस्सदि। अस्सम-वास परिचिदो एव्व साहामिओ। [किमिति शङ्किष्यते। आश्रमवास परिचित एव शाखा मृग.]

कुमारः—(सस्मितम्) तात वन्दे !

विदू०—सत्थि भवदो। [स्वस्ति भवते] (ततः प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च)

कञ्चुकी—इत इतो देवी।

उर्वशी—(कुमारमवलोक्य) को णु खु एसो सवाणासणो पादपीठे सअं महाराएण सजमीअमाण-सिहण्डओ चिट्ठदि। (तापसी दृष्ट्वा) अम्मो सच्चवदीसूइदो मे पुत्तओ आऊ। महन्तो खु संवुत्तो। [को नु खलु एष सवाणासनः पादपीठे स्वयं महाराजेन संयम्यमान-शिखण्डकस्तिष्ठति। (तापसी दृष्ट्वा) अहो सत्यवती सूचितो मम पुत्रक आयुः। महान् खलु सवृत्तः (परिक्रामति)

व्याख्या—राजा—ततस्तत. ? ततः किं वृत्तमित्युत्कण्ठया राजा तापसी पृच्छति।

तापसी—ततः उपलब्धः प्रायः वृत्तान्तः समाचारो येन स तेन भगवता च्यवनेन अह समादिष्टा आज्ञापिता, निर्यातय प्रतिदेहि हस्तान्यास न्यासरूपेण गृहीत कुमारकम्। तत् तेन कारणेन देवीम् उर्वशी प्रेक्षित द्रष्टुम् इच्छामि।

राजा—तेनहि यथा उर्वशी-दर्शनं कश्चित् कालमपेक्षते तस्माद् भगवती आसनम् अनुग्रहणात् उपकरोतु। (तापसी उपनीते आनीय समीपे स्थापिते आसने उपविशति)

राजा—लातव्य ! आहूयतामावार्यताम् उर्वशी।

अनुवाद—राजा—फिर ? फिर ?

तापसी—तब भगवान च्यवन ने यह समाचार पाकर मुझे आदेश दिया कि हाथ की धरोहर को वापिस लौटा दो। इसलिये मैं देवी उर्वशी से मिलना चाहती हूँ।

राजा—तो आप आसन ग्रहण कीजिये। (तापसी लाये हुये आसन पर बैठती है)

राजा—लातव्य ! उर्वशी को बुलाया जाय।

कञ्चुकी—जो आपकी आज्ञा। (जाता है)

राजा—(कुमार को देखकर) आओ, आओ बेटा !

पुत्र का स्पर्श सारे अंगों (शरीर) को सुख देता है। इसलिये मेरे पास आकर मुझे आह्लादित करो जैसे चन्द्रमा की किरण चन्द्रकान्त मणि को आह्लादित करती है।११।

(कुमार राजा के पास जाकर पाँव पकड़ लेता है)

राजा—(कुमार का आलिंगन करके और पाँव रखने के पीटे पर बैठाकर) बेटा, इधर अपने पिता के प्रियमित्र ब्राह्मण को निडर होकर प्रणाम करो।

विदूषक—किसलिये ? आश्रम मे रहने से ये वन्दर से तो परिचित ही हैं।

कुमार—(मुसकरा कर) तात, प्रणाम करता हूँ।

विदू०—आप का कल्याण हो ! (तब उर्वशी और कञ्चुकी प्रवेश करते हैं।)

कञ्चुकी—इधर से, इधर से देवी।

उर्वशी—(कुमार को देखकर) यह धनुष लिये हुये पादपीठ पर कौन बैठा है जिसके वालो का जूडा स्वय महाराज बाँध रहे हैं ? (तापसी को देखकर) अरे, सत्यवती से पता चल रहा है कि यह मेरा पुत्र आयु है। खूब बडा हो गया है। (चलती है।)

टिप्पणी—*निर्यातय*—*निर्*+*यत्*+णिच+लोट। वापिस कर दो। लौटा दो।

सर्वाङ्गीण—सर्वाणि च तानि अङ्गानि इति सर्वाङ्गाणि। तानि व्याप्नोति स सर्वाङ्गीणः। 'तत्सर्वादेः पथ्यङ्ग कर्म पत्र पात्र व्याप्नोति' " इस सूत्र से ख

कचुकी—यदाज्ञापयति देव । (इति निष्क्रान्त)

राजा—(कुमारमायुपमालोक्य) एहि एहि मत्समीपमागच्छ वत्स !

सर्वाङ्गीण —सुतस्य स्पर्श पुनर्देहस्य सस्पर्श तव च तदङ्गमिति सर्वाङ्ग तद् व्याप्नोति स सर्वाङ्गीण । तत्सर्वादे पथ्यङ्ग कर्मपत्र पात्र व्याप्नोति (५-२-७) इति ख प्रत्यय । पुत्रगात्र सस्पर्शज सुख सर्व देह व्याप्नोति किल निश्चये । उपनतेन भाग्यवशात प्राप्तेन तेन सुखेन माम आह्लादयस्व सुखिन कुरुष्व । अत्रोपमानमाह चन्द्रकर सूर्यकिरण चन्द्रकान्त मणिमिव । यथा चन्द्र किरण चन्द्रकान्तस्यान्त प्रविश्य त द्रावयति तद्वत तव स्पर्शो मे अन्त प्रविश्य सर्वमङ्ग सुखयतु ।११।

तापसी—जात वत्स आनन्दय आलिङ्गनेन सुखय पितरम् । (कुमारो राजानमुपगम्य राज समीपेगत्व पादग्रहण चरणस्पर्श करोति)

राजा– (कुमार परिष्वज्यालिङ्ग्यपादपीठ पार्श्वाय स्थापिते आसने उपवेशयति) व य इतोऽस्मिन पार्श्व तव पितु प्रियश्चासौ सखा इति प्रियसख स्त राजह सखिभ्यष्टच (५-४-९१) इति समास न्तष्च । ब्राह्मण विदूषक मनाङ्कितो निर्भयो व दस्व ।

विदू०—राज्ञ अशङ्कित इतिवचन परिहसन् कथयति—किमिति केन कारणेन नाङ्किष्यते भेष्यति । अह वधण शाखामृग इव दृश्य अस्य चाश्रमवासे शाखामृगा वानर परिचित एव ।

कुमार— (सस्मितम) तात वन्दे प्रणमामि ।

विदू०—स्वस्ति भवते भवत कल्याणमस्तु । नमस्वस्ती च दिनाचतुर्थी । (तत प्रविशत्युर्वशी कञ्चुकी च)

कञ्चुकी—इत इता देवी भवता अनेन मार्गेण आयातु ।

उर्वशी—(कुमारमवलोक्य) को नु खलु एव बाणासनेन धनुषा सहित इति सबाणासन पादपीठे स्वय महाराजा सयम्यमान प्रसाध्यमान शिखण्डक स्चूडा यस्य स सयम्यमान शिखण्डक तिष्ठति । (तापसी दृष्ट्वा) अहो सत्यवत्या सूचित तदुपदिश्य ज्ञापितो मम पुत्रक आयु । महान् प्रवर्धित खलु सवृत्त । एतावता कालेन तादृशी वृद्धि गत । (परिक्रामति)

अनुवाद—राजा—फिर ? फिर ?

तापसी—तब भगवान च्यवन ने यह समाचार पाकर मुझे आदेश दिया कि हाथ की धरोहर को वापिस लौटा दो। इसलिये मैं देवी उर्वशी से मिलना चाहती हूँ।

राजा—तो आप आसन ग्रहण कीजिये। (तापसी लाये हुये आसन पर बैठती है)

राजा—लातव्य ! उर्वशी को बुलाया जाय।

कंचुकी—जो आपकी आज्ञा। (जाता है)

राजा—(कुमार को देखकर) आओ, आओ बेटा !

पुत्र का स्पर्श सारे अंगो (शरीर) को सुख देता है। इसलिये मेरे पास आकर मुझे आह्लादित करो जैसे चन्द्रमा की किरण चन्द्रकान्त मणि को आह्लादित करती है।११।

(कुमार राजा के पास जाकर पाँव पकड़ लेता है)

राजा—(कुमार का आलिंगन करके और पाँव रखने के पीटे पर बैठाकर) बेटा, इधर अपने पिता के प्रियमित्र ब्राह्मण को निडर होकर प्रणाम करो।

विदूषक—किसलिये ? आश्रम मे रहने से ये बन्दर से तो परिचित ही हैं।

कुमार—(मुसक्रा कर) तात, प्रणाम करता हूँ।

विदू०—आप का कल्याण हो! (तब उर्वशी और कञ्चुकी प्रवेश करती हैं।)

कंचुकी—इधर से, इधर से देवी।

उर्वशी—(कुमार को देखकर) यह धनुष लिये हुये पादपीठ पर कौन बैठा है जिसके बालो का जूडा स्वय महाराज बाँध रहे हैं ? (तापसी को देखकर) अरे, सत्यवती से पता चल रहा है कि यह मेरा पुत्र आयु है। खूब बडा हो गया है। (चलती है।)

टिप्पणी—निर्यातय—निर्+यत्+णिच्+लोट। वापिस कर दो। लौटा दो।

सर्वाङ्गीण·—सर्वाणि च तानि अङ्गानि इति सर्वाङ्गाणि। तानि व्याप्नोति स सर्वाङ्गीणः। "तत्सर्वादेः पथ्यङ्ग कर्म-पत्र पात्र व्याप्नोति" इस सूत्र से ख

प्रत्यय होकर ख को ईन हुआ है। "आयनेयेनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्" सूत्र से।

चन्द्रकान्तमिव—यह उपमा बहुत उपयुक्त है। चन्द्रमा की किरणें भी चन्द्रकान्त मणि का सर्वाङ्गीण स्पर्श करती हैं।

पादपीठे—कुमार राजा के चरणों के पास बैठना है। इसलिये 'पादपीठ' उसे बैठने के लिये दिया।

आश्रमवास—विदूषक के इस कथन में आत्मोपहास है। इसमें उसकी आकृति तथा वेश का भी परिचय मिलता है।

सयम्यमान—शिखण्डकः—सयम्यमानः (सम्+यम्+कर्मणि शानच्) शिखण्डकः यस्य सः।

सत्यवती—सूचितः—सत्यवत्या सूचितः। सत्यवती की उपस्थिति के कारण जिसका पता चल रहा है।

पुत्रकः—ह्रस्वः पुत्रः पुत्रकः (छोटा बालक)। ह्रस्व अर्थ में क प्रत्यय हुआ है।

संवृत्तः—सम्+वृत्+क्त।

मूलपाठ—राजा—(विलोक्य) वत्स!

इयं ते जननी प्राप्ता त्वदालोकन-तत्परा।
स्नेह-प्रस्नव-निर्भिन्नमुद्वहन्ती स्तनांशुकम्।।१२।।

तापसी—जाद एहि पच्चुग्गच्छ मादरं। [जात एहि प्रत्युद्गच्छ मातरम्]

(कुमार उर्वशीं प्रत्युद्गच्छति)

उर्वशी—अम्ब! पादप्रणामं करेमि। [अम्ब! पादप्रणामं करोमि]

तापसी—वच्छे भत्तुणो बहुमदा होहि। [वत्से भर्तुर्बहुमता भव]

कुमार.—अम्ब अभिवादये!

उर्वशी—(कुमारमुन्नमितमुख परिष्वज्य) वच्छ पिदरं आराधइत्तओ होहि। (राजानमुपेत्य जेदु-जेदु महाराओ)। [वत्स पितरमाराधयिता भव। (राजानमुपेत्य) जयतु जयतु महाराजः।]

राजा—स्वागत पुत्रवत्यै। इत आस्यताम्। (अर्धासन ददाति)

(उर्वशी उपविशति । सर्वे यथोचितमुपविशन्ति)

तापसी—एसो गहिद विज्जो आऊ सरद कव अहरो सवुत्तो । ता एदस्स दे भत्तुणो समक्ख णिज्जादिदो हत्थ-णिक्खेवो । ता विसज्जेदु इच्छामि । उवरुज्झइ मे अस्सम-धम्मो । [एष गृहीत विद्य आयु साम्प्रत कवचहर सवृत्त । तदेतस्य ते भर्तु समक्ष निर्यातितो हस्तनिक्षेप । तद् विसर्जयितुमिच्छामि । उपरुध्यते मम आश्रमधर्म]

उर्वशी—चिरस्स अज्ज देक्खिअ अहिमदर अवितिण्हम्हि ण सक्कुणोमि विसज्जिदु । अण्णय्य उवरोहिदु । गच्छदु अज्जा पुणोदसणाअ । [चिरस्य आर्या दृष्ट्वा अविकतरम् अवितृष्णाऽस्मि । न शक्नोमि विसृष्टुम् । अन्यायमुपरोद्धुम् । गच्छत्वार्या पुनर्दर्शनाय]

राजा—अम्ब भगवते च्यवनाय मा प्रणिपातय ।

तापसी—एव्व भोदु । [एव भवतु]

कुमार—आर्ये सत्य यदि निवर्तसे तदा मामप्याश्रम नेतुमर्हसि ।

राजा—वत्स ! उषित त्वया पूर्वस्मिन्नाश्रमे । द्वितीयम-ध्यासितु समय ।

तापसी—जाद गुरुणो वअण अणुचिट्ठ । [जात गुरोर्वचनमनुतिष्ठ]

व्याख्या—राजा—(विलोक्य) वत्स !

इदमिति—इय स्नेहेन य प्रस्नव क्षरणम इति स्नेह प्रस्रवः तेन निर्भिन्न नितरा भिन्न स्तनन् आर्द्रीभूतमिति यावत भिन्न वाऽन्तरस्य दारिते तनौ स्फुटे" इति लोचन । स्नाशुकदवहन्ती कञ्चुक धारयन्ती तव अवलोकन स्वदालोकन तस्मिन् उत्सुका तव जननी पतिव्रता प्राप्ता समागता । अनुष्टुब्वृत्तम् ।१२।

तापसी—जाव पुत्त एहि माद स्सरुद्गच्छ अग्रे गत्वा अभिनन्द । (कुमार उत्थ ीय प्रयुद्गच्छ त र अभिनन्द्य उपायामे गच्छति)

उर्वशी—अम्बेति सम्मानार्थम् । पादवणाम चरणस्पर्श करोमि ।

तापसी—वत्से भर्तुर्बहुमता अभिलषिता प्रिया भव । ईदृश एवाशीर्वाद शाकुन्तलेऽपि (४-६) "ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव" इति ।

कुमार.—अम्ब अभिवादये प्रणमामि ।

उर्वशी—(कुमारमुन्नमित उर्ध्वीकृत मुख यस्य त परिष्वज्य परिरभ्य) वत्स पितरमाराधयिता पितृचरण-सेवा-परायणो भव। 'म लोराध्ययनिष्ठे' इत्यनेना पितरमित्यत्र षष्ठी प्रतिषेधः। (राजानमुपेत्य) जयतु जयतु महाराजः।

राजा—स्वागत पुत्रवत्यै अभिनन्दामि सपुत्रा त्वाम्। इत आसने आस्यताम्। (अर्धासनं राजासनस्यार्धभाग ददाति। उर्वशी अर्धासने उपविशति। सर्वे यथोचित मर्यादानुसारेण उपविशन्ति)

तापसी—एष गृहीतविद्योऽभ्यस्तशास्त्र आयु, तव पुत्रः साम्प्रत कवच हरतीति कवचहरः कवचधारणयोग्यो युवा सवृत्तो जातः। 'वयसिच' (३-२-१०) इति सूत्रेण आयुषि गम्यमाने हृधातोरच् प्रत्यय। तदेतस्य ते भर्तु पुरुरवस समक्षं निर्यातित सर्मर्पितस्ते हस्तनिक्षेपः। तद् विसर्जयितुमनो गन्तुमिच्छामि। मम आश्रम धर्म आश्रमकर्म यानि उ रुध्यते बाधितो भवति।

उर्वशी—चिरस्य बहो कालादनन्तरमार्या पूज्या त्वा दृष्ट्वा अधिकतर अवितृष्णा दर्शनोत्कण्ठिताऽस्मि। न लघुना कालेन बहुकालजन्या दर्शन-पिपासा शान्ति गता। अतोविसृष्टु गमनायानुमन्तु न शक्नोमि। उपरोद्धु-मन्तावस्थानाय,ग्रह कर्तुमप्यन्याय्यमनुचित न्यायादपेतम्। अतो गच्छतु आर्या पुनर्दर्शनाय पुनरपि भवत्यादर्शन देयम्।

राजा—अम्ब! भगवते पूज्याय च्यवनाय मा प्रणिपातय मे प्रणाम तस्मै निवेदयतु भवती।

तापसी—एव भवतु निवेदयिष्यामि ते प्रणामम्।

कुमारः—आर्ये यदि त्वमेव त्व निवर्तसे आश्रम प्रतिगच्छसि तदा मामपि त्वया सहाश्रमम नय।

राजा—वत्स उषित त्वया त्वमुषितवानसि पूर्वस्मिन्नाश्रमे ब्रह्मचर्यनाम्नि प्रथमे आश्रमे। ते ब्रह्मचर्यकालोऽतीतः। साम्प्रत द्वितीय गृहस्थाश्रमं अध्यासितु प्रवेष्टु तत्र निवसितु ते समयः। साम्प्रतमतिक्रान्त ब्रह्मचर्यतपसा त्वया गृहस्थाश्रमोऽध्यासितव्यः।

तापसी—जात पुत्र गुरोः पितुर्वचनमाज्ञामनुतिष्ठ पालयस्व।

अनुवाद--राजा--(देखकर) बेटा! यह तुम्हारी माँ आ गयी हैं जो तुम्हे देखने में तल्लीन हैं और जिसकी पहनी हुई चोली तुम्हारे स्नेह के कारण टपकने हुये दूध से गीली हो रही है।१२।

तात्पर्य--बेटा आओ और आगे बढ कर माता का स्वागत करो।

(कुमार आगे बढ कर उर्वशी का स्वागत करता है)

उर्वशी--माँ चरणों में प्रणाम करती हूँ।

तापसी--बेटी, पति का आदर तुम्हे प्राप्त हो।

कुमार--माँ, प्रणाम करता हूँ।

उर्वशी--(कुमार का मुख ऊपर उठाकर आलिंगन करके) बेटा, पिता की सेवा करने वाले बनो। (राजा के पास जाकर) जय जय हो, महाराज!

राजा--स्वागत है पुत्रवती का। इधर बैठिये। (आधा आसन देता है)

(उर्वशी बैठती है। सब यथोचित स्थान पर बैठ जाते हैं)

तापसी--यह आयु विद्या प्राप्त कर चुका और अब कवच धारण करने योग्य (युवा) हो गया है। तो तुम्हारे पति के सामने यह तुम्हारे हाथ की धरोहर लौटा दी। अब विदा होना चाहती हूँ। मेरे आश्रम के कर्तव्य में उपरोध (बाधा) हो रही है।

उर्वशी--बहुत समय के बाद आपको देखने के कारण और अधिक तृष्णा जाग गयी है। विदा नहीं कर पा रही हूँ। रोकना भी उचित नहीं है। आप जाइये, फिर दर्शन दीजियेगा।

राजा--माई, मेरी ओर से भगवान् च्यवन को प्रणाम कहना।

तापसी--ऐसा ही होगा।

कुमार--आर्य, यदि आप सचमुच लौट रही हैं तो मुझे भी आश्रम ले चलिये।

राजा--बेटा, तुम प्रथम आश्रम में रह चुके हो। अब तुम्हारा समय दूसरे आश्रम में रहने का है।

तापसी--बेटा, पिता की आज्ञा का पालन करो।

टिप्पणी—स्नेह-प्रस्रवनिभिन्नम्—स्नेहेन प्रस्रवः इति स्नेहप्रस्रव. तेन नितरां भिन्नम् इति स्नेह'' '' । स्नेह के कारण टपकते (झरते) हुये दूध से गीला । भर्तुर्बहुमता—कालिदास पत्नी के लिये इस आशीर्वचन को सर्वश्रेष्ठ मानते थे । देखिये शाकु० (४-६) "ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव"

पितरमाराधयिता—'न लोकाव्यय निष्ठा खलर्थतृनाम्' सूत्र से पितरम् में कर्तृकर्मण्य कृति की षष्ठी का निषेध हुआ है ।

मूलपाठ—कुमार —तेनहि

य सुप्तवान् मदङ्के शिखण्डू कण्डूयनोपलब्धसुखः ।
त मे जात कलाप प्रेषय मणि कण्ठक शिखिनम् ।१३।

तापसी— (विहस्य) एव्वं करेमि । सत्थि भोदु तुम्हाण । [एवं करोमि । स्वस्ति भवतु युष्मभ्यम्] (इति निष्क्रान्ता)

राजा—कल्याणि !

अह हि पुत्रिणामग्र्य सत्पुत्रेणामुना तव ।
पौलोमी-संभवेनेव जयन्तेन पुरन्दरः ।१४।
(उर्वशी स्मृत्वा गोदिति)

विदू०—किं णु खु तत्तभोदी एक्कवदे अस्सुमुही सवुत्ता । [किं नु खलु तत्र भवती एकपदेऽश्रुमुखी सवृत्ता]

राजा—(सावेगम्) किं सुन्दरि प्ररुदिताऽसि ममोपपन्ने

वशस्थितेरधिगमान्महति प्रमोदे
पीनोन्नत-स्तन-'वसर्पिभिरानयन्ती
मुक्तावली-विरचना-पुनरुक्तिमस्त्रैः ।१५।
(वाष्पमस्याः प्रमार्ष्टि)

व्याख्या—कुमार —तेनहि—य इति—शिखण्डस्य वर्हस्य' कण्डूयनं खर्जन तेन उपलब्ध सुख येन सः एवभूतो य. शिखण्डी मया वर्हस्य कण्डूयनेन प्राप्तसुख' मदङ्के ममोत्सङ्गे एव सुप्तवान निद्रामलभत स मे जातः कलापः पिच्छभारो यस्य त मणिकण्ठकमेतन्नामानं शिखण्डिन

मयूर प्रेषय। "कलाप सहते वर्हे" इति कोष। एतेन कुमारस्य प्रकृति सौकुमार्यं व्यज्यते। आर्याजातिः।१३।

तापसी—(विहस्य कुमारस्य बालस्वभाव निरीक्ष्य प्रसन्ना सती) एव करोमि प्रेषयिष्यामि मणिकण्ठकम्। स्वस्ति युष्मभ्यम् राज्ञे, उर्वश्यै, कुमाराय अन्येभ्यश्च। (इतिनिष्क्रान्ता गता)

राजा—सुन्दरि! अहमिति—अह हि अमुनाऽनेन तव न पुत्रेण पुत्रिणा पुत्रवतामग्रय प्रधान.। अग्रे साधुरग्र्य 'तत्र साधुः' (४-४-९८) इति यत् प्रत्यय। ततोऽमानपुर नाम राक्षस दारयति स पुरन्दर इन्द्र पुलोम्न असुरस्य स्त्री पौलोमी तस्या नमवा यस्य तेन शची सूनुना जयन्तेन इव। (उर्वशी स्मृत्वा इन्द्रवचन स्मृत्वा रोदिति)

विद०—किं नु खलु केन कारणेन भवती एकपदे सर्वैव अश्रुमुखा बाष्पाकुला सवृत्ता सजाता।

राजा—(सावेगम् आवेगेन क्षोभेण सहित यथास्यात्तथा) किं सुन्दरीमि मम वशस्य स्थितिनिर्मस्मात् तस्य वंशाङ्कुरस्य अधिगमात् प्राप्त कारणात् स्फुरति प्रकाशमाने प्रमोदे आनन्दे उपनीते प्राप्ते सति पीनौ मांसलौ यौ स्तनौ तयो रुपरि निरतरन्तीति पीनस्तनोपरि निपतन्तीति तै अश्रुबिन्दुभि पुनरपि द्वितीयामिव मुक्तावली-विरचना अर्पयन्ती परिदधतीव किं केन कारणेन प्रदर्शितासि। अश्रुबिन्दवो मुक्ता इव प्रतिभान्ति। तेषां निरन्तर प्रवाहेण वक्षस्थल द्वितीया मुक्तावली मौक्तिकमाला विरचितेव लक्ष्यते। एका तु उर्वश्या पूर्वमेव धारिता आसीत्। पुनरपीमिति क्रियाविशेषण तेन नपुसकलिङ्गत्वमेकवचनत्व च। अश्रूणा मुक्तासादृश्य प्रतिपादनात् व्यङ्ग्यालमा। विरचनाया सभावनात्प्रेक्षालङ्कार.। वसन्ततिलका वृत्तम्।१५। (अस्यावाष्पम् प्रमार्ष्टि)

अनुवाद—कुमार—अच्छा तो, मेरा 'मणिकण्ठक' मोर जो शिखण्ड (चोटी) के खुजलाने से सुखमग्न होकर मेरी गोद में सो जाया करता था, उसके जब पंख निकल आयें तो उसे मेरे पास भेज देना।१३।

तापसी—(हँसकर) ऐसा ही करूँगी। तुम दोनों का कल्याण हो। (जाती है)

राजा—कल्याणि ! जिस प्रकार इन्द्र शची से उत्पन्न हुये जयन्त को पाकर पुत्रवानो म श्रे ठ है वैसे ही मैं तुम्हारे इस सुपुत्र पुत्रवान् लोगो मे प्रथम हूँ १४।

(उर्वशी याद करके रोती है)

विद्०—अरे ! आप अचानक ही रोने क्यो लगी ?

राजा—(घबरा कर) हे सुन्दरि ! मेरे वश को स्थिर रखने वाले पुत्र के मिल जाने स जब मेरे लिये महान आनन्द प्राप्त हुआ है तब तुम ऊँचे और स्थूल स्तनो पर बिखर-बिखर कर उन्हे दोहरी मोतियो की माला पहनाते हुए-से आंसुओं से रो क्यो रही हो ? ।१५।

(उर्वशी के आँसू पोछता है)

टिप्पणी—कवचहर—यह पद इससे पूर्व के गद्य मे आया है। कवच हरति स । हृ धातु से 'वयसि च' (३–२–१०) सूत्र के द्वारा अच् होकर बना है। यह प्रत्यय आयु द्योतन करने मे होता है। अत कवचहर का अर्थ है युवा—कवचधारण करने योग्य।

शिखण्ड···सुख—शिखण्डस्य (मोरपख) कण्डूयनेन लब्ध सुख येन स । मयूर का विशेषण है।

युष्मभ्यम्—'नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽल वषड्योगाच्च' सूत्र से स्वस्ति के योग म चतुर्थी।

पुत्रिणाम्—पुत्र सन्ति येषान्ते पुत्रिण, तेषाम्।

अग्र्य—अग्रे साधु इति अग्र्यः। 'तत्र साधु' ४–४–९८ सूत्र से यत् प्रत्यय। साधु=प्रवीण, योग्य।

पौलोमी—पुलोम्न अपत्य स्त्री। इन्द्र की पत्नी शची पुलोमन् नामक दानव की पुत्री थी।

पुरन्दर.—पुर (राक्षस का नाम) दारयति स इन्द्र। शाकु० (७–२८) मे भी ऐसा ही आशीर्वचन है—'आखण्डलसमोभर्त्ता जयन्तप्रतिम. सुत—आशीरन्या न ते योग्या पौलोम्या सदृशी भव।' कालिदास की दृष्टि मे इन्द्र, शची और जयन्त का परिवार गृहस्थो के लिये आदर्श था।

पीनो***विसर्पिभिः—पीनौ उन्नतौ च तौ स्तनौ इति पीनोन्नतस्तनौ तत्र विसर्पन्तीति तैः। स्तनों पर मोतियों की एक माला पहले ही विद्यमान है। आँसू उन पर दूसरी माला की सृष्टि कर रहे हैं।

मूलपाठ—उर्वशी—सुणादु महाराओ। पढमं उण पुत्तदंसणेण विसुमरिदम्हि। दाणिं महिन्द-परित्तणेण समओ मह हिअअं आआसेदि। [शृणोतु महाराजः। प्रथम पुनः पुत्रदर्शनेन विस्मृताऽस्मि। इदानीं महेन्द्र संकीर्तनेन समयो मम हृदयमायासयति]

राजा—कथ्यतां समयः।

उर्वशी—अहं पुरा महाराअ-गहिद-हिअआ महिन्देण आणत्ता। [अहं पुरा महाराजगृहीतहृदया महेन्द्रेण आज्ञापिता]

राजा—किमिति ?

उर्वशी—जदा एसोमम पिअसहो राएसी तुइ समुप्पण्णस्स वंसकरस्स मुहं पेक्खिस्सदि तदा तुए भूओवि मम समीवं आअन्तव्वंति। तदो मए महाराअ-विओअ-भीरुदाए जादमेत्तो एव्व विज्जागमणिमित्तं भअवदो चवणस्स अस्समपदे अज्जाए सच्चवदीए हत्थे अप्पआसं णिक्खित्तो। अज्ज पिदुणो आराहण-समत्थो संवुत्तोत्ति कलअन्तीए णिज्जादिदो मे दीहाऊ। ता एत्तिओ मे महाराएण संवासो। [यदैव मम प्रियसखो राजर्षिस्त्वयि समुत्पन्नस्य वंशकरस्य मुखं प्रेक्षिष्यते तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति। ततो मया महाराजवियोगभीरुतया जातमात्र एव विद्यागम निमित्तं भगवतश्च्यवनस्याश्रमपदे आर्यायाः सत्यवत्या हस्तेऽप्रकाशं निक्षिप्तः। अद्यपितुराधन समर्थः संवृत्त इति कलयन्त्या निर्यातितो मे दीर्घायुः। तदेतावान्मे महाराजेन संवासः]

(सर्व विषादं रूपयन्ति)

राजा—(सनिःश्वासम्) अहो सुख प्रत्यर्थिता दैवस्य !

आश्वासितस्य मम नाम सुखोपलब्ध्या
सद्यस्त्वया सह कृशोदरि विप्रयोगः।
व्यावर्तितातपरुजः प्रथमाभ्रवृष्ट्या
वृक्षस्य वैद्युत इवाग्निरुपस्थितोऽयम् ।१६।

व्याख्या—उर्वशी—शृणोतु महाराजः। प्रथम पुन पुत्रदर्शनेन विस्मृताऽस्मि विस्मृतवती। इदानी महेन्द्रस्य पुरन्दरस्य सङ्कीर्तनेन नामग्रहणेन समयः कालावधि मम हृदयम् आयासयति पीडयति।

राजा—कथ्यता सूच्यता समय. शपथ. कालावधिर्वा।

उर्वशी—अह पुरा पूर्वकाले महाराजेन गृहीत वशीकृत हृदय यस्याः सा महाराजवशीकृतचित्ता महेन्द्रेण आज्ञापिता।

राजा—किमिति किमाज्ञापितवती।

उर्वशी—यदा एव मम प्रियसख प्रियमित्र राजर्षि त्वयि समुत्पन्नस्य जातस्य वशकरस्य कुलप्ररोहस्य मुख प्रेक्षिष्यते द्रक्ष्यति तदा त्वया भूयोऽपि मम समीपमागन्तव्यमिति। तत तदनन्तर मया महाराजस्य वियोगस्तस्माद् भीरुणा तया तव वियोगो मा भूदिति कारणेन जातएवेति जातमात्र एव विद्यायाः आगम प्राप्तिस्तस्य निमित्त भगवतः पूज्यस्य च्यवनस्य आश्रमपदे आर्यायाः सत्यवत्या हस्ते तत्सन्निध्येऽप्रकाश गुप्तरूपेण निक्षिप्त निहितो न्यासरूपेण। अद्य पितु आराधने समर्थ. तत्सेवायोग्य. संवृत्त इति कलयन्त्या विचारयन्त्या निर्यातितो प्रत्यर्पितो मे दीर्घायु। तदेतावान् मे महाराजेन स वास एतावन्त काल यावन्मे भवता सह निवास। (सर्वे विषाद शोक रूपयन्ति प्रकटयन्ति)

राजा—(निश्वासेन सहेति सनिश्वासम्) अहो इति दुःखाभिव्यञ्जकम्। सुखस्य प्रत्यर्थीविरोधी इति सुखप्रत्यर्थी तस्य भाव. सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य। दैव न कस्यापि सुखातिशय सहते।

आश्वासितस्येति—कृश क्षीणमुदर मध्यभागो यस्या सा कृशोदरी तत्संबुद्धौ। हे कृशोदरि सुतोपलब्ध्या पुत्रप्राप्त्या आश्वासितस्य प्राप्त परितोषस्य नाम मम त्वया सह अय विप्रयोग विरह प्रथमा चासौ अभ्र वृष्टि मेघवर्ष-तया नूतन मेघवर्षेण व्यावर्तिता दूरीकृता आतपस्य धर्मस्य रुक् कष्ट यस्मासौ व्यावर्तितातपरुक् तस्य निर्वर्तित निदाघ पीडस्य वृक्षस्य विद्युतोऽयमिति वैद्युतः विद्युत्सम्बन्धी अग्नि इव उपस्थितः। यथा नव मेघेन कृते ईषद् वर्षणे वृक्षस्य सूर्यातप कष्टो दूरी भवति पर तदैवोपस्थित तडिज्जन्याऽग्निस्त्रासाय कल्पते तथैव पुत्रप्राप्त्या मम अनवरतया कष्टे दूरीकृते तत वियोगो महते कष्टाय आपतितः। वसन्ततिलकावृत्तम्।१६।

अनुवाद—उर्वशी—सुनिये महाराज ! पहले तो पुत्र को फिर से देखकर भूल गयी थी। अब इन्द्र का नाम लेने से वह वचन मेरे हृदय को कष्ट दे रहा है।

राजा—वचन बतलाइये तो।

उर्वशी—महाराज, पहले जब मेरा हृदय आप में आसक्त हो गया था तो महेन्द्र ने आज्ञा दी थी।

राजा—क्या आज्ञा ?

उर्वशी—जब यह मेरा प्यारा मित्र राजर्षि तुम से उत्पन्न पुत्र का मुख देखे तो तुम फिर से मेरे पास आ जाना। तो मैंने महाराज के वियोग के डर से पैदा होते ही इसे विद्याग्रहण के लिए भगवान् च्यवन के आश्रम में आर्या सत्यवती के हाथ में चुपचाप सौंप दिया। पिता की सेवा के योग्य हो गया जानकर आज उन्होंने मेरा दीर्घायु लौटा दिया। तो मेरा आपके साथ इतना ही सहवास था।

(सब शोक प्रदर्शित करते हैं)

राजा—(लम्बी साँस छोड़कर) ओफ ! दैव भी सुख का कितना विरोधी है !

हे कृशोदरि ! जब मैं पुत्र की प्राप्ति से आश्वासित हुआ तो तुरन्त ही तुम्हारे साथ वियोग (उपस्थित) हो गया। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे बादल की पहली वर्षा से वृक्ष का आतप (धूप) का कष्ट दूर हो जाय पर उस पर विद्युत् की आग गिर पड़े।१६।

टिप्पणी—महाराज गृहीतहृदया—महान् राजा, महाराज। 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' से टच प्रत्यय और टि लोप होकर अकारान्त 'महाराज' बन जाता है। महाराजेन गृहीतं हृदयं यस्याः सा।

सुखप्रत्यर्थिता—सुखं प्रत्यर्थयते स सुखप्रत्यर्थी (सुख का विरोधी) तस्य भावः सुखप्रत्यर्थिता।

त्वया सह—विप्रयोग के साथ प्रायः यों भी तृतीया का प्रयोग होता है।

प्रथमाभ्रवृष्ट्या—अभ्राणां वृष्टिः अभ्रवृष्टिः। प्रथमा चासौ अभ्रवृष्टिः प्रथमाभ्रवृष्टिः तया।

व्यावर्तिना तपरुज —०यावर्तिता (वि+आ+वृत्+क्त+टाप) आतपस्य रुक् यस्य स, तस्य।

वैद्युत —विद्युत अयम वैद्यत ।

इस श्लोक मे सुखापलब्धि की प्रथमाभ्रवृष्टि से, आश्वासितस्य की व्यावर्ति०तपरुज से और उवशी के वियोग की विद्युत की अग्नि से उपमा दी गयी है।

मूलपाठ--विद०—अअ सो अथ्थो अणथ्थाणवन्धो स वुत्तो। स पद तक्केमि तत्तभवदा वक्कल गेण्हिअ तवोवण गन्दव्वति। [अय सोऽर्थोऽनर्थानुबन्ध स वृत्त । साप्रत तकयामि तत्रभवता वल्कल गृहीत्वा तपोवन गन्तव्यमिति]

उर्वशी—मवि मन्दभाइणि किदविणअस्स पुत्तस्स लाभाणन्तर सग्गारोहणेण अवसिदकज्ज महाराओ समथ्थेदि। [मामपि मन्दभागिनी कृतविनयस्य पुत्रस्य लाभानन्तर स्वर्गारोहणेनावसितकार्या महाराज समर्थयत]

राजा—सुन्दरि! मा मैवम्—

नहि सुलभवियोगा कर्तुमात्मप्रियाणि
प्रभवति परवत्ता शासने निष्ठ भर्तु ।
अहमपि तव सूनावायुषि न्यस्तराज्यो,
विचरित मृग यूथान्याश्रयिष्ये वनानि।१७।

कुमार --नार्हति तात पुगवधारिताया धुरि दम्य नियोजयितुम्।

राजा—अपिवत्स!

शमयति गजानन्यान् गन्धद्विप कलभोऽपिसन्,
भवति सुतरा वेगोदग्र भुजङ्गशिशोर्विषम्।
भुवमधिपतिर्बालावस्थोऽप्यल परिरक्षितु,
न खलु वयसा जात्यैवाऽय स्वकार्य सहोभर।१८।

लातव्य, मद्वचनादमात्य परिषद ब्रूहि सज्ञियतामायुषो राज्याभिषेक इति।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः। (इति दुःखितो निष्क्रान्तः)
(सर्वे दृष्टिप्रविघात रूपयन्ति)

व्याख्या—विदू०—अय स. अर्थ. सुतोपलब्धिरूप अनर्थं त्वद्वियोगरूपम् अनुबध्नातीति अनर्थानुबन्ध. सवृत्त.। सारत तर्कयामि चिन्तयामि तत्रभवता वल्कल परिव्राजकवेष गृहीत्वा तपोवन गन्तव्यम् तपसे यातव्यम्।

उर्वशी—मामपि मन्दभागिनी हतभाग्या कृत-विनयस्य सम्यगनुशिष्टस्य गृहीतविद्यस्य पुत्रस्य लाभान्तर प्राप्ते पश्चात् स्वर्गारोहणेन स्वर्गं प्रति गमनेन अवसित समाप्त कार्य यस्या ताताम् महाराज समर्थयते मन्यते। सुशिक्षितस्य पुत्रस्य प्राप्तेरनन्तर कृतकार्योऽहं समान-सुख-दुःखा स्वर्गं जिगमिषुरिति मन्यते महाराज किम्? "विनय प्रणतौप्राहु शिक्षाया विनयोमत" इति विश्वलोचन।

राजा—ना मैवम् म. एव मस्या'। नहीति—सुलभ सुकर प्रतिक्षण सभाव्यो वियोगोयस्या सा एवविधा परवत्ता पराधानता आत्मप्रियाणि स्वमनोऽनुकूलानि कार्याणि कर्तुं न प्रभवति पराधीनो जनो स्वमनोनुकूल कर्तुं न पारयति। अनाऽनेन हेतुना त्व भर्तुरिन्द्रस्य शासने आज्ञाया तिष्ठ। तदाज्ञानुसारेण आचर। अहमपि तव सूनौ पुत्रे आयुषि न्यस्त समर्पित राज्य शासनभारो येन स एवविधः सन् राज्यभारमायुषि आरोप्य विचरितानि स्वैर भ्रमन्ति मृग यूथानि हरिणकुलानि येषु तानि तादृशानि वनानि आश्रयिष्ये। प्रासाद त्यक्त्वा अरण्येषु निवत्स्यामि। मालिनीवृत्तम्।१३।

कुमार.—नार्हति तात न युज्यते भवत. पुङ्गवे श्रेष्ठैः नृपैर्धारिताया मुद्वाया धुरि दम्य वत्सतर नवं वृषभ नियोजयितुम्। राज्यस्य धुर्महोऽस्य मुद्वाया धुरि दम्य वत्सतर नवं वृषभ नियोजयितुम्। राज्यस्य धूर्महाभारैव धारयितु योग्या न दम्ये'। 'दम्योवत्सतरौ समौ' इत्यमर'। बाल्य-यौवनयोर्मध्ये वर्तमानो शकट-वहनानुभवहीनो गौर्दम्य' कथ्यते। दम दमन (शकटम्) अर्हतीतिदम्य। उक्तञ्च रघुवंशे (६-७८) "गुर्वी धुरयोभुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृश बिभर्ति।"

राजा—अयि वत्स! शमयतीति—गन्ध प्रधानो द्विपोगन्धद्विपः गन्धगजः कलभोऽपि शावकोऽपि सन् अन्यान् सामान्यान् गजान् शमयति पराभवति।

भुजं वक्रं गच्छतीति भुजङ्गः सर्पस्तस्य शिशुस्तस्य विषं वेगेन उदग्रमिति सुतरां सहजतया वेगादग्रं वेगैः उदग्रं भयङ्करं शीघ्रं विसर्पि भवति। शिशोरपि सर्पस्य विषं मारणाय प्रभवति। शरीरे सप्तधातवः सन्ति। ते च "रसासृङ्मांस-मेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।" इति वाग्भटे वर्णिताः। तत्र "धातो धात्वन्तर-प्राप्तिर्विषवेग इति स्मृतः।" एवं विषवेगा अपि सप्तैव भवन्ति। सप्तमे चमृतिः यथाबालोऽपि गन्धगजोऽन्यान् गजान् पराजयते, यथा च बालस्यापि सर्पस्य विषं भयङ्करेण वेगेन प्रसरति तथैव बालस्य अवस्था यस्य स बालावस्थो बाल्ये वर्तमानोऽधिपतिः राजा भुवं परि रक्षितुं पालयितुमलं शक्तो भवति। अयं भरः एष अतिशयः 'अतिशयो भरः' इत्यमरः अयं। महिमातिशयः जात्यैव जन्मैव स्वकार्यं सहते इति स्वकार्यं सह आत्मकार्यक्षमो भवति न तु वयसा आयुषा स्वकार्यं सहो भवति। यथोक्तं रघुवंशे (११-१) 'तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते" इति। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः उत्तरार्धे। पूर्वार्धस्य उत्तरार्धे प्रतिबिम्बनाद् दृष्टान्तालङ्कारः। हरिणीवृत्तम्। तल्लक्षणं तु "रस युग हयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा।" इति।१८।

लातव्य कञ्चुकिन् मद् वचनान्नमात्याना परिषद ब्रूहि सम्भ्रियता सञ्जी क्रियताम् (सम्-भृ + कर्मणिलोट्) आयुषो राज्येऽभिषेक इति।

(सर्वे मञ्चस्था नृपादयो दृष्टेः प्रविधानं अन्धत्वावस्था दर्शनाशक्तत्वं वा रूपयन्ति)

अनुवाद—विदू०—जो इस बात के साथ अनर्थ जुड़ गया। मैं सोचता हूँ कि अब आपको वल्कल लेकर तपोवन चले जाना चाहिये।

उर्वशी—क्या महाराज समझते हैं कि सुशिक्षित पुत्र के मिल जाने के बाद स्वर्ग चले जाने से मेरा भी काम समाप्त हो गया ?

राजा—सुन्दरि! नहीं, ऐसा नहीं—

पराधीनता में मनुष्य मनचाहे काम नहीं कर सकता। उसने वियोग सरलता से हो जाता है। तुम मालिक की आज्ञा का पालन करो। मैं भी तुम्हारे पुत्र आयुष् पर राज्य का भार छोड़कर उन वनों में जाकर रहूँगा जहाँ मृगों के झुण्ड विचरण करते हैं।

कुमार—पिता जी, जिस धुरी को बड़े बैलो ने धारण किया हो उसमे बछड़े को जोडना ठीक नही है।

राजा—अरे बेटा—

गन्ध-हस्ती छोटा बच्चा होते हुये भी अन्य हाथियो को ठण्डा कर देता है। साँप के शिशु के भी विष का वेग सहज ही भयकर है। राजा बाल्यावस्था का हो तो भी पृथ्वी का रक्षण करने मे समर्थ होता है। अपने कार्य को पूरा कर सकने की यह शक्ति जन्म से मिलती है, आयु से नही।१८।

टिप्पणी—अयंसोऽर्थो···संवृत्तः—समानभाव के लिये देखिये शाकु० (छठा अङ्क) "वयस्य रन्ध्रोपनिपातिनोऽनर्था इति यदुच्यते तदव्यभिचारि वचः।"

तत्रभवता—इस कथन मे विदूषक राजा का उपहास करता है यद्यपि उसका कथन असङ्गत नही है।

सुलभ-वियोगा—सुलभो वियोगो यस्याम् सा। परवत्ता का (परवत-पराधीन का–भाव.) विशेषण है।

विचरित-मृग-यूथानि—विचरितानि मृगयूथानि येषु तानि। द्वितीया विभक्ति बहुवचन का रूप है। वनानि का विशेषण है। अर्थात् वे वन जिनमे मृगो के झुण्ड विहार करते हैं।

पुंगवधारितायाम्—उमाश्चासौ गौ. इति पुगवः तेन धारित, तस्याम्। दमनमर्हति स. दम्य.।

गन्धद्विपः—जिस हाथी की गन्ध को सूँघ कर विरोधी हाथी उसके सामने से भाग जाते हैं वह गन्धद्विप कहा जाता है।

वेगोदग्रम्—वेग से भयकर। विषवेग का लक्षण यह है—धातोर्धात्वन्तर-प्राप्तिर्विषवेग इति स्मृतः।

मूलपाठ—राजा—(आकाशमवलोक्य) किं नु खलु निरभ्रे विद्युत्-संपातः।

उर्वशी—(विलोक्य) अम्मो भअवं णारदो। [अहो भगवान् नारदः]

राजा—अये भगवान् नारदः । य एष—

गोरोचना-निकष-पिङ्ग-जटाकलापः
संलक्ष्यते शशिकलामलवीत सूत्रः ।
मुक्तागुणातिशय-संभृत मण्डनश्री-
र्हेम-प्ररोह इव जङ्गम-कल्पवृक्षः ।।१६।।

अर्घ्यमस्मै ।

उर्वशी-(यथोक्तमादाय) इअं भअवदे अरिहणा । [इयं भगवतेऽर्हणा]

(ततः प्रविशति नारदः)

नारदः—विजयतां मध्यमलोकपालः ।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यमादायावर्ज्य, भगवन्नभिवादये ।

उर्वशी—भअवं पणमामि । [भगवान् प्रणमामि]

नारदः—अविरहितौ दम्पती भूयास्ताम् ।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नामैव स्यात् । (प्रकाशम् कुमारमाश्लिष्य) वत्स, भगवन्तमभिवादयस्व !

उर्वशी—(विलोक्य) अये भगवान् नारदो न तु विद्युत्पात । तेजस्वितया स विद्युदिव भासते । एवमेव ।

राजा—अये इत्याश्चर्ये भगवान् नारद । य एप —[शिशुनालववेऽपि नारदस्य मनोरम वर्णन लभ्यते।]

गोरोचनेति—गोरोचनाया निकप कपपापाण लक्षणया तत्स्थारेखा, तद्वत् पिङ्गो जटाकलापो यस्य सः । गोरोचना हि पीनोज्वला भवति नारदस्य जटाजूटोऽपि पि– एव। शशिन कला इव अमल धौतसूत्र यज्ञोपवीतं यस्य सः शुभ्रोपवीतधारी, मुक्तागुणं मौक्तिकसरैः अतिशयेन अत्यन्त सभृता सनीहृता मण्डन ी भूषणशोभा यस्य स मौक्तिकैरतिशयेन भूषित सर्वाङ्गः ! अय नारद. हेम्न इव प्ररोहाः शाखा यस्य स एव विधो ज्ङ्गम गतिशील कल्पवृक्षइव लक्ष्यते ।

अस्मै अर्घ्यम् अर्घ्यार्थमुदकम् दीयताम् । अर्घ्यं पूजा 'पादार्घाभ्या च" (५–४–२५) इति यत् । गन्धमाल्यादि सयुक्तमुदकमर्घ्यं भवति । यथोक्तं "आपः क्षीर कुशाग्र च दधिसर्पि सतण्डुलम्—यव सिद्धार्थकश्चैवाष्टाङ्गोऽर्घ्यः प्रकीर्तितः ।

उर्वशी—(यथोक्तमर्घ्यमादाय) इय भगवते तुभ्यम् अर्हणा पूजाविधि. । (तत प्रविशति नारद)

नारद —विजयता मध्यमश्चासौ लोकः पृथ्वी त पालयतीति मध्यमलोक-पाल: पृथ्वीपतिः ।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यमादाय स्वहस्ते गृहीत्वा आवर्ज्य समर्प्य च तस्मै) भगवन् अभिवादये प्रणमामि।

उर्वशी—भगवन् प्रणमामि ।

नारदः—प्रविरहितौ अवियुक्तौ दम्पता यूवा भूयास्ताम् । अत्र अविरहितौ इत्यादि कार्यस्य सिद्धत्वात् कार्यं नाम पञ्चमी अर्थप्रकृति ।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नाम एव स्यात् कदाचिद्वियोग समवेत् । (प्रकाशम् कुमारम् आश्लिष्य परिम्वज्य) वत्स भगवन्त नारदम् अभिवादयस्व प्रणम ।

कुमार.—भगवन् उर्वश्या आत्मजोऽस्मि पौर्वशेयः आयुः प्रणमति ।

नारदः—आयुष्मान् एधि चिरञ्जीवी भवितुं वर्धस्व ।

राजा—अये भगवान् नारदः। य एषः—

गोरोचना-निकष-पिङ्ग-जटाकलापः
संलक्ष्यते शशिकला मलवीत सूत्रः।
मुक्तागुणातिशय-संभृत मण्डनश्री-
र्हेम-प्ररोह इव जङ्गम-कल्पवृक्षः ॥१६॥

अर्घ्यमस्मै।

उर्वशी-(अर्घ्यमादाय) इअं भअवदे अग्घो। [इयं भगवतेऽर्घ्यः]

(ततः प्रविशति नारदः)

नारदः—विजयतां मध्यमलोकपालः।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यमादायावर्ज्य) भगवन्नभिवादये

उर्वशी—भअवं पणमामि। [भगवान् प्रणमामि]

नारद —अविप्रयुक्तौ दम्पती भूयास्ताम्।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नामैव स्यात्। (प्रकाशम् कुमारमायुषमादाय) वत्स, भगवन्तमभिवादयस्व।

कुमारः—भअवं ओव्वसीए आऊ पणमदि।

नारदः—आयुष्मानेधि।

राजा—अयं विष्टरोऽनुगृह्यताम्। (नारदस्तयोपविष्टः। सर्वे नारदमनूपविशन्ति)

नारदः—राजन् श्रूयतां महेन्द्रसन्देशः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

नारदः—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धि भवन्तमनुशास्ति—

राजा—किमाज्ञापयति।

नारद —त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुर सङ्गरो भावी। भवांश्च सांयुगीनः सहायो नः तत्त्वया शस्त्रं न सन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति।

व्याख्या—राजा—(आकाशमवलोक्य) किं नु खलु इत्याश्चर्यं निरभ्रे अभ्ररहिते मेघविरहित आकाशे विद्युत सम्पात पतनम्। नहि निरभ्रे आकाशे विद्युत् प्रकाशिता अत एवेदमाश्चर्यम्।

उवशी—(विलोक्य) अये भगवान् नारदो न तु विद्युत्पात। तेजस्वितया स विद्युदिव भासते। एवमेव।

राजा—अये इत्याश्चर्ये भगवान् नारद। य एष —[शिशुपालवधेऽपि नारदस्य मनोरम वर्णन लभ्यते।]

गोरोचनेति—गोरोचनाया निकष कषपाष ण लक्षणय। तत्स्थारेखा, तद्वत् पिङ्गो जटाकलापो यस्य सः। गोरोचना हि पीतोज्ज्वला भवति नारदस्य जटाजूटोऽपि पि एव। शशिन कला इव अमल धौतसूत्र यज्ञोपवीतं यस्य सः शुभ्रोपवीतधारी, मुक्तागुणं मौक्तिकमरैः अतिशयेन अत्यन्त सभृता सञ्जीकृता मण्डन ो भूषणशोभा यस्य स मौक्तिकैरतिशयेन भूषित सर्वाङ्गः। अय नारद हेम्न इव प्ररोहाः शाखा यस्य स एव विधो जङ्गम गति शील कल्पवृक्षइव लक्ष्यते।

अस्मै अर्घ्यम् अर्घ्यार्थमुदकम् दीयताम्। अर्घ्य पूजा 'पादार्घाभ्या च" (५-४-२५) इति यत्। गन्धमाल्यादि सयुक्तमुदकमर्घ्यं भवति। यथोक्तं "आपः क्षीर कुशाग्र च दधिसर्पि सतण्डुलम्—यव सिद्धार्थकश्चैवाष्टाङ्गोऽर्घ्यः प्रकीर्तितः।

उर्वशी—(यथोक्तमर्घ्यमादाय) इय भगवते तुभ्यम् अर्हणा पूजाविधि। (तत प्रविशति नारद)

नारद—विजयता मध्यमश्चासौ लोक पृथ्वी त पालयतीति मध्यमलोकपालः पृथ्वीपतिः।

राजा—(उर्वशी हस्तादर्घ्यमादाय स्वहस्ते गृहीत्वा आवर्ज्य समर्प्य च तस्मै) भगवन् अभिवादये प्रणमामि।

उर्वशी—भगवन प्रणमामि।

नारदः—अविरहितौ अवियुक्तौ दम्पती यूवा भूयास्ताम्। अत्र अविरहितौ इत्यादि कार्यस्य सिद्धत्वात् कार्यं नाम पञ्चमो अर्थप्रकृति।

राजा—(आत्मगतम्) अपि नाम एव स्यात् कदाचिद्वियोग सम्भवेत्। (प्रकाशम् कुमारम् आश्लिष्य परिस्वज्य) वत्स भगवन्त नारदम् अभिवादयस्व प्रणम।

कुमार.—भगवन् उर्वश्या अपत्यमित्यौर्वशेयः आयुः प्रणमति।

नारदः—आयुष्मान् एधि चिरञ्जीवी भवितुं वर्धस्व।

राजा—अयं विष्टरो अनुगृह्यताम् आसने उपविश्यताम् । (नारदस्तया विष्टरे उपविष्टः । नारदमनु सर्वेऽपि उपविशन्ति) 'विष्टरः कुशमुष्टौ स्यादासनेऽपि महीरहे ।' अनु इत्यन्—

नारद—राजन् महेन्द्रस्य पुरन्दरस्य सन्देशं श्रूयताम् । धर्मं प्रवचनीयो नतूपसर्गः ।

राजा—श्रोतुम् अवहित सावधानोऽस्मि ।

नारद—प्रभावेण दिव्य शक्त्या पश्यतीति प्रभावदर्शी सर्वप्रत्यक्षकारी मघवा इन्द्र वनगमनाय कृता बुद्धिर्येन तम् वन गन्तु कृतनिश्चय भवन्त अनुशास्ति आदिशति—

राजा—किमाज्ञापयति किं कर्तुं मामादिशति ?

नारदः—भय काला भूत वर्तमान भविष्यदात्मका इति त्रिकाला-स्तान पश्यन्तीति त्रिकालदर्शिनस्तैं मुनिभिरादिष्टः पूर्वतः सूचितः सुरासुर-सग्रामो देवासुर सङ्गरो भावी भविता । भवाश्च नोऽस्माकं सायुगीन सयुगे युद्धे साधुरिति 'प्रतिजनादिभ्य खञ्' (४–४–९९) इति खञ् । सहाय. । तेन त्वया शस्त्र सन्यस्तव्य व्यक्तव्यम् । सम्+नि+अस्+तव्य । इयं च उर्वशी यावदायु जीवनपर्यन्त तव सहधर्मचारिणी धर्मपत्नी भवतु इति ।

अनुवाद—**राजा**—(आकाश को देखकर) अरे ! बिना बादल के यह बिजली का गिरना कैसे ?

उर्वशी—अरे ! भगवान् नारद !

राजा—अरे भगवान् नारद हैं ! इनका जटा-जूट कसौटी पर खींची हुई गोरोचना की रेखा के समान पीला है। यज्ञोपवीत चन्द्रकला के सामान श्वेत है । मोतियों की मालाओं से इनका सौन्दर्य श्री और भी बढ गया है । ये सोने की शाखाओं वाले चलते-फिरते कल्पवृक्ष से दिखाई दे रहे हैं । इनके लिये अर्घ्य (पूजा-सामग्री) लाओ ।

उर्वशी—(यथोक्त अर्घ्य द्रव्य लेकर) यह रही भगवान के लिये पूजा-सामग्री । (तब नारद आते हैं)

राजा—(उर्वशी के हाथ से अर्घ्य लेकर भेंट करते हुये) अभिवादन करता हूँ, भगवन् !

उर्वशी—भगवन् प्रणाम करती हूँ।

नारद—आप दोनों पति-पत्नी सदा अवियुक्त (एक साथ) रहें।

राजा—(मन में) काश ऐसा होता! (स्पष्ट कुमार का आलिङ्गन करके) बेटा, भगवान को अभिवादन करो।

कुमार—भगवन्, उर्वशी का पुत्र आयुष् प्रणाम करता है।

नारद—फलो-फूलो आयुष्मान्।

राजा—यह विष्टर (बैठने का आसन) है। कृपा कीजिये। (नारद विष्टर पर बैठ जाते हैं। नारद के बाद अन्य सभी बैठते हैं)

नारद—राजन्! महेन्द्र का सन्देश सुनिये।

राजा—मैं सावधान हूँ।

नारद—अपने प्रभाव से (सब कुछ) देखने वाले इन्द्र ने वन-गमन के लिये कृत-सकल्प जान कर आप को आदेश दिया है।

राजा—क्या आज्ञा दी है?

नारद—त्रिकालदर्शी मुनियों ने बतलाया है कि देवासुर सग्राम होने वाला है। आप युद्ध में हमारे सहायक हैं। अत: आपको शस्त्र नहीं छोड़ना चाहिये और यह उर्वशी जीवन-पर्यन्त आपकी सहधर्मचारिणी हो।

टिप्पणी—गोरोचना···कलाप—गोरोचनाया. निकषः; स इव पिङ्गः जटाना कलापो यस्य सः।

शशिकला···सूत्र—शशिन कला; सा इव अमल धौत सूत्र यस्य सः।

साधुगीन—सयुगे साधुरिति साधुगीनः। "प्रति जनादिभ्यः खञ्" ४-४-९९ से सयुग के आगे खञ् प्रत्यय होता है।

मूलपाठ—उर्वशी—(अपवार्य) अम्महे सल्लं मे हिअ आदो अवणीदं विअ [अहो शल्य मे हृदयादपनीतमिव]

राजा—परमनुगृहीतोऽस्मि देवेश्वरेण।

नारदः—युक्तम्—

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा।२०।

(आकाशमवलोक्य) रम्भे उपनीयतां स्वयं महेन्द्रेण संभृतः कुमारस्यायुषो यौवराज्याभिषेकः।

(प्रविष्टा यथोक्तहस्ता अप्सरसः)

अप्सरसः—भअवं इमे अभिसेअसंभारा। [भगवन्नेतेऽभिषेकसंभाराः]

नारदः—उपवेश्यतामायुष्मान् भद्रपीठे।

रम्भा—इदो वच्छ। [इतो वत्स] (कुमारमुपवेशयति)

नारदः—(कुमारस्य शिरसि कलशमावर्ज्य) रम्भे, निवर्त्यतां शेषोविधिः।

रम्भा—(यथोक्तं निर्वर्त्य) वच्छ पणम भअवन्तं मादा पिदरे अ। [वत्स प्रणम भगवन्तं मातापितरौ च]

(कुमारो यथाक्रम प्रणमति)

नारदः—स्वस्ति भवते।

राजा—कुलधुरन्धरो भव।

उर्वशी—पिदुणो आराधइत्तओ होहि। [पितुराराधयिता भव]

व्याख्या—उर्वशी—(अपवार्य एकान्ते) शल्य शङ्कुरिव हृदयाद् अपनीत निष्कासितम्।

राजा—परमत्वर्थम् अनुगृहीत उपकृतोऽस्मि परमेश्वरेण महत्वता।

नारदः—युक्तम्—त्वत्कार्यमिति—वासव इन्द्रः तव कार्यमिति त्वत्कार्यं कुर्यात्। त्व च तस्य इष्ट करोति इति इष्टकृत् भूयाः। स तवाभिलषित सम्पादयेत् त्व च तस्य। सूर्य अग्नि सम्वर्धयति अग्निश्च स्वतेजसा सूर्यं सम्वर्धयति "आदित्योवाऽस्त यन्नग्निमनुप्रविशति अग्निर्वाऽऽदित्य साय प्रविशतीति" श्रुतिः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः। अनुष्टुब्वृत्तम् (आकाशमवलोक्य) रम्भे उपनीयतामयानीयता स्वय महेन्द्रेण संभृतः सज्जीकृत्य प्रदत्त कुमारस्य।२०।

आयुषयौवराज्याभिषेक. यौवराज्येऽभिषेकस्य सामग्री। (प्रविष्टा यथोक्त हस्ता हस्तेन अभिषेक सामग्रीमानयन्ती रम्भादयः अप्सरसः।

अप्सरसः—भगवन्नेते अभिषेकसम्भाराः अभिषेकस्य साधनभूतानि द्रव्याणि तानि च बिल्व वल्मीकमृत्तिकाऽम्बरसादीनि।

नारदः—देवीपुराणेऽप्युक्तम् *"हैम च राजत ताम्र क्षीरवृक्षमय च वा भद्रासन प्रकर्तव्य सार्धहस्त समुच्छ्रितम्-सपाद हस्तमान च राज्ञो माण्डलि*कान्तरात्" इति। एव परिमाणानुसारेण विरचिते भद्रपीठे शुभे आसने उपवेश्यतामायुष्मान्।

रम्भा—इतो वत्स, अत्रागत्य भद्रपीठे उपविश। (कुमारमुपवेशयति)

नारद—(कुमारस्यशिरसि कलश मन्त्रपूत तोयजलयुक्त घट आवर्ज्य *(समर्प्य) रम्भे निवर्त्यताम् पूर्णो क्रियता शेषोऽवशिष्टो विधिः शास्त्रोक्त* विधानम्।

रम्भा—यथोक्त नारदवचनानुसारेण शास्त्रविहित विधि निर्वर्त्य (सम्पाद्य) वत्स प्रणम भगवन्त नारद मातापितरौ च। (कुमारो यथाक्रम क्रमपूर्वक पूर्व नारद ततो मातर ततः पितर प्रणमति)

नारद—स्वस्ति भवते तव कल्याण भूयात्।

राजा—*कुलधुरन्धरो भव, कुल-प्रतिष्ठा-मर्यादयो सरक्षको भव।*

उर्वशी—पितुराराधयिता सेवको भव।

अनुवाद—उर्वशी—(एक ओर) मेरे हृदय से तो काँटा-सा निकाल दिया।

राजा—देवेश्वर का बडा अनुगृहीत हूँ।

नारद—ठीक है। इन्द्र तुम्हारा काम करें और तुम उनका इष्ट आचरण करो। सूर्य अग्नि को प्रदीप्त करता है और अग्नि अपने तेज से उसे समृद्ध करता है।२०।

(आकाश को देख कर) रम्भे! स्वय महेन्द्र द्वारा प्रस्तुत की हुयी कुमार आयुष् के यौवराज्याभिषेक की सामग्री लाओ।

(अभिषेक सामग्री हाथो मे लिये अप्सरायें आती हैं)

अप्सरायें—ये रही अभिषेक की वस्तुयें।

नारद—आयुष्मान् को भद्रपीठ पर बैठाओ।

रम्भा—बेटा, इधर (बैठो)। (कुमार को बैठाती है)

उर्वशी—णं साहारणो एसो अब्भुदओ। (कुमार हस्ते गृहीत्वा) एहि वच्छ जेठ्ठ मादरं अभिवन्देहि। [ननु साधारण एषोऽभ्युदयः। (कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व]

राजा—तिष्ठ। सममेव तत्रभवत्या समीपं यास्यामस्तावत्।

(कुमारः प्रतिष्ठते)

नारद—आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजस्य ते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता॥२३॥

व्याख्या—(नेपथ्ये वैतालिकौ कालबोधकौ स्तुतिपाठकौ)

प्रथम—युवराजो विजयताम्। 'विजराभ्या जे" (१-३-१९) इति विपूर्वकोजियातुरात्मनेपदे प्रयुक्तः।

नारद—(कुमार के सिर पर कलश (जल) डाल कर) रम्भे! शेष विधि पूरी करो।

रम्भा—(नारद के कथनानुसार विधि पूरी करके) बेटा भगवान् (नारद) और माता पिता को प्रणाम करो।

(कुमार क्रमानुसार प्रणाम करता है)

नारद—आपका कल्याण हो।

राजा—कुल के धुरन्धर बनो।

उर्वशी—पिता के आराधक बनो।

टिप्पणी—सूर्याः समेघयति—ऐसी श्रुति है कि अस्त को जाता हुआ सूर्य सायकाल मे अग्नि मे प्रविष्ट हो जाता है और अग्नि आदित्य मे। इस श्लोक मे दृष्टान्तालङ्कार है। "दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम्।"

भद्रपीठे—धार्मिक कृत्यो के लिये सोने, चाँदी, ताँबे या क्षीरी वृक्ष (पीपल, वट आदि) की लकडी का बनाया हुआ सवा या डे' हाथ ऊँचा आसन भद्रपीठ कहलाता है।

मूलपाठ—(नेपथ्ये वैतालिकौ)

प्रथमः—विजयता युवराज

अमर मुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु-
र्बुध इव शिशिराशोर्बोधनस्येव देव।
भवपितुरनुरूपस्त्वं गुणैर्लोककान्तै-
रतिशयिनि समाप्ता वंश एवाशिषस्ते।२१।

द्वितीय—तव पितरि पुरस्तादुन्नताना स्थितेऽस्मिन्
स्थितमति च विभवता त्वय्यनाकम्प्य-धैर्ये।
अधिकतरमिदानी राजते राज्यलक्ष्मी-
र्हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा।२२।

अप्सरसः—(उर्वशीमुपेत्य) दिट्ठिआ पुत्तस्स जुवराअ-सिरीए भत्तुणो अविरहेण वड्ढसि। [दिष्ट्या पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण वर्धसे]

उर्वशी—ण साहारणो एसो अब्भुदओ। (कुमार हस्ते गृहीत्वा) एहि वच्छ जेठ्ठ मादर अभिवन्देहि। [ननु साधारण एषोऽभ्युदय। (कुमार हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व]

राजा—तिष्ठ। सममेव तत्रभवत्या समीप यास्यामस्तावत्।

(कुमार प्रतिष्ठते)

नारद—आयुषो यौवराज्यश्री स्मारयत्यात्मजम्यते।
अभिषिक्त महासेन सैनापत्ये मरुत्वता ॥२३॥

व्याख्या—(नेपथ्ये वैतालिका कालबोधकौ स्तुतिपाठकौ)

प्रथम—युवराजो विजयताम्। 'विजराभ्या जे" (१–३–१९) इति विपूर्वकोजिधातुरात्मनेपदे प्रयुक्त।

अमरेत्यादि—स्रष्टुब्रह्मण अमामुनिर्देवर्षिरत्रिरिव, अत्र इन्दुरिव, शिशिरा शीतला अशव किरणा तस्य स तस्य शिशिरांशोरिदाबुधइव, बोधनस्य बुधस्य देव पुरुरवा इव त्व लोककान्तै जनप्रियै गुणै पितुजनकस्य अनुरूप पितुगुणानुवर्ती भव। ते अतिशयिनि सर्वाधिकोत्कर्षशालिनि वश सर्वआशिष एव समाप्ता। तव पितरि सवगुण-समृद्धिप वनमानामु नाधिक तराभ्याऽस्वकाशो य अशीर्भि पूर्येत। स म्प्रत सवश्रियोधि गमात्रिरवकाश। आशिष पौनरुक्त्यमेव भजन्ते। तत त्वमपि पूर्वजवत् पितु सदृशाभवेत्येवाशी पर्याप्ता। अयमेव भावा रघुवशेऽपि लभ्यते— आशास्यमन्यत् पुनरुक्त भूत श्रयासि सर्वाण्यपिजग्मुषस्ते-पुत्र लभस्वात्मगुणानुरूप भव"मीडय भवत पितेव' इति। मालोपमालङ्कार। मालिनावृत्तम् ॥२१॥

द्वितीय—उन्नतानाम् उच्चै शिरसा महता पुरुषाणा पुरस्तादग्र स्थिते विद्यमानेऽस्मिन तव पितरि, न आकम्पयितु शक्य धैर्यं यस्य तस्मिन अविचल स्थैर्यं स्थितिमति मर्यादापालके त्वयिविभक्ता राजलक्ष्मी हिमवति हिमालये जलानि धीयन्ते यत्र सजलधिस्तस्मिन च व्यस्त विभक्त ताय जल यस्या सा व्यस्त तोया विभक्त जलप्रवाहा गङ्गा इव इदानीमधिकतर राजते शोभत। यथा गङ्गा हिमवतो नि सृता समुद्र च गच्छन्ती अधिक शोभते तथैव राज्यलक्ष्मा तव पितरि त्वयि च स्थिता शोभते तराम्। अत्र उन्नताना पुरस्तादिति पद

नारद—(कुमार के सिर पर कलश (जल) डाल कर) रम्भे ! शेष विधि पूरी करो।

रम्भा—(नारद के कथनानुसार विधि पूरी करके) बेटा भगवान् (नारद) और माता पिता को प्रणाम करो।

(कुमार क्रमानुसार प्रणाम करता है)

नारद—आपका कल्याण हो।

राजा—कुल के धुरन्धर बनो।

उर्वशी—पिता के आराधक बनो।

टिप्पणी—सूर्या. समेधयति—ऐसी श्रुति है कि अस्त को जाता हुआ सूर्य सायकाल मे अग्नि मे प्रविष्ट हो जाता है और अग्नि आदित्य मे। इस श्लोक मे दृष्टान्तालङ्कार है। "दृष्टान्त पुनरेतेषा सर्वेषा प्रतिबिम्बनम्।"

भद्रपीठे—धार्मिक कृत्यो के लिये सोने, चांदी, तांबे या क्षीरी वृक्ष (पीपल, वट आदि) की लकडी का बनाया हुआ सवा या डे' हाथ ऊँचा आसन भद्रपीठ कहलाता है।

मूलपाठ—(नेपथ्ये वैतालिकौ)

प्रथम.—विजयता युवराज

अमर मुनिरिवात्रिर्ब्रह्मणोऽत्रेरिवेन्दु-
बुंध इव शिशिराशोर्बोधनस्येव देव ।
भवपितुरनुरूपस्त्व गुणैर्लोककान्तै-
रतिशयिनि समाप्ता वश एवाशिषस्ते ।२१।

द्वितीय—तव पितरि पुरस्तादुन्नताना स्थितेऽस्मिन्
स्थितमति च विभक्ता त्वय्यनाकम्प्य धैर्ये ।
अधिकतरमिदानी राजते राज्यलक्ष्मी-
र्हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गङ्गा ।२२।

अप्परस.—(उर्वशीमुपेत्य) दिट्ठिआ पुत्तस्स जुवराअसिरीए भत्तुणो अविरहेण वद्ढसि। [दिष्ट्या पुत्रस्य युवराजश्रिया भर्तुरविरहेण वर्धसे]

उर्वशी—णं साहारणो एसो अब्भुदओ। (कुमार हस्ते गृहीत्वा) एहि वच्छ जेठ्ठ मादर अभिवन्देहि। [ननु साधारण एषोऽभ्युदयः। (कुमारं हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व]

राजा—तिष्ठ। सममेव तत्रभवत्या समीपं यास्यामस्तावत्।

(कुमारः प्रतिष्ठते)

नारद—आयुषो यौवराज्यश्रीः स्मारयत्यात्मजम्यते।
अभिषिक्तं महासेनं सैनापत्ये मरुत्वता ॥२३॥

व्याख्या—(नेपथ्ये वैतालिकौ कालबोधकौ स्तुतिपाठकौ)

प्रथमः—युवराजो विजयताम्! 'विजराभ्या जे" (१-३-१९) इति विपूर्वकोजिधातुरात्मनेपदे प्रयुक्त ।

अमरेत्यादि—स्रष्टुर्ब्रह्मण अमामुनिर्देवर्षिरत्रिरिव, अत्रे इन्दुरिव, शिशिरा शीतला अशवः किरणा तस्य स तस्य शिशिराशारिन्दोर्बुधइव, बोधनस्य बुधस्य देव पुरुरवा इव त्व लोककान्तं जनप्रियं गुणं पितुर्जनकस्य अनुरूप पितुर्गुणानुवर्ती भव। ते अतिशयिनि सर्वाधिकोत्कर्षशालिनि वशे सर्वाआशिष एव समाप्ता। तव पितरि सर्वगुण-समृद्धिपु वर्तमानासु नाधिक-तराभ्योऽवकाशो य अशीर्भि पूर्येत। साम्प्रत सर्वश्रियोधि गमानिरवकाशा आशिष पौनरुक्त्यमेव भजन्ते। तेन त्वमपि पूर्वजवत् पितुः सदृशोभवेत्येवाशीः पर्याप्ता। अयमेव भावो रघुवंशेऽपि लभ्यते—' आशास्यमन्यत् पुनरुक्त भूत श्रेयासि सर्वाण्य-धिजग्मुषस्ते-पुत्र लभस्वात्मगुणानुरूप भवन्तमीड्य भवत पितेव" इति। मालोपमालङ्कार। मालिनीवृत्तम् ॥२१॥

द्वितीय—उन्नतानाम् उच्चैः शिरसा महता पुरुषाणा पुरुस्तादग्रे स्थिते विद्यमानेऽस्मिन् तव पितरि, न आकम्पयितु शक्य धैर्यं यस्य तस्मिन् अविचल-स्थैर्ये स्थितिमति मर्यादापालके त्वयिविभक्ता राजलक्ष्मी हिमवति हिमालये जलानि धीयन्ते यत्र सजलधिस्तस्मिन् च व्यस्त विभक्त तोय जल यस्याः सा व्यस्त तोया विभक्त जलप्रवाहा गङ्गा इव इदानीमधिकतर राजते शोभते। यथा गङ्गा हिमवतो निःसृता समुद्र च गच्छन्ती अधिक शोभते तथैव राज्यलक्ष्मीः तव पितरि त्वयि च स्थिता शोभते तराम्। अत्र उन्नताना पुरस्तादिति पद

राजपक्षे हिमवति च तथैव स्थितमतीतिराद कुमारपक्षे समुद्रे चान्वित भवति श्लेषण । मालिनीवृत्तम् ।२२।

अप्सरस —(उर्वशीमुपेत्य) दिष्ट्या सौभाग्येन पुत्रस्य युवराजश्रिया यौवराज्य समृद्ध्या भर्तृ पत्युश्च अविरहेण वर्धसे ।

उर्वशी—ननु साधारण समान एवास्माकम् एष अभ्युदय उन्नति । यथाऽस्य मम तथा भवतीनामपि । (कुमार हस्ते गृहीत्वा) एहि वत्स ज्येष्ठ मातरमभिवन्दस्व प्रणम काशीराजपुत्रीम् । (कुमार प्रतिष्ठते अभिवन्दितु प्रचलति)

राजा—तिष्ठ सममेव तत्रभवत्याः समीप यास्याम गमिष्यामस्तावत । सर्वे वय सहैव गमिष्याम ।

नारद —ते आत्मन जातइत्यात्मजस्तस्य पुत्रस्य आयुषः यौवराज्यश्री युवराजलक्ष्मी मरुत्वता इन्द्रेण सेनापते कर्म इति सैनापत्य तस्मिन् सेनाध्यक्षकार्ये अभिषिक्त विनियुक्त महती सेना यस्यासौ महासेन कार्तिकेयस्त स्मारयति स्मृतिभवतारयति । तव पुत्रस्य यौवराज्ये प्रतिष्ठा कार्तिकेयस्य देवसेनापतिपदेऽधिष्ठानस्य स्मारिका । 'कार्तिकेयो महासेन शरजन्मा षडानन' इत्यमर । अनुष्टुब्वृत्तम् । २३। अत्रभाषण नाम निर्वहण सन्ध्यङ्गमुक्त भवति ।

अनुवाद—(नेपथ्य मे दो वैतालिक गाते हैं)

प्रथम—जिस प्रकार ब्रह्मा के देवमुनि अत्रि हुये, अत्रि के इन्दु हुये, इन्दु के बुध हुये और बुध के महाराज पुरुरवा । इसी प्रकार तुम लोक को प्रिय लगने वाले गुणो से अपने पिता के अनुरूप बनो । तुम्हारा वश हर तरह सर्वोत्कृष्ट है । उसमे सारे आशीर्वाद समाप्त हो जाते हैं । अर्थात् और आशीर्वाद देने के लिये अवकाश ही नही है ।२१।

द्वितीय—इस समय उन्नत लोगो मे भी प्रथम स्थान पर तुम्हारे पिता और अविचल धैर्यशाली तुम, इन दोनो दृढ लोगो के बीच बँटी हुयी राजलक्ष्मी इस प्रकार पहले से अधिक शोभित हो रही है । हिमालय और समुद्र दोनो म जल के विभक्त हो जाने पर गगा अधिकतर शोभित हैं ।२२।

अप्सरायें—(उर्वशी के पास आकर) सौभाग्य से तुम पुत्र की युवराजश्री और पति के सयोग से समृद्ध हो ।

उर्वशी—यह अभ्युदय जैसे मेरा है वैसे ही तुम्हारा भी। (कुमार का हाथ पकड़ कर) आओ बेटा, बड़ी माँ को प्रणाम करो। (कुमार चल देता है)

राजा—ठहरो, सब लोग एक साथ ही उनके पास चलेंगे।

नारद—तुम्हारे पुत्र आयुष की यह यौवराज्यश्री मुझे इन्द्र द्वारा सेनापति के पद पर अभिषेक किये हुये कार्तिकेय का स्मरण दिला रही है।२३।

टिप्पणी—वैतालिक—राजभवन में राजा को समय की सूचना देने के लिये नियुक्त स्तुतिपाठक।

अतिशयिनि…ते—तुम्हारा वंश सबसे अधिक उत्कर्षशाली है। उसमें किसी ऐसी वस्तु की कमी नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए आशीर्वाद दिया जाय। इसलिये तुम्हें आशीर्वाद देने में यही कहा जा सकता है कि तुम पिता के अनुरूप बनो क्योंकि किसी भी बात में उनसे आगे बढ़ने के लिये अवकाश ही नहीं है। इस श्लोक में मालोपमा अलङ्कार है।

हिमवति जलधौ च—इस श्लोक में 'उन्नतानां पुरस्तात् स्थिते' यह पद श्लेष द्वारा 'पितरि' और 'हिमवति' दोनों से अन्वित होता है और उसी प्रकार 'स्थितमति' और 'अनाकम्प्यधैर्ये' ये पद 'त्वयि' और 'जलधौ' इन दोनों से श्लेष द्वारा अन्वित होते हैं।

अनाकम्प्यधैर्ये—न आकम्पयितुं योग्यमिति अनाकम्प्यं धैर्यं यस्य सः, तस्मिन्।

मूलपाठ—राजा—अनुगृहीतोऽस्मि मरुत्वता।

नारदः—किं ते भूयः पाकशासनः प्रियं करोतु।

राजा—किमतः परमिच्छामि। तथापि यदि मे मघवा प्रसन्नस्तर्हीदमस्तु।

(भरतवाक्यम्)

परस्पर-विरोधिन्योरेक संश्रय-दुर्लभम्।
संगतं श्री-सरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदासताम्।२४।

अपि च—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्व. कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु।२५।

(इति निष्क्रान्तः सर्वे)

पचमोऽङ्कः समाप्तः

समाप्तमिद विक्रमोर्वशीय नाटकम्

व्याख्या—राजा—अनुगृहीतोऽनुकम्पितोऽस्मि मरुत्वताइन्द्रेण।

नारद—कि ते भूयपुनरपि पाकशासन इन्द्र प्रिय करोतु इष्ट सम्पादयतु।

राजा—किमत पुत्रस्य राज्याभिषेकात का तया अवियोगात् च परमधिकमिच्छामि। तथापि यदि मे मघवा इन्द्र प्रसन्नस्तर्हि इदमस्तु। (भरतवाक्य नटवाक्यम्) परस्परेति—परस्पर विरोधिन्यो निसर्ग वैरयो श्रीसरस्वत्यो लक्ष्मीवाग्देवतयो एकस्मिन् सथ्यो निवारस्तेन स्पर्ण दुर्लभ दुष्प्राप्य सगत सहवास सता सज्जनाना भूतये अभ्युदयाय भवतु। यत्र श्री वसति तत्र सरस्वती न तिष्ठति, यत्र च सरस्वत्या निवासस्तत्र श्रियो वासो न। उभयारेकाश्रये स्थितिदुर्लभा। अत सा एकत्रस्थिति सता भवता वृद्ध्यै ऽस्तु। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अपिच—सर्व इति—सर्व जन दुर्गाणि दु खानि तरतु तेषा पार गच्छतु सर्वो भद्राणि शुभाविपश्यतु। सर्व कामान् इष्टानि वस्तूनि अवाप्नोतु लभताम्। सर्व जन सर्वत्र त्रिलोक्या नन्दतु मोदताम्। अनुष्टुब्वृत्तम्।२५।

(इति निष्क्रान्तारङ्गाद् बहिर्गताः सर्वे)

पञ्चमोऽङ्कः समाप्त

समाप्तमिद विक्रमोर्वशीय नाटकम्

अनुवाद—राजा—इन्द्र ने अनुग्रह किया है।

नारद—इन्द्र और अधिक तुम्हारी प्रिय बात क्या करें?

राजा—इससे अधिक और क्या चाहूँ? तो भी यदि इन्द्र मुझ पर प्रसन्न हैं तो यह है—

(भरतवाक्य)

परस्पर विरोध रखने वाली लक्ष्मी और सरस्वती का एक स्थान पर कठिनता से मिलने वाला मिलाप सदा सज्जनों के लिए समृद्धि-दायक हो।

और भी—सब लोग कठिनाइयों को पार करें, सब लोग कल्याण प्राप्त करें। सब लोगों को यथाभिलषित वस्तुओं की प्राप्ति हो। सर्वत्र सब लोग प्रसन्न हों।

(सब लोग जाते हैं)

पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ।

टिप्पणी—अनुगृहीत —अनु+ग्रह्+क्त। क्त प्रत्यय होने पर 'ग्रह्' धातु के ट् को ऋ हो जाती है।

पाकशासन —पाकं शास्तीति। पाक नामक असुर को वश में करने वाला इन्द्र।

एकसंश्रय-दुर्लभम्—एकश्चासौ संश्रयः इति एकसंश्रयः। तत्र दुःखेन लब्धुं शक्यमिति एकसंश्रयदुर्लभम्। परस्पर विरुध्यतः इति परस्पर विरोधिन्यौ तयोः।

विक्रमोर्वशीय नाटक समाप्त हुआ।
